दिनकर

संपादिका

सावित्री सिन्हा

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

रीडर, हिन्दी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

राधाकृष्ण प्रकाशन

प्रथम संस्करण

मूल्य
६ रुपये ५० पैसे
पक्की जिल्द ८ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
ओंप्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
प्रिंट्समैन,
डोरीवालान, रोहतक रोड, नई दिल्ली-५

दिनकर : [illegible] और व्याख्या [illegible]

प्रकाशकीय

'राधाकृष्ण मूल्यांकन-माला' में प्रस्तुत ये निबन्ध-संग्रह एक विशेष दृष्टि से तैयार किये गए हैं। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन कवियों, साहित्यकारों तथा विशिष्ट कृतियों से सम्बन्धित बहुत-सी ऐसी अमूल्य सामग्री है जो अलग-अलग आलोचना-पुस्तकों, पत्रिकाओं तथा शोध-ग्रन्थों में बिखरी हुई है, और जिसे पाने के लिए किसी भी अच्छे विद्यार्थी या पाठक को कई-कई बार पुस्तकालयों में जाकर उसे खोजना पड़ता है। इस माला के अधिकारी सम्पादकों ने उस उच्चकोटि की गम्भीर और गवेषणापूर्ण उपयोगी सामग्री को चुनकर यहाँ एक-एक जिल्द में प्रस्तुत कर दिया है। हमें आशा है कि इस सामग्री का एक जगह सुलभ होना इन कृतियों एवं कृतिकारों के अध्ययन में विशेष सहायक होगा।

यहाँ हम उन सब लेखकों और प्रकाशकों के प्रति आभार प्रकट करना भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिन्होंने विभिन्न पुस्तकों तथा पत्रिकाओं से अपने निबन्धों के यहाँ लिए जाने की अनुमति देकर हमारे इस प्रयास को सफल बनाने में योग दिया है।

क्रम

दिनकर : जीवनी और व्यक्तित्व

मन्मथनाथ गुप्त

गोरा-चिट्टा रंग, लम्बाई पांच फुट ग्यारह इंच, भारी-भरकम शरीर (जो अब हलका और दुर्बल हो चला है), बड़ी-बड़ी आंखें (जो रचना के दिनों में चिन्तनक्लिष्ट लगती हैं, पर बात करते समय या कविता-पाठ करते समय प्रदीप्त हो उठती हैं), ललकार-भरी बुलन्द आवाज़, तेज़ चाल और क्षिप्र बुद्धि—ये हैं वे बहिरंग विशेषताएं जिनसे दिनकर का व्यक्तित्व बना है। वे किसी भी परिस्थिति पर तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं। उनकी कविता उन्हीं प्रतिक्रियाओं का कलात्मक प्रतिफलन-भर है। उनकी कविता में उनका इन्द्रधनुषवर्ण व्यक्तित्व प्रबल रूप से सामने आता है। उनके व्यक्तित्व से प्रभुत्व की आभा छिटकती है, स्वाभिमान और आत्मविश्वास की प्रबलता भी व्यंजित होती है। आर्किमिडीज ने जो यह चुनौती दी थी कि मुझे खड़े होने की कोई जगह दो, तो मैं एक डण्डे से पृथ्वी को उसकी धुरी से च्युत कर सकता हूं, उनका काव्य पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि दिनकर को वह जगह मिल गई है। वह जगह है उनका आत्मविश्वास, वह जगह है उनका स्वाभिमान और सबसे बढ़कर वह जगह है उनका यह भाव कि मेरी सारी सिद्धि मेरे अपने अध्यवसाय के वश में है। यही वह स्वर है जिसके कारण वे युवकों और युवतियों को प्रिय हैं। उनकी हर अंगभंगी यह ललकारकर कहती है, 'दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति' जिसका मार्क्सवादी अनुवाद है, मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।

दिनकरजी को आवेश में आते देर नहीं लगती।

सन् १९३३ ई० में जब उन्होंने 'ताण्डव' कविता लिखी, यह कविता उन्होंने खास तौर से, वैद्यनाथधाम (देवघर) जाकर, शंकर महादेव को सुनाई थी। परन्तु १९४९ में जब वे बाल-बच्चों को लेकर उस मन्दिर में पहुँचे, तो देखा कि वहां मिथिला की बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियां जल चढ़ाने की प्रतीक्षा में खड़ी जाड़े से थर-थर कांप रही थीं और पण्डा उन्हें जल चढ़ाने से रोके हुए था। पण्डा अपने किसी सेठ यजमान की पूजा करवा रहा था और कहता था, जब तक मेरा यजमान पूजा समाप्त नहीं कर लेता, मैं किसी को भी जल चढ़ाने नहीं दूँगा।

फौरन दिनकरजी से उसकी कहा-सुनी हो गई। फिर भी जब वह किसी भी तरह राजी नहीं हुआ, तो दिनकरजी बोले—हे महादेव ! लोग मुझे क्रान्तिकारी कवि कहते

हैं और आप अमुक पण्डा के गुलाम हो गए। इसलिए, अगर मैं जल चढ़ाऊं तो इसमें मेरे प्रशंसकों का अपमान है।

इतना कहकर गंगाजल-भरी सुराही उन्होंने शंकर के माथे पर दे मारी और क्रोध में मन्दिर से बाहर निकलकर वे मार-पीट की तैयारी करने लगे।

फिर भी विनय उनका स्वभावसिद्ध गुण है।

राष्ट्रपति ने उन्हें जब 'पद्मभूषण' से अलंकृत किया, दिल्ली में उनके सम्मान में एक पार्टी का आयोजन किया गया। उस आयोजन में बोलते हुए राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने एक बात यह भी कही—दिनकरजी को लोग कभी-कभी अभिमानी समझ लेते हैं, किन्तु अभिमानी वे हैं नहीं।

दिनकरजी जब उत्तर देने को खड़े हुए, उन्होंने कहा—आप सबके चरणों की धूल मिल जाए तो उसे अपने मस्तक पर लगाकर मैं अपने अभिमान को दूर कर दूं।

दिनकरजी को अपनी महिमा का ध्यान तब होता है जब कोई उन्हें उसकी याद दिला दे।

सन् १९३७ में जब पहले-पहल कांग्रेस ने सरकार बनाई, बिहार के नेताओं ने चाहा कि दिनकरजी हिन्दी में एम० ए० कर लें तो उन्हें सब-रजिस्ट्रारी से मुक्त करके किसी कॉलेज में डाल दिया जाए। दिनकरजी ने यूनिवर्सिटी की फीस जमा कर दी, किताबें भी खरीद लीं और वे मनोयोगपूर्वक परीक्षा की तैयारी में लग गए। यह बात जब श्री जयप्रकाश नारायण (अब सर्वोदयी नेता) को मालूम हुई, तो उन्होंने दिनकरजी को बुलाकर कहा—लड़कों की तरह परीक्षा में बैठने जा रहे हैं? आप अपनी इज़्ज़त नहीं कर सकते तो उनकी तो कीजिए जो आपको कवि मानते हैं।

दिनकरजी ने उसी दिन से परीक्षा की तैयारी छोड़ दी और एम० ए० करने की बात उनके मन में फिर कभी नहीं उठी। पीछे, १९५० में जब बिहार सरकार ने उन्हें प्रोफेसर नियुक्त किया, जयप्रकाशजी ने उन्हें एक पुस्तक भेंट की और कहा—देखा न, मैंने जो आपको एम० ए० करने से रोक दिया था, उससे आपकी कोई नुकसानी नहीं हुई।

दिनकरजी में जुआरी की हिम्मत है।

संसद् की सदस्यता के लिए उन्होंने प्रोफेसरी पर लात मार दी। प्रथम श्रेणी की प्रोफेसरी बड़ी ही नायाब चीज़ होती है। उससे रुपये भी मिलते हैं तथा इज़्ज़त और आराम भी। सारी ज़िन्दगी दिनकरजी छोटी-छोटी नौकरियों में सड़ते आए थे। बस, यही नौकरी थी जो सब तरह से उनके अनुकूल पड़ती थी। लेकिन उसे छोड़कर वे संसद्-सदस्य हो गए। और यह उस समय जब उनके सिर पर परिवार का पहले से भी कहीं अधिक बोझ था।

लेकिन दिनकरजी जुए के खतरों से डरते भी हैं।

संसद्-सदस्य होकर जब उन्होंने यह देखा कि परिवार को आर्थिक कठिनाइयाँ होने लगी हैं, उन्होंने अपनी पुस्तकें प्रकाशकों से ले लीं और अपने लड़के रामसेवक सिंह को (जो हिन्दी के प्राध्यापक थे) नौकरी से निकालकर प्रकाशन में लगा दिया।

'उदयाचल' उनकी अपनी प्रकाशन-संस्था है और अब सारा दिनकर-साहित्य वहीं से उपलब्ध है।

दिनकरजी में क्रोध और भावुकता, दोनों का मिश्रण है।

जब वे सब-रजिस्ट्रार थे, एक बार उन्होंने अफसरी की शान में आकर एक गरीब आदमी पर छड़ी चला दी। लेकिन अपने इस दुष्कृत्य पर वे रात-भर रोते रहे। जब भोर हुई, उन्होंने उस गरीब को बुलाकर उससे माफी माँगी, उसे रुपये दिये और जब तक वे उस गांव में रहे, बराबर उसकी सहायता करते रहे।

एक बार मद्रास में, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में दिनकरजी का भाषण हो रहा था। जब भाषण समाप्त हुआ, छात्र उनसे कुछ सवाल करने लगे। एक छात्रा ने पूछा—दिनकरजी ! क्या आप जीवन में भी उतने ही क्रोधी हैं जितने काव्य में दिखाई देते हैं ?

दिनकरजी ने जरा रुककर जवाब दिया—हाँ, लेकिन अब क्रोध नहीं करूँगा, क्योंकि अकसर क्रोध करने के बाद मुझे रोना आ जाता है।

लेकिन क्रोध उनका गया नहीं है और गुस्से में आकर वे अब भी रो पड़ते हैं।

दिनकरजी पक्के शहरी लगते हैं—विदग्ध और शालीन अर्थ में, और हैं भी।

उनका पहनावा-ओढ़ावा और रहने का ढंग स्वच्छ है। वे देश के बड़े लोगों की गोष्ठियों में ठीक प्रथम कोटि के नागरिक का-सा व्यवहार करते हैं। नारियों की गोष्ठी में उन्हें झेंप नहीं आती। सच तो यह है कि नारियाँ उनसे प्रसन्न रहती हैं क्योंकि वे कविता पढ़ते हैं, चुटकुले सुनाते हैं और जिस समाज में बैठते हैं उसका समयानुकूल बौद्धिक मनोरंजन करते रहते हैं। यदि दूसरा कोई व्यक्ति बोलने की धुन में हो, तो दिनकरजी देर तक उसकी बात सुन सकते हैं। दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन से उनकी गहरी दिलचस्पी है। नाटक, रामलीला, नृत्य, बैले और संगीत-समारोहों में उनका दूर से दिखाई देनेवाला सुपरिचित भव्य चेहरा अकसर देखा जा सकता है। कई बार उनकी बुलन्द आवाज़ के कारण मालूम हो जाता है कि इस गोष्ठी में वे हैं। प्रायः प्रतिवर्ष वे फ़िल्मों की राष्ट्रीय पुरस्कार समिति के सदस्य होते हैं। वैसे वे संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी और आकाशवाणी की राष्ट्रीय सलाहकार समिति के भी कर्मठ सदस्य हैं। संस्कृति के क्षेत्र में दिनकरजी के सुसंस्कृत विचार और उनकी शिष्ट रुचि का आदर होता है।

लेकिन उनमें अक्खड़ देहाती के संस्कार भी प्रबल हैं।

शादी-ब्याह और यज्ञ-प्रयोजन में वे देहाती परम्परा के कायल हैं और इन कामों में क्रान्तिकारी कदम उठाना उनके लिए बिलकुल दुश्वार है। परिवार और गृहस्थी के लिए उनमें अत्यन्त मोह है, जिसे हम ग्रामीण किसान का ही गुण कह सकते हैं। देहाती संस्कार उनमें कुछ और भी हैं। उनका विश्वास केवल तीर्थ-व्रत और पूजा-पाठ में ही नहीं, बल्कि भूत-प्रेत, ओझा-गुणी और साधु-सन्त में भी है। जवानी के दिनों में उन्होंने बहुत-से साधुओं का कम्बल ढोया था और ऐसे कई व्यक्तियों की संगति की थी जो योगी और चमत्कारी समझे जाते थे।

निपट किसानों के समान ही वे खैनी भी बड़े शौक से खाते हैं। बचपन में उन्होंने

...-भैंस भी चराई थीं और पशु-पालन में आज भी उनका अनुराग है।

दिनकरजी परिहास-रसिक भी हैं और हाजिर-जवाब भी।

जब वे वारसा (पोलैंड) गए थे, वहाँ एक कवि-सम्मेलन वारसा विश्वविद्यालय में भी हुआ था। इस सम्मेलन में इंग्लैंड के कवि श्री लारी ली (Laurie Lee) ने एक कविता पढ़ी जिसका शीर्षक 'बाम्बे-अराइवल' था और जिसमें अँग्रेजों के पहले-पहल भारत आने का उल्लेख था। श्री ली ने दिनकरजी की ओर हास्यमिश्रित संकेत से देखा ही था कि दिनकरजी बोल उठे—मिस्टर ली, अब दूसरी कविता आप 'बाम्बे-डिपार्चर' पर लिखिए, क्योंकि अंग्रेज़ भारत से जा चुके हैं।

कभी-कभी लोग उन्हें अहंकारी भी समझ लेते हैं, किन्तु उनके सभी मित्र जानते हैं कि उनका स्वाभिमान अहंकार की सीमा से काफी दूर है। रुई भी दबते-दबते एक ऐसी जगह पहुँच जाती है जहाँ वह और दबाई नहीं जा सकती। दिनकर अब उसी दौर से गुज़र रहे हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने शायद सच ही लिखा है कि संघर्षों ने दिनकर को कठोर बना दिया है।

वर्माजी की यह उक्ति भी बड़ी ही सटीक है कि दिनकर के सबल व्यक्तित्व के कारण उनका रसक्षेत्र सुस्पष्ट हो जाता है। जैसे पंतजी को देखते ही कोमलता और संयम का प्रभाव उत्पन्न होता है, वैसे ही निराला और दिनकर के दर्शन मात्र से पौरुष और प्रभुत्व की याद आती है।

स्वभाव से दिनकर ईमानदार हैं। पहली नज़र में वे किसी को भी अविश्वसनीय नहीं मानते, किन्तु धोखा खाने पर वे अपनी पीड़ा छिपाते भी नहीं हैं। उनमें वह नकली विनम्रता नहीं है जो सबको खुश रखकर चलने वालों में होती है, न उनमें व्यवहार-कुशलता इस हद तक पहुँच पायी है कि हृदय को रोक रखने की शक्ति पैदा हो गई हो, जो एक प्रौढ़, अनुभवी व्यक्ति में बहुत अस्वाभाविक न होती। उनके स्वभाव की जो झाँकी श्री भगवतीचरण वर्मा ने अंकित की है, उसे मैं बहुत कुछ सही मानता हूँ। वर्माजी ने लिखा है—कलाकार की हैसियत से दिनकर को मैं सबसे अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता हूँ। दिनकर अपनी भावनाओं की सीमा छोड़ने को कहीं भी तैयार नहीं, कहीं भी आरोपित विश्वासों एवं मान्यताओं का सहारा दिनकर ने नहीं लिया। दिनकर को संघर्षों से मोह है जैसे। और किसी भी स्थल पर दिनकर संघर्षों के ऊपर नहीं उठ पाते।

हिन्दी-कविता के छायावादोत्तर युग की सबसे बड़ी घटना दिनकर और बच्चन का आविर्भाव थी। जब खड़ीबोली अन्ततोगत्वा कविता की भाषा बन गई, हिन्दी-कविता से वह कोमलता छूट गई जो तीन सौ वर्षों की साधना से उसे सुलभ हुई। यह स्वाभाविक था, इसलिए इस पर आँसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। खड़ीबोली को पहले युग की हिन्दी-कविता (तब गद्य-साहित्य था ही नहीं) के मुकाबले में बिलकुल दूसरा ही भाग अदा करना था। पर हिन्दी के कवि कहाँ तक नये युग की इस माँग के लिए तैयार थे यह सन्दिग्ध है। छायावाद-युग के कवि प्राचीन हिन्दी-कविता के उक्त खोए हुए गुण को फिर से प्राप्त करने में समर्थ हुए। पर किन मूल्यों पर? छायावाद बहुत बारीक कातने में भटक गया, काव्यरसिक जनता उससे निराश होने लगी। निराशा

के कुछ खास कारण ये थे कि जनता स्वाधीनता-संग्राम में जूझ रही थी, किन्तु छायावादी कवि कल्पना से किलोलें कर रहे थे, जनता तो पूंजीवाद और उसके सबसे विकसित रूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आशा, उत्साह और कर्मठता के लिए प्रेरणा खोज रही थी और छायावादी कवि आँसू ढार-ढारकर रहस्यवाद, विषाद, रोगग्रस्त प्रेम, विरह और निराशा के गीत गा रहे थे। आलोचक छायावादी काव्य से उतने निराश नहीं थे, किन्तु जनता और काव्य के बीच जो सम्बन्ध होना चाहिए, उसका निर्वाह सिर्फ उन कवियों की कविताएँ कर रही थीं जिनका प्रधान स्वर राष्ट्रीय था। 'छायावादी युग में पाठकों के बीच हिन्दी-कविता की बहुत-कुछ प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं ने रखी।'[1] दिनकरजी की यह उक्ति बहुत ही सही है।

दिनकर का उदय उस धारा से हुआ जो भारतेन्दु, मैथिलीशरण, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन से होकर बहती आ रही थी। बच्चन उस धारा से निकले जो पन्त और महादेवी, विशेषतः महादेवी, में दृष्टिगोचर हुई थी। दोनों ही कवि उर्दू-काव्य से प्रभावित थे। बच्चन के गीतों में गज़ल की खूबियों ने झलक मारी और दिनकर में हाली, चकबस्त और इकबाल की तेजस्विता जगमगा उठी। दिनकर की रसग्राहिणी शिराएँ संस्कृत और बंगला से भी संपृक्त थीं, अतएव एक ओर जहाँ उनमें कालिदास और रवीन्द्र का प्रभाव पहुँचा, वहाँ दूसरी ओर काज़ी नज़रुल इस्लाम का आक्रामक और संक्रामक गर्जन और सिंहनाद भी उनकी आवाज़ की त्रिवेणी में आ मिला। नज़रुल, जोश और दिनकर, भारत की क्रान्तिकारी कविता के वृहत्त्रयी के कवि हैं और इन तीनों कवियों का स्वर बहुत-कुछ समान रहा है। तीनों में ढूँढनेवाले को एक ही तरह की कमियाँ मिलेंगी, ऐसी कमियाँ जो युग तथा ये कवि जिस वर्ग से आए, उसे देखते हुए अनिवार्य थीं। जब दिनकर पूर्ण रूप से उदित हुए, नज़रुल की अग्निवीणा मौन हो रही थी। किन्तु जोश जब पहले-पहल दिनकर से मिले, उन्होंने वेसाख़्ता एक रुबाई कही जो 'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ'[2] नामक ग्रंथ में संचित है। वह रुबाई यह है :

हिन्द में लाजवाब हैं दोनों,
शायरे-इन्कलाब हैं दोनों,
देखने में अगर्चे ज़र्रे हैं,
वाकई आफ़ताब हैं दोनों।

दिनकर और बच्चन के आविर्भाव को मैंने महान् घटना कहा है, क्योंकि इन दोनों कवियों के आविर्भूत होते ही काव्यरसिक जनता में कविता के लिए जो उत्साह उमड़ पड़ा, वह पहले कभी नहीं जगा था। इनके साथ-साथ हिन्दी-कविता कुछ काव्यामोदी लोगों की सम्पत्ति-मात्र न रहकर जनता में उतर आयी और जनता अपनी बारी में उसमें उतर गई।

---

१. 'मिट्टी की ओर'—दिनकर।
२. सम्पादक—प्रोफेसर कपिल।

सन् १९३५ ई० में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने पटना जाकर यह घोषणा की कि यदि दिनकरजी अफ्रीका में जनमे होते तो उनसे मिलने को मैं अफ्रीका भी चला जाता। छायावाद के तत्कालीन एक अग्रणी कवि पं० जर्नादनप्रसाद झा द्विज ने अपनी 'चरित्र-रेखा'[१] नामक पुस्तक में लिखा, "ऐसे बहुत-से पाठक हैं जो दिनकर की कविताएँ पढ़कर और कुछ पढ़ना आवश्यक नहीं समझते।" हिमालय, नई दिल्ली, ताण्डव, दिगम्बरी, हाहाकार, विपथगा और अनल-किरीट, ये कविताएं एक समय जनता को बेतरह झकझोर डालती थीं। यही नहीं, बल्कि उन्हें सुनकर बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेता सभाओं में फूट-फूटकर रोने लगते थे।[२] और बूढ़े भी सभाओं में खड़े हो जाते थे।

हिन्दी में राष्ट्रीय कविताएँ उच्च कोटि की होती आयी थीं, यदि यह कहा जाय तो शायद अत्युक्ति समझी जाए, पर परिमाण में वे अन्य भाषाओं की अपेक्षा कम नहीं थीं। किन्तु आज़ादी की लड़ाई में लगे हुए बलिदानी भारत की जो वीरता, जो स्वाभिमान, जो अधीरता और आक्रोश दिनकर में आकर प्रकट हुआ, कला के रूप में उसका विस्फोट पहले उतने ज़ोर से नहीं हुआ था। उदय के साथ ही दिनकर का स्थान हिन्दी के क्रान्तिकारी कवियों में बन गया और काव्यलोभी जनता उनके प्रत्येक स्वर को अपने कंठ में बसाने लगी।

एक जगह उन्होंने लिखा है—सुयश तो मुझे 'हुंकार' से मिला, लेकिन आत्मा मेरी 'रसवंती' में बसती है। यह कथन आंशिक रूप से ही सत्य है, जैसाकि 'उर्वशी' लिखकर शुद्ध कविता के अल्लाह पर ईमान लाने के बाद चीनी आक्रमण के जवाब में उन्होंने 'परशुराम की प्रतिज्ञा' लिखी जिसमें गांधीवाद और शुद्ध कविता दोनों के बुत ढह गए।

'रसवंती' दिनकरजी के शृंगार-काव्य अथवा रस-गीतों का संग्रह है जो 'हुंकार' के तुरन्त बाद १९४० में निकली थी। उस धारा का पूरा विकास उनके नवीन काव्य 'उर्वशी' में हुआ है। इसकी पूरी संभावना है कि 'उर्वशी' दिनकरजी की अब तक की काव्यकृतियों में सर्वोत्तम-सर्वश्रेष्ठ समझी जाए। हिन्दी में शृंगार का यह एक बेजोड़ काव्य है।

'हुंकार' की भूमिका में दिनकर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए बेनीपुरीजी ने एक सूक्ति कही थी, "अंगारे, जिन पर इन्द्रधनुष खेल रहे हैं। रेणुका, हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में दहकते अंगारों का तेज है। इन्द्रधनुषी रंग रसवंती में छिटका था। उर्वशी में वह मध्याह्न सूर्य के उभार पर पहुँच गया है।"

दिनकर का समस्त जीवन संघर्ष का रहा है और इसलिए, संघर्ष दिनकर के जीवन का मुख्य भाग बन गया है। इन संघर्षों में दिनकर को सफलता भी मिली है, इसलिए संघर्ष की कटुता से दिनकर का व्यक्तित्व विशृंखल और लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हुआ,

---

१. प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना।

२. बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दिया हुआ दिनकरजी का अध्यक्षीय भाषण।

दिनकर के अन्दरवाली सात्विकता और कल्याण की भावना को ठेस नहीं पहुँची। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इन संघर्षों ने दिनकर को किसी हद तक कठोर अवश्य बना दिया है।

रामधारीसिंह दिनकर का जन्म १३१६ साल (बंगाल और बिहार में प्रचलित फसली संवत्) के आश्विन मास में नवरात्र के भीतर बुधवार की रात्रि में हुआ था। गणकों के अनुसार यह तिथि १६०८ ई० के ३० सितम्बर को पड़ी थी। उनका जन्म सिमरिया नामक ग्राम में हुआ, जो मुँगेर ज़िले में गंगा के उत्तरी तट पर अवस्थित है। यह वह स्थान है जहाँ से बाजितपुर थोड़ी ही दूर है। कहते हैं, बाजितपुर में विद्यापति ने शरीर छोड़ा था।

दिनकरजी के पिता साधारण, अत्यन्त साधारण स्थिति के किसान थे। उनका स्वर्गवास उस समय हो गया जब दिनकरजी केवल दो साल के थे। दिनकरजी तीन भाइयों में से मंझले हैं। उनका लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध उनकी विधवा माता ने किया। दिनकरजी की प्राथमिक शिक्षा गाँव में ही हुई, मैट्रिक की परीक्षा उन्होंने गाँव के पास मोकामाघाट के हाई स्कूल से १६२८ में पास की और बी० ए० उन्होंने पटना कॉलेज से १६३२ में किया। वे उस समय ग्रेजुएट हुए जब ऑनर्स के साथ पास करनेवाले मेधावी युवक आसानी से अच्छी नौकरियाँ प्राप्त कर लेते थे। उनके भीतर कवित्व छात्र जीवन में ही भली-भाँति प्रस्फुटित हो चुका था, पर उनकी ज़िन्दगी उनके परिवार के नाम गिरवीं हो चुकी थी। निर्धन परिवार ने पेट काटकर उन्हें पढ़ाया था और यह आवश्यक था कि वे पैसे कमाकर उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें। उर दिनों प्रतियोगी परीक्षाएँ तो होती नहीं थीं, डिप्टीगीरी ख़ासकर उन्हें मिलती थी जिनकी मदद बड़े लोग करते हों। लेकिन इन बड़े लोगों ने दिनकरजी की ओर ध्यान नहीं दिया। निदान सन् १६३३ में एक नये हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक का पद कबूल कर लिया और वे यथाशक्ति परिवार की सेवा करने लगे। कोई आश्चर्य नहीं कि जीवन के उषाकाल में ही वे ज़मींदारी प्रथा के विरुद्ध हो गए। ज़मींदारी प्रथा और धनतंत्र के खिलाफ़ उनकी कविताओं में जो कटुता व्यक्त हुई, उसके मूल में बहुत-कुछ वैयक्तिक अनुभव ही है।

१६३४ ई० में उन्होंने बिहार सरकार के अधीन सब-रजिस्ट्रारी स्वीकार की। १६४३ में उनका तबादला युद्ध-प्रचार विभाग में हुआ। १६४७ में वे बिहार सरकार में प्रचार विभाग के उपनिदेशक और १६५० में मुजफ्फरपुर कॉलेज में हिन्दी-विभागाध्यक्ष हुए। यह क्रम १६५२ की मार्च तक चलता रहा। १६५२ की १० मार्च को उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया और वे राज्यसभा के कांग्रेसी सदस्य हो गए। १६६४ में वे राज्यसभा से इस्तीफा देकर भागलपुर विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर बने, उसमें भी मन नहीं लगा। अब उससे भी इस्तीफा दे चुके। अभी-अभी वे भारत सरकार के स्वराष्ट्र-मंत्रालय में हिन्दी-सलाहकार के रूप में नियुक्त हुए हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने लिखा है, "दिनकर हमारे युग के यदि एक मात्र नहीं तो सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं, किन्तु अचरज की बात है कि इस कवि के जीवन के

सर्वोत्तम दिन और उन दिनों के भी सर्वोत्तम भाग ज़रूरतमन्द परिवार के लिए रोटी कमाने में निकल गए। दिनकरजी भी विलाप करते हैं, साहित्य समझने और लिखने का मुझे समय कब मिला ? दिन तो नौकरी में जाता था। हाँ, जिस समय अफसर बैडमिंटन या ताश खेलते थे, उस समय घर में बन्द होकर मैं पंक्तियाँ जोड़ता था। ऐसी अधूरी कविताएँ तो मेरी कॉपी में बहुत हैं जिनकी दो-चार पंक्तियाँ ही लिखी जा सकीं, क्योंकि दफ्तर जाने का समय निकट आ पहुँचा और मैं कविता पूरी नहीं कर सका।

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर कवियों, चिन्तकों और कलाकारों का जो बुरा हाल होता है, जवानी-भर दिनकरजी उसी बुरे हाल में रहे। नौकरी की खटपट, रोटी की चिन्ता, भतीजियों और बेटियों के ब्याह के लिए दर-दर की ठोकरें और हर रोज़ नये अभावों के संघर्ष, यह वह वातावरण नहीं है जिसमें कवि का आन्तरिक व्यक्तित्व खिल सकता हो। फिर भी, दिनकरजी की प्रायः सभी कविताएँ इसी वातावरण में लिखी गई। यदि आरम्भ से ही जनता का प्यार उन्हें न मिला होता, तो इस दमघोंटू वातावरण में उनका कवि जीवित भी रहता या नहीं इसमें काफी सन्देह है। जनता के इसी प्रेम के कारण दिनकर का हृदय उस आग से नहीं जला, जो द्वेष करने वालों की ओर से उन पर सदैव बरसाई जाती रही है। इससे भी अचरज की बात यह है कि हिन्दी का वही कवि अंग्रेज़ी सरकार की मातहती में फँस गया जिसके भीतर से भारत की राष्ट्रीयता अपनी सबसे निर्भीक आवाज़ उठाने वाली थी। अंग्रेज़ों के अधीन रहने पर भी दिनकरजी ने अपनी आवाज़ को नहीं रोका, यह उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की विशेषता थी और जनता जो उन्हें अपना प्यार देती रही, उसका भी यही कारण था कि हमारा एक कवि पेट और परिवार-पालन की विवशता में नौकरी में फँस गया है, फिर भी वह हमारा काम काफ़ी निर्भीकता से कर रहा है।

नौकरी के ये दिन अमन-चैन से नहीं बीते। स्वयं दिनकरजी से खोद-खोदकर पूछने पर जिन बातों का पता लगा वे काफी दिलचस्प हैं। स्कूल की मास्टरी छोड़कर जब दिनकरजी सब-रजिस्ट्रारी में जाने लगे तब उनके परम मित्र रामवृक्ष बेनीपुरी ने उनके इस इरादे का विरोध किया था। पर जब वे नौकरी में चले गए, राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने बनारसीदास चतुर्वेदी से कहा था— दिनकरजी को दो में से एक का त्याग करना पड़ेगा, या तो कविता का, या नौकरी का।

किन्तु दिनकर ने कविता और नौकरी दोनों को रखा। इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों से वे केवल जूझना ही नहीं, समझौता करना भी जानते हैं। यहाँ फिर वर्माजी की एक बात याद आती है। दिनकरजी में समझौते की प्रवृत्ति है और इसी प्रवृत्ति से विविध संघर्ष झेलकर वे इतनी दूर तक आ सके हैं।

१९३५ में दिनकरजी ने बिहार प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के साथ होने वाले कवि-सम्मेलन का सभापतित्व किया था। यह सम्मेलन छपरा में हुआ था और उस सम्मेलन में सरकार के विरुद्ध कई कविताएँ पढ़ी गई थीं। एक कविता श्री ललितकुमार सिंह नटवर ने भी पढ़ी थी, जो ब्रिटिश सरकार द्वारा गोलमेज़ सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित श्वेतपत्र के बारे में थी। सम्मेलन के बाद सरकार ने दिनकर से कैफियत तलब की,

कि (१) उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के पूर्व तुमने सरकार से अनुमति क्यों नहीं माँगी और (२) सभापति की हैसियत से तुमने कवियों को सरकार के विरुद्ध कविताएँ पढ़ने से क्यों नहीं रोका।

दिनकरजी ने जवाब दिया—सांस्कृतिक सभाओं में जाने के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता मैंने नहीं समझी और कवियों को यदि मैं कविताएँ पढ़ने से रोकता, तो जनता उनकी ओर और भी आकृष्ट होती। सरकार ने कदाचित् अन्तिम तर्क का उपयोग दिनकरजी के सम्बन्ध में किया और शायद इसी के फलस्वरूप इनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की।

१९३५ में ही 'रेणुका' जब पहले-पहल निकली, हिन्दी-संसार ने तुरन्त उसे सिर-आँखों पर उठा लिया। 'विशाल भारत' ने संपादकीय लिखा, "रेणुका के प्रकाशन पर हिन्दीवालों को उत्सव मनाना चाहिए।" 'माधुरी' में प्रकाशित एक लेख में, 'रेणुका' की गणना हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ सौ पुस्तकों में की गई और बिहार के हिन्दी और अंग्रेज़ी, दोनों ही भाषाओं के पत्रों ने उसका स्वागत बड़े ही उत्साह से किया।

इससे सरकार के कान खड़े हो गए। फिर क्या था, सेक्रेटेरियट में 'रेणुका' का अंग्रेज़ी अनुवाद तैयार किया गया और दिनकरजी को फिर चेतावनी दी गई। यह चेतावनी मुजफ्फरपुर के ज़िला-मजिस्ट्रेट मिस्टर बौस्टेड के द्वारा दिलवाई गई थी।

बौस्टेड ने पूछा—क्या आप 'रेणुका' के लेखक हैं ?

दिनकरजी ने स्वीकार किया। बौस्टेड बोले—आपने सरकार-विरोधी कविताएँ क्यों लिखीं ? पुस्तक प्रकाशित करने के पूर्व आपने सरकार से अनुमति क्यों नहीं माँगी ?

दिनकरजी ने कहा—मेरा भविष्य साहित्य में है। अनुमति मांगकर किताबें छपवाने से मेरा भविष्य बिगड़ जाएगा। और मेरा कहना यह है कि 'रेणुका' की कविताएँ सरकार-विरोधी नहीं, मात्र देशभक्तिपूर्ण हैं। यदि देशभक्ति अपराध हो, तो मैं वह बात जान लेना चाहूँगा।

बौस्टेड ने कहा—देशभक्ति अपराध नहीं है और अपराध वह कभी नहीं होगी, पर आप सँभलकर चलें।

दिनकरजी के विरुद्ध एक बार फिर कोई कार्रवाई नहीं हुई।

इसके बाद जब 'हुंकार' प्रकाशित हुआ, सरकार के कान फिर खड़े हो गए। इस बार चेतावनी मुंगेर के ज़िला-मजिस्ट्रेट के द्वारा दिलवाई गई। उस समय मुंगेर के ज़िला-मजिस्ट्रेट रायबहादुर विष्णुदेव नारायणसिंह थे, जो अब रांची विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। ब्रिटिश सरकार के अधीन कुछ ऐसे भी भारतीय अफसर थे जो भीतर-ही-भीतर राष्ट्रीयता के पूरे हामी थे। विष्णुदेव नारायणसिंह ने दिनकर से कहा—यह रोज़-रोज का टंटा क्यों किए चलते हैं ? सरकारी अफसरों के लिए यह अच्छा नहीं है कि उनके पीछे खुफिया लगे फिरें। सरकार से अनुमति लेकर किताबें प्रकाशित करवाइए और नौकरी को निरापद रखिए।

दिनकरजी ने कहा—मेरे सिर पर गरीब परिवार का भारी बोझ है। मैं नौकरी

छोड़ने की स्थिति में नहीं हूँ। और अनुमति माँगूँगा तो फिर कविता लिखने से क्या लाभ ? कहिए तो कविता लिखना छोड़ दूँ ?

इस पर ज़िला-मजिस्ट्रेट बोले—अरे, कविता न लिखने से तो देश का ही नुकसान होगा। मुझे जो कुछ कहना था, मैंने कह दिया।

एक इसी प्रकार की मुसीबत १९४० में तब आयी, जब गांधीजी इस दुविधा में पड़े थे कि आन्दोलन छेड़ा जाए या नहीं। उस समय बेनीपुरी और मथुराप्रसाद मिश्र (अब संसद्-सदस्य) 'जनता' नामक साप्ताहिक निकालते थे। उस पत्र का कोई विशेषांक निकलने वाला था। अतएव बेनीपुरीजी ने दिनकरजी को तार दिया कि कोई कविता तुरन्त भेजो। दिनकरजी ने गांधीजी की द्विधा पर एक ज़ोरदार कविता लिखी और उन्हें आन्दोलन छेड़ने को प्रेरित किया[1]। इस बार कविता प्रत्यक्ष रूप से सरकार के विरुद्ध थी, इसलिए लेखक की जगह उसमें दिनकर नहीं, बल्कि अमिताभ नाम दिया गया था। किन्तु मथुरा बाबू के नाम जो पद्यबद्ध पत्र था उससे दिनकरजी का नाम प्रकट हो जाता था :

यह तो दिनकर का कृत्य नहीं,
अमिताभ देव का दुष्ट कर्म।

संकेत यह था कि इसे दिनकर नहीं, अमिताभ के नाम से छापो। लेकिन यह लिफाफा डाकघर से सीधे सरकारी दफ्तर में पहुंच गया और 'जनता'-ऑफ़िस में वह तब भेजा गया जब उसका फोटो लिया जा चुका था।

कविता 'जनता' में अमिताभ नाम से ही छपी, पर कोई महीने-भर बाद दिनकरजी के कानों में यह बात पहुँची कि कविता सेंसर हुई है। यह सूचना उन्हें पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' से मिली थी जो बिहार के प्रसिद्ध कवि हैं और पुलिस विभाग में नौकरी करते हैं। लेकिन जानते हुए भी यह ख़बर बेनीपुरीजी ने दिनकरजी को नहीं भेजी। उल्टे मोतीहारी किसान-सम्मेलन में भेंट होने पर दिनकरजी ने जब यह बात चलाई तब बेनीपुरीजी बोले—अरे, नौकरी छूट गई तो हमारे गिरोह में आ मिलना। हम तो चाहते ही हैं कि तुम्हारी नौकरी छूट जाए।

लेकिन नौकरी तब भी नहीं छूटी। सरकार ने फिर एक चेतावनी भिजवाई। इस बार दिनकरजी के जिला-मजिस्ट्रेट खानबहादुर अमीर थे, जो अब अवकाश लेकर हजारीबाग में रहते हैं। अमीर साहब से बात होने पर दिनकरजी ने कहा—गुमनाम चीज़ की जवाबदेही मुझ पर क्यों डाली जाती है ?

अमीर साहब हँसकर बोले—आपका बचपना नहीं जाएगा। बिना प्रमाण के चेतावनी नहीं दी जाती। जरा संभलकर चला कीजिए।

और बात वहीं खत्म हो गई। अवश्य ही जिला-मजिस्ट्रेट ने दिनकरजी की रक्षा की होगी।

---

१. यह कविता वर्तमान संग्रह में मौजूद है। इसका शीर्षक है—'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल, बोल!'

सरकार ने दिनकरजी को नौकरी से तो नहीं निकाला, लेकिन तकलीफ़ उन्हें काफ़ी दी गई, जिसका एक रूप यह रहा कि चार साल के ग्रन्दर उनके बाईस बार तबादले किए गए। 'कल्पना' में प्रकाशित ग्रपने एक संस्मरण में दिनकरजी ने लिखा है—"घबराहट में ग्राकर कई बार मैंने सोचा कि नौकरी ग्रब छोड़ दूँ। किन्तु तीन बातें थीं, जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका। पहली तो यह कि नौकरी छूट गई तो परिवार खाएगा क्या? दूसरी यह कि हर तबादले के साथ मुझे चार-छः दिनों की छुट्टियाँ मिल जाती थीं जिन्हें मैं जायसवालजी के सान्निध्य में बिताने को पटना चला जाता था। ग्रौर तीसरी यह कि जयप्रकाशजी बराबर यह शह देते रहते थे कि इस्तीफा देने की ग्रपेक्षा बरतरफ हो जाना ही श्रेष्ठ है।

दिनकरजी स्वयं नौकरी छोड़ने को तैयार नहीं थे। यदि वे बरतरफ कर दिये गए होते, तो इससे ग्रंग्रेज़ों की निन्दा तो होती, पर उससे दिनकरजी का ग्रपरिमित उपकार हुग्रा होता जो जयप्रकाशजी ग्रौर बेनीपुरीजी का लक्ष्य था। किन्तु दिनकरजी का सौभाग्य इस सुयश से खाली रह गया ग्रौर युद्ध के दो-तीन साल बीत जाने पर ग्रंग्रेज़ी सरकार ने उनका तबादला युद्ध-प्रचार विभाग में कर दिया।

दिनकरजी के जीवन में यह विरोधाभास क्यों ग्राया, इसकी ठीक व्याख्या नहीं मिलती। गांधीजी की ग्रान्दोलन-सम्बन्धी दुविधा से वे ग्रधीर थे। ग्रान्दोलन छेड़े जाने के पक्ष में उन्होंने विद्रोहात्मक कविता लिखी थी, जिसके कारण सरकार को उन्हें चेतावनी देनी पड़ी थी। सन् बयालीस का ग्रान्दोलन जब दबने लगा तब उन्होंने 'ग्राग की भीख' नामक वह ज्वलन्त कविता छपवाई जिसमें समर-लग्न भारत की विवशता ग्रौर तड़प का बड़ा ही ग्राकुल ग्राख्यान मिलता है :

बेचैन हैं हवाएं, हर ग्रोर बेकली है
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?
मंझधार है, भंवर है, या पास है किनारा?
या नाश ग्रा रहा या सौभाग्य का सितारा?
तमबेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ,
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।
ग्रागे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बलपुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है।
निर्वाक है हिमालय, गंगा डरी हुई है,
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ,
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।
गति में प्रभंजनों का ग्रावेग फिर सबल दे,
इस जांच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, ग्रचल दे।
हम दे चुके लहू हैं, तू देवता, विभा दे,
ग्रपने ग्रनल-विशिख से ग्राकाश जगमगा दे।

उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ,
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(१९४३ ई०)

१९४३ में देश जिस पीड़ा में छटपटा रहा था, इस कविता में उसका पूरा खाका उतर आया है। किन्तु इस दर्द को वही कवि लिख सकता था जिसके तार देश की छाती से लगे हों।

फिर उनकी वह कविता छपी जिसमें उन्होंने सत्याग्रहियों को यह आश्वासन दिया था कि उनकी विजय समीप है। लक्ष्य के पास आकर थककर बैठ जाना वीरों का काम नहीं होता :

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है,
थककर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।
अपनी हड्डी की मशाल से हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
एक खेय है शेष किसी विध पार उसे कर जाओ,
वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है,
थककर बैठ गये क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।

(सामधेनी)

देश जितनी कुर्बानियाँ कर चुका था, उन्हें दिनकरजी ने इस कविता में यथेष्ट माना था और उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि भगवान् भारत की और अधिक परीक्षा नहीं लेंगे। अचरज की बात है कि उनकी यह भविष्यवाणी भी सच ही निकली।

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य-प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया वह फूल खिलाएगी ही,
अम्बर पर घन बन छाएगा ही उच्छ्वास तुम्हारा।
और अधिक ले जांच, देवता इतना क्रूर नहीं है,
थककर बैठ गए क्या भाई, मंजिल दूर नहीं है।

(सामधेनी)

१९४५ में ही उन्होंने 'दिल्ली और मास्को' नामक वह विख्यात कविता लिखी जिसमें मास्को की वन्दना उसी निष्ठा और श्रद्धा के साथ की गई जिससे हिन्दू काशी-धाम और मुसलमान मक्का शरीफ की करते हैं, साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवादियों पर कुछ थोड़ा आक्षेप है कि उन्होंने सन् बयालीस की क्रांति का साथ क्यों नहीं दिया। यह कविता दिनकरजी के उस समय के राजनीतिक विचारों की कुंजी है। वे साम्यवाद की प्रशंसा करते हैं, मास्को को 'लाल भवानी' कहकर पुकारते हैं और देश-देश में घटित होने वाली साम्यवादी क्रान्तियों का स्वागत करते हैं। यह कविता ठीक उसी शैली में है जिसमें 'नई दिल्ली' की रचना की गई थी, बल्कि आरम्भिक पंक्तियों में भाषा और भाव

का संयोग देखते ही वनता है—

जय विधायिके अमर क्रांति की, अरुण देश की रानी।
रक्तकुसुम-धारिणि, जग-तारिणि, जय नव शिवे, भवानी।
अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारों वाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र, मतवाली, जय हो।
जगज्ज्योति, जय-जय, भविष्य की राह दिखाने वाली
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली।
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले।
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले।
छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बंधन की कड़ियां।
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियां।

(सामधेनी)

किन्तु दिल्ली की याद आते ही कवि को भारतीय साम्यवादियों की १९४२ सम्बन्धी नीति से क्लेश का अनुभव होता है। उसके हृदय पर चोट लगती है कि जो लोग मास्को की वीरता के इतने प्रशंसक हैं, वे दिल्ली के सत्याग्रहियों का साथ क्यों नहीं देते ?

एक देश है जहां विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहां मनुज पहले स्वतंत्रता
से हो रहा साम्य का कामी,
चिल्लाते हैं 'विश्व, विश्व' कह जहां चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरू सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहां मास्को के रणधीरों के गुण गाए जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(सामधेनी)

दिनकरजी का मत था कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति किए बिना साम्यवादी समाज की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि गुलामी के नीचे केवल भारत का गौरव ही दबा हुआ नहीं है, उसकी आर्थिक समृद्धि तो उसी पहाड़ के नीचे है :

नगपति के पद में जब तक है बंधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?
दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबी हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभियानी।

(दिल्ली और मास्को, सामधेनी)

सन् १६३६ से लेकर १६४५ तक दिनकरजी ने जो कुछ भी लिखा, उससे उनकी उग्र राष्ट्रीयता में कहीं भी कोई कमी नहीं दिखाई देती। फिर भी, सरकार ने उन्हें जहाँ बिठा दिया था वह राष्ट्र-विरोधी कामों की जगह थी। इससे निस्तार उनका तभी हो सकता था यदि वे नौकरी से इस्तीफा दे देते। पर गरीबी से भीत होकर वे उस जगह पर बने रहे और निन्दा, कुत्सा तथा कलंक की बातें सुनकर भी उन्होंने नौकरी नहीं छोड़ी। परिणामतः उनके व्यक्तित्व में वह सुगन्ध आने से रह गई जो विद्रोह की वाणी से नहीं, बग़ावत में व्यावहारिक भाग लेने से आती है। 'चक्रवाल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"राजनीति में आने से मैं बचना चाहता था और अन्त तक मैं उससे बच भी गया।"

बच तो वे गए, किन्तु इसकी उन्हें कुछ कीमत भी चुकानी पड़ी है जो स्पष्ट है।

युद्ध-प्रचार विभाग ने चाहा कि प्रचार-साहित्य पर दिनकरजी का नाम जाया करे। पर इस मामले में वे बेदाग़ निकल गए और अपना नाम उन्होंने कहीं भी जाने नहीं दिया, न उस बीच उन्होंने ऐसी कोई कविता लिखी जिसकी भावधारा उनकी पहले की राष्ट्रीय कविताओं की भावधारा के विपरीत पड़ती हो। वे एक कलम से साहित्य और दूसरी कलम से फाइलें लिखते आए थे। वे दोनों कलमें यहां भी अलग ही रहीं। तलवार की धार पर यह निरन्तर यात्रा उनके व्यक्तित्व की ख़ास चीज़ है।

फिरंगिया लोकगीत के विख्यात रचयिता और हिन्दी के कवि प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद सिंह ने, जो दिनकरजी के ख़ास मित्रों में से हैं, एक दिन दिनकरजी से कहा—दिनकर, तुम्हारी निन्दा मुझसे सुनी नहीं जाती, और यहाँ रहने में अब कल्याण भी कहाँ रहा। लगता है, जापान इस देश पर भी कब्ज़ा कर लेगा। तब क्या करोगे?

दिनकरजी ने कहा—जापान आया, तो मैं अन्त तक उसका विरोध करूँगा। क्या देश ने आन्दोलन इसलिए छेड़ा है कि वह फिर किसी का गुलाम हो जाए?

पर युद्ध जब समाप्ति के पास आया, उन्होंने उस निन्दित पद से हट जाने के लिए छुट्टियों के बहाने दो-दो बार इस्तीफे दिये, लेकिन इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ। सरकार ने कहा—यदि तुम बीमार हो तो ऑफ़िस मत आओ, घर पर ही रहकर थोड़ा काम करते रहो।

दिनकरजी घर पर ही रहने लगे और इसी क्रम में उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' काव्य पूरा कर लिया।

उन्होंने अपनी तत्कालीन मनोदशा की व्याख्या करते हुए बताया—रूस के आने से युद्ध का रूप बदल गया, इस प्रचार का मुझ पर असर पड़ा था। यदि मैं स्वयं ही युद्ध का समर्थक नहीं हो गया होता, तो अंग्रेज़ मेरा तबादला युद्ध-प्रचार विभाग में नहीं करते। फिर मैं यह भी समझता था कि यही मौक़ा है जब देश गुलामी का खूंटा तोड़कर भाग सकता है। रूस का मैं परम प्रशंसक रहा था, जैसे प्रशंसक मेरे अन्य साथी-संगी भी थे। नौकरी में रहने के क़ारण मैं अपनी माप सरकारी नौकरों को मापने वाले गज से करता था। पर साम्यवादी तो खुली राजनीति में थे। उन्होंने जब आन्दोलन का साथ नहीं दिया, तब इस बात से मुझे चोट लगी। मेरी 'दिल्ली और मास्को' नामक कविता

को समझने की यही कुंजी है।

दिनकरजी की व्यथा फटे हुए व्यक्तित्व वाले मनुष्य की व्यथा थी और जो भी व्यक्ति सरकारी नौकरी में जाता है, वह इस फटे व्यक्तित्व का शिकार होने से कदाचित् ही बच पाता है। दुःख है कि दिनकरजी भी उसके अपवाद नहीं हो सके।

जो भी हो, सरकारी नौकरी की विवशता और गुलामी को झेलते हुए भी दिनकरजी ने राष्ट्रीयता का जो सुगंभीर, निर्भीक एवं रागात्मक उद्घोष किया, वह विशेष द्रष्टव्य है। 'रेणुका', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कविताओं ने हिन्दी प्रान्तों में देशभक्ति की लहरें उठाने में बड़ा भारी योगदान दिया था और चूँकि ये कविताएँ एक ऐसे कवि की लेखनी से आती थीं जो खुद सरकार के चंगुल में था, इसलिए उनकी अपील कुछ और ज़ोरदार थी। भारत के राष्ट्रीय कवियों में दिनकरजी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आचार्य शिवपूजन सहाय का यहाँ तक कहना है कि मैथिल-कोकिल विद्यापति के बाद बिहार में इतना प्रतिभाशाली कवि कोई और नहीं हुआ था। पर दिनकर को हम केवल बिहार का ही क्यों मानें? वे तो हिन्दी के भाल पर शोभित प्रकाशबिन्दु हैं। बिहार, हिन्दी-संसार की पूर्वी सीमा है। दिनकर सचमुच ही हिन्दी-संसार के दिनकर हैं।

कवि की दृष्टि में उसकी सृष्टि
(दिनकर से भेंट-वार्ता)

प्रश्नकर्ता—
गोपालकृष्ण कौल

प्रश्न—कवि की कृति उसके व्यक्तित्व की एक उपलब्धि भी होती है। आपकी जीवन-परिस्थितियाँ इस उपलब्धि में कितनी सहायक और कितनी बाधक हुईं ?

उत्तर—प्रश्न शायद ठीक से मेरी समझ में नहीं आया। जितना समझ सका हूँ, उतने का उत्तर यह है कि व्यक्तित्व की उपलब्धि साहित्य से नहीं होती, साहित्य उसका पोषण करता है। साहित्य से कीर्ति अथवा अपकीर्ति प्राप्त होती है। अर्थात् साहित्य कवि के व्यक्तित्व पर जनमत को आमंत्रण देता है। व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थितियाँ करती हैं, मन में आने वाले भाव और विचार करते हैं, जीवन के अनुभव और समस्याओं के आघात करते हैं। यही व्यक्तित्व कवि की कृतियों में प्रतिफलित होता है। इलियट ने इस प्रक्रिया को व्यक्तित्व से मोक्ष पाने का प्रयास कहा है, अर्थात् इलियट के अनुसार कविता लिखने के बाद कवि अपने व्यक्तित्व के भार से थोड़ी मुक्ति का अनुभव करता है। यह बहुत-कुछ अरस्तू के रेचनावाद के समान है। मेरा ख़याल है, कविता कवि के व्यक्तित्व के विसर्जन का कम, उसके पोषण का प्रयास अधिक है।

प्रत्येक व्यक्ति के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ रहता है। मेरे व्यक्तित्व की रचना भी परिस्थितियों के कारण हुई होगी। किन्तु, यह कहानी बहुत लम्बी है। मैं न तो सुख में जनमा था, न सुख में पलकर बढ़ा हूं। किन्तु मुझे साहित्य में काम करना है, यह विश्वास मेरे भीतर छुटपन में ही पैदा हो गया था। इसलिए ग्रेजुएट होकर जब मैं परिवार के लिए रोटी अर्जित करने में लग गया, तब भी साहित्य की साधना मेरी चलती रही। आरम्भ में बहुत दिनों तक मैं दाहिने हाथ से दफ्तर की फ़ाइल और बाएँ हाथ से कविता लिखता था, अर्थात् दिन की ताज़ी घड़ियां दफ्तर के कामों जाती थीं, केवल श्रान्त-क्लान्त क्षणों में ही साहित्य लिखता और पढ़ता था। बहुत श्रम, संघर्ष और धीरज के बाद ही मैं परिस्थितियों को यत्किंचित् अपने अनुकूल बनाने में समर्थ हो सका। लेकिन अब उसका भी कोई ख़ास महत्त्व नहीं है क्योंकि परिस्थितियाँ थोड़ी-बहुत अनुकूल तब हुईं जब शरीर शिथिल हो रहा है। तब मैं पढ़ा-लिखा कम ही था। इधर अज्ञानता कम करने के घनघोर अध्यवसाय के बाद भी, मेरा ख़याल है, मुझे उतना मालूम नहीं है जितना ज्ञान इस युग के कवि और लेखक को

होना चाहिए।

धनाभाव की पीड़ा, दफ्तरों में मिलने वाला प्रच्छन्न अपमान, बेटियों के विवाह की चिंताएँ और पारिवारिक कष्ट मैंने बहुत सहे हैं। कुछ क्लेश मुझे अपने स्वभाव-दोष अथवा मूर्खता के कारण भी उठाने पड़े। किन्तु इन पीड़ाओं का मुझ पर कोई अमिट प्रभाव पड़ा हो, ऐसा आभास मुझे नहीं मिलता। दुःख और सुख के भेद मुझे कभी भी ज्ञात नहीं हुए। नौकरी में जब मेरा वेतन पाँच सौ रुपये हो गया तब भी अपने-आपको मैं वैसा ही निर्धन या धनी समझता रहा जितना धनी मैं उस समय था जब मैं स्कूल का शिक्षक था और मेरा वेतन केवल ५०-५५ रुपये था। दुःख की कुछ थोड़ी आँच मुझे अकारण द्वेष्टाओं से महसूस हुई।

प्रश्न—प्रारम्भ में आपने हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीय धारा में अपनी ओजस्वी रचनाओं से योग दिया। उनमें उद्बोधन, ललकार और अतीत के गौरव का स्मरण है। इस राष्ट्रीय धारा में आपके आगमन से राष्ट्रीय आन्दोलन के किसी प्रकार के प्रभावों और सम्पर्कों का योग भी है ?

उत्तर—सन् १९२० ई० के असहयोग-आन्दोलन के समय मैंने कई सभाओं में वन्दे-मातरम् गीतों का गान किया था। उनमें से एक गीत पं० गुलाबरत्न वाजपेयी का भी था। मैं जबलपुर से निकलने वाले मासिक पत्र 'छात्र सहोदर' का नियमित पाठक था। 'छात्र सहोदर' में राष्ट्रीय कविताएं छपा करती थीं और उन्हें मैं बड़े चाव से पढ़ता था। याद आता है कि लोकमान्य तिलकजी की मृत्यु पर माखनलालजी की एक कविता 'प्रताप' में छपी थी। तब मैं उस कविता को पढ़कर खूब रोया था और पूरी-की-पूरी कविता मुझे कंठस्थ हो गई थी। स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' भी मुझे बहुत याद था। 'भारत-भारती' मैंने उसके बाद पढ़ी और उसका भी मुझ पर प्रभाव पड़ा। १९२१ ई० में मैंने राष्ट्रीय स्कूल में नाम लिखाया जो असहयोग-आन्दोलन का प्रतीक था। वहाँ मैंने दासता-विरोधी संस्कार काफी अर्जित किये। राष्ट्रीय स्कूलों के लिए साहित्य की पुस्तकें नये ढंग से तैयार की गई थीं। ऐसी पुस्तकों में रामवल्लभसिंह के सारे-के-सारे साहित्य-संग्रह मैंने कई बार पढ़ डाले थे। मेरा पूरा बचपन राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण में गुज़रा था। बाद को भी यह संस्कार बढ़ता ही गया। गाँव से मैट्रिक पास करके जब मैं कॉलेज में पढ़ने के लिए पटना आया तब सौभाग्य से वहाँ बेनीपुरीजी, श्री गंगाशरण सिंह, जयप्रकाशजी, स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल और बाबा राहुल सांकृत्यायन की संगति प्राप्त हो गई। सन् १९३० ई० के नमक-सत्याग्रह में मैंने भी तीन-चार महीने काम किया था। सम्भव है, इन सभी घटनाओं ने मुझे कविता की राष्ट्रीय धारा की ओर ढकेल दिया हो। यों भी, छायावाद की कविताएँ मुझे कुछ खास पसन्द नहीं थीं। छायावादी युग में भी मेरे परम प्रिय कवि वे ही थे जो राष्ट्रीय कविताएँ लिखा करते थे, जैसे सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'। मैंने ब्रजनारायण चकबस्त का 'सुबहे-वतन' नामक संग्रह भी बड़े प्रेम से पढ़ा था, जिसका प्रकाशन नागरी लिपि में हुआ था। नमक-सत्याग्रह के समय 'त्याग भूमि' में 'निर्गुण' नामक किसी

अपरिचित कवि की एक कविता छपी थी 'तू नूतन वर्ष विहान, जाग।' वह कविता मुझे बेहद पसन्द आयी थी। पीछे पता चला कि वह कविता श्री रामनाथ सुमन की लिखी हुई थी। मेरी कविता के भीतर राष्ट्रीय मनोदशा की उत्पत्ति में इन सभी प्रिय कवियों का कुछ-न-कुछ योगदान रहा होगा।

प्रश्न—हिन्दी में राष्ट्रीय काव्यधारा को छायावादी काव्यधारा से अलग करके क्यों देखा जाता है? केवल राजनैतिक और समाज-सुधारक ओजस्वी कविताएँ ही राष्ट्रीय क्यों कही गईं? क्या प्रेम-कविताएँ राष्ट्रीय नहीं हैं? काव्य में राष्ट्रीय और अराष्ट्रीय का यह मूल्यांकन कहाँ तक संगत है?

उत्तर—वैसे तो भारत के राष्ट्रकवि वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्र हैं, क्योंकि भारत की सनातन आत्मा का जैसा सुगम्भीर घोष इन कवियों में सुनाई देता है, वैसा किसी और कवि में सुनाई नहीं देता। फिर भी, हम इन्हें राष्ट्रकवि नहीं कहते हैं, वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास को तो बिलकुल नहीं। कारण, राष्ट्रीय विशेषण भारत में नहीं चलता था। राष्ट्र शब्द का प्रयोग यहाँ अधिकतर उस अर्थ में होता था जिस अर्थ में आज हम प्रान्त या प्रदेश शब्द का व्यवहार करते हैं। यह दूसरी बात है कि वैदिक प्रार्थना में आये हुए राष्ट्र शब्द को अब हम नये अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं। भारत का मन राष्ट्रीय कम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिक रहा है। तब भी, दासता से मुक्ति पाने के लिए हमने राष्ट्रीय विशेषण को स्वीकार कर लिया, सिर्फ इस भाव से कि राष्ट्रीयता के जागरण के बिना दासता का अन्त असम्भव है। दासता और साम्राज्यवाद हम पर यूरोप ने लादे थे और यूरोप ने ही हमें यह भी सिखा दिया कि दासता और साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने का उपाय राष्ट्रीय भावों का विकास है। पीड़ित समाज का ध्यान पूर्ण पर कम, खंड पर अधिक रहता है। वह युग की पीड़ाओं से मुक्ति पाने के जोश में युग-युग की पीड़ाओं की उपेक्षा करता है। इसी जोश के कारण छायावादी युग में प्रेम और रहस्यवाद की कविताओं की तुलना में राष्ट्रीय कविताएँ अधिक लोकप्रिय हो उठीं।

कवि के असली सम्मान के कारण, पंडित और प्रोफेसर न कभी पहले हुए थे, न आज हैं। वे तो बड़े-से-बड़े कवियों की भी उपेक्षा ही करते हैं और 'जीनियस' की भी पुस्तक वे तब तक नहीं पढ़ते, जब तक कारख़ाने का बाबू उसे न पढ़ चुका हो, कला और सौन्दर्य का भी महत्त्वपूर्ण निर्णय पहले जनता ही करती है। जनता ने जब देखा कि कुछ कवि उसके अभियान में खुलकर साथ दे रहे हैं, तब प्रसन्न होकर उसने उन कवियों को राष्ट्रीय कवि कहना आरम्भ कर दिया। यह सम्मान वह प्रेम और रहस्यवाद के गायकों को कैसे दे सकती है?

प्रश्न—जिस राष्ट्रीय काव्यधारा ने साम्राज्य-विरोधी और आज़ादी के लिए संघर्षशील भारतीय जीवन को प्रेरणा दी, उसमें प्रगतिशील आन्दोलन अर्थात् प्रगतिवाद ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रगतिशील साहित्य के प्रति आपका अपना दृष्टिकोण रहा है। आपकी दृष्टि में प्रगतिशील और राष्ट्रीय काव्य में क्या कुछ अन्तर है?

उत्तर—पहले हमें यह देखना चाहिए कि प्रगति कहते किसे हैं। संसार को हिंसा की ओर जाना है या अहिंसा की ओर? अच्छा समाज वह है जिसमें केवल भौतिक सुविधाओं का विकास होता है अथवा वह जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति होती है? राज्य वह अच्छा है, जिसमें एक या दस नेताओं के खिलाफ़ जीभ खोलने से लोग डरते हैं अथवा वह जिसके नागरिक बड़े-से-बड़े सत्ताधारियों की भी आलोचना निर्भय होकर कर सकते हैं? और यदि दस या दस हज़ार व्यक्ति यह कहने लगें कि मत वही है जिसे हम मानते हैं और पूरे संसार को हम उसी मत में दीक्षित कर देंगे, तो इससे क्या मनुष्य की प्रगति होती है? पहले की धर्मान्धता जितनी निन्दित वस्तु थी, आज की राजनीतिक अंधता क्या उससे कम निन्दनीय है? अदृश्य वास्तविकता के प्रति सन्देह की स्थिति का कुछ थोड़ा औचित्य है, किन्तु यह कहना तो प्रगति का सूचक नहीं हो सकता कि अदृश्य वास्तविकता है ही नहीं, अतएव अदृश्य का स्वप्न हम किसी को भी देखने नहीं देंगे। धर्म की निन्दा मार्क्स ने ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण की थी। किन्तु, तब से भौतिकी बैठी नहीं रही है। वह अब जिस ऊँचाई पर पहुँच गई है, वहाँ से दर्शन का समुद्र दिखाई देता है। ये कुछ कारण हैं जिनके चलते मैं प्रचलित प्रगतिवाद को अपना जीवन-दर्शन मानने से इन्कार करता हूँ। किन्तु, जहाँ तक दासता, साम्राज्यवाद, शोषण और विषमता के विरोध का प्रश्न है, मैंने खुलकर उस विरोध में भाग लिया है और मैं उन सभी लोगों का प्रशंसक हूँ जो दासता, विषमता, साम्राज्यवाद और सामाजिक न्याय के बारे में लिखते हैं और अपने को प्रगतिवादी कहते हैं।

राष्ट्रीय कविता, स्पष्ट ही, प्रगतिशील प्रवृत्तियों से उद्भूत थी, किन्तु ऐसी कविताएँ सन् १९३४ ई० के बाद ही नहीं लिखी गई थीं। उनकी परम्परा भारतेन्दु तक जाती है। इसलिए, प्रगतिशील प्रवृत्ति की बात तो मैं मानता हूँ, प्रगतिवादी युग कहने की सार्थकता मुझे दिखाई नहीं देती। यह अच्छी बात है कि हिन्दी के कई आलोचक अब प्रगतिवादी युग को छायावादोत्तर-काल कहने लगे हैं। यह और बात है कि छाया-वादोत्तर-काल में ही वह आन्दोलन चलाया गया जिसका नाम प्रगतिवाद है।

प्रश्न—आपने साहित्य में प्रगतिवाद को साहित्येतर आन्दोलन माना है और प्रयोगवाद को साहित्यिक आन्दोलन। क्या कोई विचार आन्दोलन बनने पर विशुद्ध साहित्यिक रह सकता है? और क्या साहित्य की कसौटी केवल साहित्य होता है? क्या साहित्य के अधिकांश मूल्य साहित्येतर नहीं होते, जैसे राजनीति, समाजशास्त्र, विज्ञान की उपलब्धियाँ, मनोविज्ञान और मानव-विवेक आदि?

उत्तर—स्पष्ट ही, इस प्रश्न का उत्तर आप सैद्धान्तिक धरातल पर चाहते हैं। मैंने यह तो कहीं नहीं लिखा है कि प्रगतिवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से, साहित्यिक आन्दोलन नहीं हो सकता। मेरी आलोचना उसके व्यावहारिक रूप की आलोचना है। क्या आप यह नहीं मानते कि प्रगतिवादी आन्दोलन का उपयोग कम्युनिस्ट पार्टी के फ़ायदे के लिए किया गया था? यदि नहीं, तो इसका कोई जवाब आपके पास है कि राष्ट्रीय कवियों का वह वर्ग प्रतिक्रियागामी क्यों माना जाने लगा जिसका झुकाव गांधीवाद और प्रजातन्त्र की ओर था? दासता, साम्राज्यवाद, शोषण और विषमता के खिलाफ़ वे भी लिख रहे

थे जो राजनीति में कम्युनिस्ट नहीं थे और वे भी जो कम्युनिस्ट थे। वैसे, प्रगतिवाद, मुख्यतः विचारों पर आधारित वाद है, फिर भी, यदि प्रगतिवाद के अभिभावक दोनों ही प्रकार के कवियों और लेखकों को प्रगतिशील मानते तो प्रगतिवाद, मत-प्रधान होने पर भी, साहित्यिक आन्दोलन रह सकता था। किन्तु, कम्युनिस्ट आलोचकों ने इतनी उदारता नहीं दिखाई। उन्होंने प्रगतिवादी होने का सुयश केवल उनके लिए सुरक्षित रखा जो प्रत्यक्ष नहीं तो छिपे-छिपे कम्युनिस्ट आन्दोलन के साथ थे। आज कम्युनिस्ट भी यह रोना रोते हैं कि भारत के भीतर सह-अस्तित्व नहीं है। क्या मैं पूछ सकता हूं कि भारतीय साहित्य में सह-अस्तित्व का विनाश किसने किया? ईमानदारी का उत्तर यही हो सकता है कि कम्युनिस्टों ने। यही नहीं, बल्कि जो आलोचक कम्युनिस्ट नहीं हैं, वे तो साम्य-वादी सुलेखकों के नाम आदर के साथ लेते हैं, किन्तु, साम्यवादी आलोचक ग़ैर-साम्यवादी लेखकों और कवियों के नाम आदर से नहीं लेते। जैसे सेठ-साहूकार लेखकों और कवियों से दोस्ती केवल इस भाव से करते हैं कि ऐसी दोस्ती से सेठों का सुयश बढ़ेगा, वैसे ही कम्युनिस्ट बन्धु केवल उन्हीं लेखकों और कवियों को अपनाते हैं जो उनके राजनीतिक हथियार हो सकते हों।

प्रयोगवाद को मैं साहित्यिक आन्दोलन इसलिए मानता हूँ कि वह मत-प्रधान नहीं, शैली-प्रधान है। उसका लक्ष्य भाषा के भीतर छिपी शक्तियों का सन्धान है, उसका ध्येय इस बात की खोज करना है कि कितना कुछ छोड़कर कविता कवित्व से युक्त रह सकती है। छन्द, तुक, अभिव्यक्ति की पारंपरीण भंगिमा और भाषा की पुरानी अदाएँ कविता के अनिवार्य अंग नहीं हैं। प्रयोगवाद इन सब आसान तरीकों को छोड़कर कठिनाई की राह पर है। यह एक ऐसी महाक्रान्ति की तैयारी है जैसी क्रान्ति हिन्दी में ही क्या, कविता मात्र में पहले कभी नहीं हुई थी। यूरोप में यह क्रान्ति रूप ले चुकी है। भारत को उसने इधर हाल ही पकड़ा है। यहाँ भी जब प्रयोगवादी काव्य-प्रभाव पूर्णता पर पहुँचेगा, लोग उसका इस देश में भी आदर करेंगे। बहुत-से नवयुवक तो अभी भी केवल नयी कविता ही पठनीय मानते हैं।

साहित्य का पेंडुलम बराबर हिलता रहता है। जब रोमांटिक आक्रमण का ज़ोर बढ़ता है, तब प्रतिक्रियास्वरूप अथवा आत्मरक्षा के प्रयास में साहित्य की क्लासिक-वैज्ञा-निक पद्धति ज़ोर से ऊपर आना चाहती है। जब क्लासिकता इतिवृत्तात्मक होने लगती है, तब रोमांटिक भाव फिर से उभरना चाहते हैं। जब हम शैली पर ज़ोर देते हैं, तब विषय पुकारता है और जब हम विषय पर ज़ोर देते हैं तब शैली आक्रमण करती है। साहित्य की एक पीढ़ी काला रंग पसन्द करती है, दूसरी पीढ़ी हरा और तीसरी पीढ़ी केवल शुभ्र। और तब फिर सब-के-सब काले रंग पर आ जाते हैं। हिन्दी में भी यही हुआ है। छायावाद भी, मुख्यतः शैली का आन्दोलन था। तब छायावादोत्तर कवि आये जो शैली और विषय, दोनों को स्वीकार करते थे। इसी छायावादोत्तर-युग में प्रगतिवादी आन्दोलन उठा जो शैली के लिए बहुत कम, विषय के लिए बहुत अधिक अंक देता था। इसका जो स्वाभाविक परिणाम होना था, वही हुआ भी। प्रगतिवादियों के हाथों सबसे अधिक अंक पाने वाले मौसमी लोग साहित्य से सबसे पहले विदा हो गये। प्रयोगवाद का जन्म इसी

प्रकार के प्रगतिवाद के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया से हुआ है।

आपकी यह मान्यता ठीक है कि साहित्य की एकमात्र कसौटी साहित्य ही नहीं है। स्पष्ट ही, यहाँ साहित्य शब्द का पिछला प्रयोग शैली के अर्थ में है। शैली और भाव को चीरकर अलग-अलग दिखाने वाली आरी अभी तक साहित्यिक 'वर्कशॉप' में नहीं बन पायी है। इसलिए, यह कहना सम्भव नहीं है कि साहित्य का कितना आनन्द शैली में होता है और कितना उसके कथ्य में। केवल गोल-मटोल ढंग से यह अनुमान होता है कि शैली के भीतर कोई कथ्य विषय भी होना चाहिए, क्योंकि जिसके पेट में कहने योग्य कोई बात नहीं है उसका कहने का ढंग भी बहुत सुन्दर नहीं हो सकता। और जब कुछ कहने को प्रेरणा बलवती हो उठती है, तब उसके अनुरूप भाषा की उपलब्धि आप-से-आप हो जाती है।

कवि और कलाकार बनने के लिए भी यह आवश्यक है कि आदमी का मन नैतिक आदर्शों और नैतिक संघर्षों के ज्ञान से भली-भाँति परिपुष्ट हो चुका हो। कला का आनन्द भोगी विशेषज्ञ नहीं, जनसाधारण होता है। जो अनुभूति अभी विशेषज्ञों तक ही सीमित है, कला उसे छूती भी नहीं। विज्ञान चूँकि विशेषज्ञों की पूँजी है, इसलिए वह कला से दूर है। उसका उतना ही संस्कार कला स्वीकार करती है जितना जनसाधारण में फैल चुका है। इसलिए जो लोग इस विश्वास में हैं कि कला जनसाधारण की उपेक्षा करके जी सकती है, वे ग़लत राह पर हैं। इसे मैं साहित्य की कोई शास्त्रीय मान्यता नहीं समझता। यह पतनशीलता नामक रोग है जो अक्सर आभिजात्य को ग्रसित करता है। क्रोचे कला की स्वाधीनता के बड़े भारी पक्षपाती हुए हैं। किन्तु उन्होंने लिखा है कि जन-साधारण की उपेक्षा करने वाला कलाकार और जनमत की उपेक्षा करने वाला डिक्टेटर दोनों एक ही प्रकार की मानसिकता से उत्पन्न होते हैं और दोनों को बर्दाश्त जनता इस-लिए करती है कि उसमें तेजी, तत्परता और क्रोध का अभाव है।

प्रश्न—मैं मानता हूँ और प्रायः यह और लोगों की भी मान्यता है कि आपने छायावादी भाषा-जाल से हिन्दी-कविता को मुक्त किया और उसके काव्य-सौष्ठव को कायम रखते हुए उसके अभिव्यक्ति के भाषा-माध्यम को ज़्यादा जन-सुलभ बनाकर उसे अधिक व्यापक रूप दिया। और दूसरी ओर काव्य-भाषा में प्रयोगशीलता भी आयी। आप काव्य-भाषा के उस छायावादी और इस प्रयोगशील रूप से अलग शिल्प की दृष्टि से काव्य-भाषा के किसी और प्रभावशाली रूप की कल्पना करते हैं ?

उत्तर—यह सवाल फिर मेरी समझ में नहीं आया। जितना भर समझ सका हूँ उसका उत्तर यह है कि छायावादोत्तर काव्य की भाषा केवल मेरा निर्माण नहीं है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र और बाद को इस पंक्ति को भूषित करने वाले कवि नागार्जुन और शिवमंगलसिंह सुमन, ये सभी कवि घट-बढ़कर छायावादी भाषा से दूर थे। और नयी भाषा का निर्माण कवि क्या सचेष्ट होकर करता है ? अनुभूतियाँ जैसी होती हैं, वे भाषा भी वैसी ही पकड़ लेती हैं। जब कुछ समय बीत जाता है, तब इतिहासकार कहता है, यह भाषा अमुक कवि का निर्माण है। वस्तुस्थिति यह होती है कि नयी भाषा का आविष्कार नयी अनुभूतियाँ करती

हैं, अनुभूति की दिशा हिन्दी में हम लोगों के बाद भी बदली है, बल्कि, सद्य:हिन्दी में अनुभूतियों की जो दिशाएँ दिखाई दे रही हैं जिनमें से एक की भाषा उनके साथ है जो नयी कविता के कवि हैं और दूसरी की उनके साथ जो गीतकार हैं। जब-जब अनुभूतियाँ बदलती हैं, भाषा नवीन हो जाती है और कभी-कभी वह इतनी नवीन हो जाती है कि पहले की काव्य-भाषा से उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं रह जाता। एजरा पौंड और इलियट की भाषा से टेनीसन की भाषा का क्या सरोकार है? यह दृश्य कभी हिन्दी में भी उपस्थित हो सकता है।

प्रश्न—मेरी दृष्टि में आपकी कविता में अभी तक तीन बार मोड़ आया है। पहला मोड़ 'रसवन्ती' को कविताओं में, दूसरा मोड़ 'नीलकुसुम' की कविताओं में और तीसरा मोड़ 'उर्वशी' काव्य में दिखाई देता है। इसको आपके काव्य के विकास के चरण भी कह सकते हैं। मूलतः आप विचार-प्रधान कवि हैं। शिल्प की दृष्टि से इन तीन मोड़ों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

उत्तर— तब तो अब तक मैंने चार तरह की कविताएँ लिखी हैं, क्योंकि ये तीन मोड़ तो मुझे 'रेणुका' और 'हुंकार' से कुछ अलग ले जाने वाले ही मोड़ रहे होंगे, लेकिन सचमुच में, ऐसी बात हुई है क्या? प्रत्येक कवि जीवन-भर में एक ही कविता लिखता है, उसकी सभी कृतियाँ उसी एक काव्य की विभिन्न कड़ियाँ होती हैं। मैं भी इसी भ्रम में हूँ कि 'रेणुका' से लेकर 'उर्वशी' तक मैंने जो कुछ लिखा है वह एक ही काव्य है। किसी भी समय शिल्प का अनुसन्धान मैंने प्रयासपूर्वक नहीं किया। कविता लिखने के पूर्व मेरा मन शिल्प की अवधारणा नहीं करता, कथ्य और शैली, दोनों मुझे हमेशा परस्पर लिपटे हुए दिखाई देते हैं। जब मुझे कहने की कोई बात सूझती है, तब उसकी शैली भी साथ-साथ ही सूझ जाती है।

प्रश्न—आज की कविता का स्थायी भाव विक्षोभ है और व्यंग्य उसकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। आपने भी सशक्त व्यंग्यपूर्ण कविताएं लिखी हैं। क्या विक्षोभ और व्यंग्य को काव्य में स्थायी महत्त्व मिल सकता है?

उत्तर—अवश्य मिल सकता है, बल्कि मिला भी है। वाल्तेयर की 'कान्दीद' व्यंग्य ही तो है। क्रोध को मैं साहित्यकार का आवश्यक गुण मानता हूँ। जिसमें क्रोध को पी जाने की शक्ति है वह या तो संत है अथवा डिप्लोमेट, जो व्यवहार में वैष्णवी विनम्रता लाकर सबको खुश रखना चाहता है। जिसमें क्रोध नहीं है वह कवि कनफार्मिस्ट हो जाएगा और कनफार्मिस्ट होना कवि के जीवन का नहीं, उसकी मृत्यु का लक्षण है। क्रोध, शायद, बहुत अच्छा शब्द नहीं है। इसके बदले मुझे 'मन्यु' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। मन्यु क्रोध का वह रूप है जो 'रायचस' होता है, जो अनौचित्य और कदाचार के विरुद्ध आता है। कवि समाज का 'कॉन्शेंस' होता है। जब समाज का 'कॉन्शेंस' क्षुब्ध हो, तब कवि को क्षुब्ध होना ही चाहिए और क्षोभ की सर्वाधिक साहित्यिक अभिव्यक्ति 'सैटायर' ही हो सकती है। विशेषतः भारत में आज जो कुछ हो रहा है, उसका सही चित्रण व्यंग्य द्वारा ही सम्भव है। हमें हँसने वाले सिंहों की आवश्यकता है जो हँसी की मार से समाज को तिलमिला सकें।

प्रश्न—छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी कविता तथा पाश्चात्य काव्य-प्रयोगों की दृष्टि से भारतीय कविता का भविष्य क्या है ?

उत्तर—यह सवाल किसी ज्योतिषी से पूछना चाहिए। मैं क्या जानूँ कि जो लोग अभी जनमे नहीं हैं उनकी कविता कैसी होगी ? यदि कुछ कहूं भी तो वह केवल अटकल या अनुमान होगा।

प्रश्न—स्वाधीनता के बाद लेखकों का विक्षोभ व्यक्तिगत क्यों हो गया है, जबकि स्वाधीनता से पूर्व यह विक्षोभ साम्राज्यविरोधी क्रान्ति-भावना और नये सांस्कृतिक जागरण की आकांक्षा के रूप में एक राष्ट्रीय स्वर की भाँति प्रकट होता था ?

उत्तर—इसलिए कि साहित्यकार देखते हैं कि जो लोग उनसे हीन अथवा उन्हीं के समान हैं, वे किसी प्रकार, सांसारिक दृष्टि से सफल हो रहे हैं और उन्हें सफलता नहीं मिल पाती। बहुत-से व्यंग्यकारों की कटुक्तियाँ केवल इसलिए विफल हो रही हैं कि उनके पीछे समाज की अप्रसन्नता नहीं, उनकी अपनी वैयक्तिक अप्रसन्नता खड़ी है। जिस दिन वे अपनी वैयक्तिक अप्रसन्नता को भूलकर अपना ध्यान पूरे समाज की अप्रसन्नता पर केन्द्रित करेंगे, उस दिन उनकी कटुक्तियां समाज की जिह्वा पर चढ़ जाएँगी।

प्रश्न—आपने 'संस्कृति के चार अध्याय' और अपने अन्य निबन्धों में सामाजिक संस्कृति को इतिहास-सम्मत माना है और उस पर बल भी दिया है। आज देश में भावात्मक एकता की बात भी ज़ोरों से उठ रही है। तब क्या आप राष्ट्रीय जीवन में विभिन्न विचारों के सह-अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण नहीं समझेंगे? और यदि महत्त्वपूर्ण समझते हैं तो दो विचारों के साहित्यकार एक मंच पर काम कर सकें और मतभेद रखते हुए भी एक-दूसरे की रचनात्मक प्रतिभा की प्रतिष्ठा रख सकें—इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार और सुझाव हैं ?

उत्तर—मेरा पहला सुझाव यह है कि कम्युनिस्ट लेखक इस महासत्य को स्वीकार करें कि कम्युनिस्ट हुए बिना भी लेखक प्रगतिशील हो सकता है। मेरा दूसरा सुझाव यह है कि भारत के ग़ैर-कम्युनिस्ट कवि, विचारक और साहित्यकार उस रोग से बचने की कोशिश करें जिसमें अमेरिका गिरफ्तार है। क्या अमेरिका और रूस ही सब-कुछ हैं ! भारत कुछ भी नहीं है, कहीं भी नहीं है! तब सारा संसार भारत की ओर किसी रहस्यपूर्ण आशा से क्यों देख रहा है ? जो चीज़ रूस और अमेरिका को नहीं मिली, उसे सारी मानवता की ओर से, भारत को प्राप्त करना चाहिए। वह चीज़ है वर्तमान और अतीत का समन्वय, धर्म और विज्ञान का परस्पर मेल। साहित्यकारों को ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिए जिससे सेठवाद को कहीं से भी शक्ति प्राप्त होती हो। पूँजीवाद को काफी कमज़ोर किए बिना भारतीय जनता सुखी नहीं होगी। हमें एक ऐसे समाज की कल्पना को आकार देना है जिससे किसी प्रकार के 'आध्यात्मिक साम्यवाद' का विकास हो सके। इसी स्वप्न को नया नाम विनोबाजी ने 'साम्य योग' कहकर दिया।

प्रश्न—स्वाधीनता के इतने वर्षों बाद भी लेखकों को इतनी अधिक स्वाधीनता नहीं मिल पायी है कि वे लेखनी के बल पर निर्भीक जीवन व्यतीत कर सकें और उनको कॉमर्शियल बनने के लिए भी मजबूर न होना पड़े। स्वाधीनता के बाद सांस्कृतिक उन्नति

की बड़ी-बड़ी बातें की जा रही हैं, लेकिन क्या कलाकार और लेखकों की आर्थिक स्वाधीनता के बिना सांस्कृतिक उन्नति सम्भव है ?

उत्तर—सांस्कृतिक उन्नति की बड़ी-बड़ी बातों स नाराज़ होना व्यर्थ है। उल्टे, हमें प्रसन्न होना चाहिए कि स्वाधीनता के बाद सांस्कृतिक उन्नति की भी चर्चा होने लगी है। जिस देश का साहित्य अनाथ हो, जिस देश की जनता में साहित्य का प्रचार नहीं हो और जिस देश के शासक साहित्य और साहित्यकार, दोनों से अपरिचित हों, उस देश का सांस्कृतिक अहंकार व्यर्थ है। मैं स्वीकार करता हूँ कि भारत अभी एक ऐसा ही अभागा देश है। जिन लोगों पर भारत को सबसे ज़्यादा नाज़ है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस देश की भाषा, साहित्य और साहित्यकार, सबको द्वितीय-तृतीय कोटि की वस्तु मानते हैं। और उन्हें स्वयं जिस भाषा पर नाज़ है वह भाषा इस देश की जनता नहीं जानती। देश की क़िस्मत आज अंग्रेज़ी के भक्तों के हाथ में है। भारत को भगवान ने चौदह टाँगें दी थीं। शासकों ने चौदह टाँगों को अस्पताल ले जाकर भारतीय जनता को लकड़ी की दो टाँगों पर खड़ा कर रखा है। लेकिन यह स्थिति क्या चलने वाली है ? यह देश तो बचेगा, लेकिन अंग्रेज़ी के पक्षधर अतल गर्त में फेंक दिये जाएँगे। जब जनता को अपनी भाषाएँ मिल जाएँगी और जब मिनिस्टर और अफसर वे लोग होने लगेंगे जिन्हें अपनी भाषा और अपने साहित्य का ज्ञान और उससे प्रेम है, तभी साहित्य का भी वास्तविक उद्धार होगा। जब तक देश की भाषाएँ निर्बाध रूप से देश में प्रसार नहीं पातीं, तब तक न तो साक्षरता बढ़ेगी, न साहित्यिक स्वाधीन होंगे। साहित्यकार तभी स्वाधीन होता है जब वह अपनी रोटी सीधे जनता से प्राप्त करता है।

प्रश्न—वर्तमान सामाजिक ढाँचे से सभी बुद्धिजीवी वर्ग असन्तुष्ट हैं, और वे नये समाज की रचना करना चाहते हैं। इस नये भावी समाज की आपकी परिकल्पना क्या है ? क्या आज का साहित्यिक कृतित्व समाज को नयी रचना की प्रेरणा देता है ?

उत्तर—नये समाज की मेरी जो परिकल्पना है उसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। मेरी मान्यता है कि आज भी बहुत-सी साहित्यिक कृतियाँ ऐसी लिखी जा रही हैं जिनसे आगामी समाज की परिकल्पना साफ़ होती है। इस परिकल्पना पर कुछ थोड़ा प्रकाश 'जयवर्धन' से भी पड़ा है।

प्रश्न—विचारों में आप किन विचारकों से प्रभावित हुए और कला में किन कलाकारों से ? और उनसे प्रभावित होने के क्या कारण थे ?

उत्तर—अपने ऊपर मैं विवेकानन्द, गांधी, लोकमान्य तिलक, नीत्से, तोल्स्तोय और बर्ट्रेण्ड रसेल का प्रभाव मानता हूँ। कवियों में से कालिदास, कबीर, तुलसीदास, इकबाल और रवीन्द्र मेरे परम प्रिय कवि रहे हैं। इधर हाल में, पहले तो मैं इलियट पर आसक्त हुआ था, आजकल पास्तरनेक पर झूमता हूँ। कह नहीं सकता कि उन विचारकों का प्रभाव मुझ पर क्यों पड़ा, न यही बता सकता हूँ कि ये पाँच-सात कवि ही मुझे क्यों पसन्द आये ?

प्रश्न—यदि आपसे पूछा जाए कि आपको अपनी रचनाओं में सर्वाधिक प्रिय और प्रतिनिधि कौन-कौन लगती हैं, तो आप किनका नाम लेंगे ?

उत्तर—'सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं।' फिर भी 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवन्ती', 'कुरुक्षेत्र', 'नीलकुसुम', 'रश्मिरथी' और 'उजली आग' मुझे कुछ अधिक पसन्द हैं। शायद जो सबसे अधिक पसन्द आने वाली चीज़ है, वह अभी लिखी नहीं गई।

प्रश्न—आपकी उर्वशी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं योगी अरविन्द की उर्वशी में क्या अन्तर है?

उत्तर—आप यह प्रश्न किस उद्देश्य से पूछते हैं? क्या यह जानने को कि रवीन्द्र की उर्वशी का मेरी उर्वशी पर कोई प्रभाव है या नहीं? 'उर्वशी' काव्य में एक स्थल पर रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' कविता की छाया पड़ी है, किन्तु, जहाँ तक उर्वशी की मूल-कल्पना का प्रश्न है, वह रवीन्द्र की उर्वशी से उतनी भी प्रभावित नहीं है जितना प्रभाव रवीन्द्र की उर्वशी पर स्विनबर्न का आँका जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने उर्वशी पर कोई खंडकाव्य नहीं लिखा। उनकी उर्वशी स्फुट, लिरिक काव्य है और उसकी तुलना मेरी उर्वशी के केवल एक उद्गार से की जा सकती है। अरविन्द का उर्वशी-काव्य खंडकाव्य है। उसमें उर्वशी जीवन-ज्योति के रूप में चित्रित की गई है जिसके विलुप्त हो जाने पर पुरूरवा विक्षिप्त साधक की भाँति हिमालय के वनों में चले जाते हैं और अपने निःश्रेयस् की खोज करते हैं। मेरी कल्पना की उर्वशी देवी और मानवी का समन्वित रूप है। वह शरीर और आत्मा, दोनों को प्रेरित करती है। अतीन्द्रियता की ज्योति रवीन्द्र की उर्वशी में भी है और मेरी उर्वशी में भी। किन्तु, इन दोनों कल्पनाओं में नारी का कामिनी रूप ही प्रधान है। अरविन्द ने उर्वशी को रहस्यवादी भावनाओं से लपेट दिया है। वह शायद मनुष्य के आध्यात्मिक आदर्श का प्रतिरूप है, जिसके संधान में मनुष्य संसार के वैभवों का त्याग कर देता है। मैंने पुरूरवा का जो संन्यास दिखलाया है, उसके भीतर भी ऐसा कोई संकेत है।

प्रश्न—यदि आपकी कविता की तुलना काज़ी नज़रुल इस्लाम और मायकोव्स्की से की जाए तो आपको कैसा लगेगा?

उत्तर—'हुंकार' और 'सामधेनी' के रचयिता की यत्किंचित् तुलना नज़रुल इस्लाम और मायकोव्स्की से की जा सकती है, किन्तु जब 'रसवंती', 'नीलकुसुम', 'उर्वशी' और मान लीजिए, 'कुरुक्षेत्र' सामने आ जायें तब क्या कीजिएगा? नज़रुल इस्लाम और मायकोव्स्की ने क्रान्तिकारी ढंग की स्फुट कविताएँ लिखी हैं, किन्तु मैं थोड़ा पुराणकार भी हूँ।

प्रश्न—आज सारी मानवता युद्ध की संभावना और शान्ति की आकांक्षा के बीच झूल रही है। एक ओर विज्ञान की शक्ति है, दूसरी ओर मानव-विवेक। साहित्य मानवता की शान्ति की आकांक्षा की पूर्ति में कैसे सहयोग देने में समर्थ हो सकेगा? वैज्ञानिक मूल्यों को दृष्टि में रखते हुए इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर— **कैसी धीमी गति है? विकास**
कितना अदृश्य हो चलता है?
इस महावृक्ष में एक पत्र
सदियों के बाद निकलता है।

युद्ध की समस्या ऐसी नहीं है कि हमने और आपने शान्ति की कविताएँ लिखी नहीं कि युद्ध बन्द हो गया। आदिम-युग में आदमी आदमी को कच्चा ही अथवा पकाकर खा जाने में अपनी बहादुरी समझता था। कई हज़ार वर्ष के बाद उसे यह ज्ञात हुआ कि यह अत्यन्त गर्हित कर्म है। कभी-कभी ऐसी बातें आज भी सुनी जाती हैं, किन्तु वे अपवाद हैं और उनकी प्रशंसा कोई नहीं करता। एक समय था जब युद्ध स्वर्ग का द्वार माना जाता था। मुसलमान कहते थे, 'जीते तो गाज़ी, मरे तो शहीद।' हिन्दू कहते थे, 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्।' परन्तु, आज इन बातों में कोई भी विश्वास नहीं करता। सब मानते हैं कि युद्ध पूरा ध्वंस है, सबका विनाश है, उससे किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता, न बमों से मरने वालों का स्वागत करने को अब आकाश में देवताओं के विमान मँडराते हैं। यह प्रगति है, बहुत बड़ी प्रगति है। निश्चित है कि संसार युद्ध रोकने की दिशा में गतिवान है, क्योंकि उसकी आत्मा अब मारकाट से घिनाने लगी है। किन्तु, लक्ष्य अब भी कुछ दूर है। मनुष्य इतना सभ्य अभी भी नहीं हुआ है कि आत्मा की आवाज़ सुनकर वह युद्ध से विमुख हो जाए। युद्ध पहले वह इसलिए छोड़ेगा कि विजयी होने की सम्भावना अब कोई नहीं देखता, सब-के-सब युद्ध में अपना विनाश ही देखते हैं। किन्तु, युद्ध को एक दिन वह इस कारण भी त्याग देगा कि युद्ध मनुष्यता का मार्ग नहीं है।

युद्ध को मनुष्य के मन के भीतर एक उदात्त, पुण्यमय और ओजस्वी विचार के रूप में प्रतिष्ठित करने का काम कवियों ने किया था। इसका प्रायश्चित यह है कि इस विचार को वे निन्दित बना दें, मनुष्य के मन में जहाँ भी युद्ध पुण्य-भाव बनकर बैठा हुआ है, उसे कहाँ से बिलकुल उखाड़ दें। बिलकुल उखाड़ देने का अर्थ आप समझते हैं? तात्पर्य यह कि सब छोड़कर यहाँ गांधी की शरण में आइये। इस प्रकार का दुराग्रह छोड़ दीजिये कि कुछ युद्ध आज भी धर्म-युद्ध के समान पवित्र हो सकते हैं।

लेकिन तब शोषण का अन्त कैसे होगा? अत्याचार का आक्रमण कैसे हो सकेगा? रास्ते में खड़े भेड़िये और बाघ आदमी पर झपटना कैसे छोड़ेंगे? क्या यह मार्ग ठीक है कि बघनखों को हम पंजों से उतारकर पॉकेट में लिये चलें? लेकिन इस प्रकार बच-बचकर बघनखे पहनने वाली उँगलियाँ ज़रा कमज़ोर हो जाती हैं, नरम पड़ जाती हैं।

उपाय एकमात्र सम्पूर्ण विश्व का निःशस्त्रीकरण है। तो कविताओं का प्रभाव क्या ख्रुश्चेव और कैनेडी महोदयों के मन पर पड़ सकता है? शायद नहीं, क्योंकि कविता की शक्ति-सीमा को वे जानते हैं। शायद, हाँ, क्योंकि सैकड़ों वर्ष तक कविता जिस भाव को दुहराती जाती है, वह भाव मनुष्य के स्वभाव में समा जाता है। इस दृष्टि से कवि अपना काम करते चलें। कभी-न-कभी उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। निरुद्देश्य काव्य का भी, अन्त में, कोई-न-कोई परिणाम होता ही है।

प्रश्न—भविष्य की मानवता का संरक्षक वैज्ञानिक है या साहित्यकार?

उत्तर—भविष्य की मानवता से हमारा तात्पर्य क्या है? आज जो मानवता हम देख रहे हैं उसकी वेदनाएँ क्या हैं जिन्हें दूर करना है? सत्य की उपासना आज पागल-

पन समझी जाती है। ब्रह्मचर्य को लोग बेहूदगी और शर्म को ही शर्मनाक मानते हैं। संयम को तोड़ने वाले कृत्यों से मनुष्य की उदारता सिद्ध होती है और बहुत-से अपराध ऐसे भी हैं जिनसे मनुष्य कीर्ति अर्जित करने लगा है।

मिथ्यारंभ दंभ-रत जोई
ता कहं सन्त कहइ सब कोई।
सोइ सयान जो परधन हारी
जो कर दंभ सो बर आचारी।
जो कहि झूठ मसखरी जाना
कलियुग सोई गुनवंत बखाना।
नारि बिबस नर सकल गोसाई
नाचहिं नर मर्कट की नाई।

ये सब इसलिए बढ़े कि मनुष्य में बुद्धि की अधिकता और श्रद्धा की कमी हो गई। जब तक श्रद्धा का आधिपत्य था, लोगों को सन्मार्ग पर रखने में क़ानून को उतनी मशक्कत उठानी नहीं पड़ती थी जितनी आज उठानी पड़ रही है। श्रद्धा को कमज़ोर करके बुद्धि ने ही मनुष्य को यह सिखा रखा है कि पुलिस से छिपकर करो तो पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है।

एकान्त से आदमी डरने लगा है, क्योंकि एकान्त अब भी ऐसे सवाल कर सकता है जिनका जवाब हम नहीं दे सकते। इसलिए सिनेमा, रेडियो, नृत्य, गान और सामाजिक संध्याओं की भरमार है। जो एकान्त से भागना चाहे, उसके सामने कोई कठिनाई नहीं रह गई। यदि कुछ थी तो ट्रांज़िस्टर ने उसे दूर कर दिया। शाम को टहलते समय भी आप आत्मा की खुटक से बचना चाहें तो ट्रांज़िस्टर साथ लेकर मज़े में बच सकते हैं।

आदमी के मन के भीतर कहीं कोई बाँध नहीं रह गया है, न वह धारा में पांव अड़ाकर कहीं खड़ा हो सकता है। इस बिखरते, टूटते, धुंधुआते, डगमगाते समाज में हमें ऐसे व्यक्तियों की प्रधानता चाहिए जो पूर्ण हों, जिनमें दरारें नहीं हों, जिनके भीतर वह स्थिरता और आत्मपूर्णता हो जो मध्ययुग के महापुरुषों में देखी जाती थी—संक्षेप में, जो धारा में बहने से इन्कार कर सकें। यदि विज्ञान से ऐसा व्यक्तित्व तैयार हो सकता हो तो वैज्ञानिकों को सब छोड़कर पहले इसी महत्कार्य में हाथ लगाना चाहिए।

मेरा अपना विचार यह है कि ये गुण तभी लौटेंगे जब हम अतीत के कुछ अंशों को लौटा लें, अथवा भारतीय प्रसंग में यह बात कि, अतीत के अमर अंशों को हम तिरोहित होने से बचा लें। यह कार्य केवल साहित्यकार कर सकते हैं। पिछले युग की देन आध्यात्मिकता थी। विज्ञान नये युग की उपलब्धि है। और ये दोनों तत्त्व परम मूल्यवान हैं। लेकिन साहित्य ने यदि पक्षपात किया तो आदमी और भी अधिक हानि में पड़ेगा। उसका धर्म है कि अध्यात्म और विज्ञान के बीच वह सेतु बनकर पड़ा रहे जिस पर चढ़कर धर्मार्थी विज्ञान का और वैज्ञानिक अध्यात्म का स्पर्श कर सकें।

सन् १९४७ तक की प्रमुख कृतियाँ

रेणुका

हरप्रसाद शास्त्री

'रेणुका' दिनकरजी का सर्वप्रथम कविता-संग्रह है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था, उस समय यह पुस्तक बड़े चाव और उत्साह के साथ जनता में समादृत हुई थी। 'दिनकर' को लोकप्रिय कवि बनाने में 'रेणुका' का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रथम संस्करण की 'रेणुका' में ३१ कविताएँ संगृहीत थीं। बाद में १९५४ ई० वाले संस्करण में 'विरह-योगिनी', 'सायं चिन्ता', 'शब्द-वेध'—ये तीन कविताएँ निकाल दी गईं और ग्यारह नवीन कविताएँ जोड़ दी गईं। इस प्रकार कुल मिलाकर १९५४ वाले संस्करण में ३९ कविताएं संगृहीत हैं।

तीन निकाली हुई कविताओं में 'शब्द-वेध' शीर्षक कविता को 'हुंकार' में स्थान दिया गया है। इस उलट-फेर से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने प्रथम चुनाव से अब सन्तुष्ट नहीं है। क्योंकि, पहले जो चुनाव किया था उसमें किसी प्रवृत्ति विशेष का स्थान नहीं रखा गया था, केवल १९३५ तक की जो भी रचनाएँ थीं, उसमें रख दी गई थीं। उसमें कुछ कविताएँ ऐसी भी थीं जो कवि के विकास-क्रम के विपरीत पड़ती थीं। उदाहरणार्थ, निष्कासित 'विरह-योगिनी' कविता रहस्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित होने के कारण 'रेणुका'-कालीन राष्ट्रीय विचारधारा में पूर्णतः फिट नहीं हो पाती, अतः सन् '५४ वाले संस्करण में उसे बहिष्कृत कर देना कवि ने उपयुक्त समझा।

जो कविताएँ बाद में जोड़ी गई हैं, उनमें पाँच विदेशी भाषाओं की कविताओं के भावानुवाद हैं—'राजकुमारी और बाँसुरी' (जार्नसन नामक नार्वेजियन कवि की एक कविता), 'प्लेग' (एरिस्टोफेन्स—यूनानी कवि: पाँचवीं शताब्दी ई० पू० की एक कविता), 'गोपाल का चुम्बन' (एक अंग्रेज़ी कविता), 'विपक्षिणी' (मैथ्यू प्रायर की एक कविता), 'सुन्दरता और काल' (डाब्सन-कृत एक अंग्रेजी कविता)। शेष छः कविताओं में से तीन तो सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर युगानुकूल विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा तीन कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रतिच्छाया हैं। 'बागी' नामक कविता यों तो १९२९ ई० में विरचित रचना है, किन्तु उसे 'रेणुका' के प्रथम संस्करण में स्थान नहीं मिला था। यह कविता प्रसिद्ध क्रान्तिकारी शहीद श्री यतीन्द्रनाथ दास की बोरस्टल जेल में मृत्यु के समय लिखी गई

थी। यह एक छोटा-सा शोक-गीत मात्र है।

'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' १९४० की रचना है। इसमें कवि हिंसा और अहिंसा, शान्ति और विद्रोह की द्विधापूर्ण मन:स्थिति में पड़े हुए तत्कालीन देश के नवयुवकों को सम्बोधित करता है और उन्हें युग के अनुकूल क्लीबत्व का परित्याग करके क्रान्ति और संघर्ष के समर में उतर पड़ने को उकसाता है। वह कहता है—

हिल रहा धरा का शीर्ण मूल
जल रहा दीप्त सारा खगोल।
तू सोच रहा क्या अचल, मौन ?
ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल ?
+ +
जब रहे सकल प्राचीर कांप,
तब तू भीतर क्या सोच रहा
है क्लीब-धर्म का पृष्ठ खोल ?
+ +
यह पवन परम अनुकूल देख,
रे, देख भुजा का बल अथाह,
तू चले बेड़ियाँ तोड़ कहीं
रोकेगा आकर कौन राह ?
डगमग धरणी पर दमित तेज
सागर पारे-सा उठे डोल,
उठ, जाग समय अब शेष नहीं,
भारत मां के शार्दूल बोल।

इस कविता में युग की क्रान्तिकारी पुकार है और पारतन्त्र्य-बन्धन को तोड़ फेंकने का आकुल विद्रोह तथा अपने भुजबल पर भरोसा है। तत्कालीन आतंकमयी विद्रोह भावना का सुन्दर उदाहरण इस कविता में प्रस्तुत है। तीसरी कविता 'पटना जेल की दीवार से' है। १९४५ ई० में उत्तर बिहार में फैली हुई महामारी के समय पूज्य राजेन्द्र बाबू की रिहाई के लिए उठाये गये आन्दोलन की विफलता पर रचित यह कविता प्रशस्ति-गान की कोटि में आती है। इसमें जहाँ राजेन्द्र बाबू की लोकप्रियता, गुण-गरिमा और महामहिम व्यक्तित्व का मनोहारी चित्रण हुआ है, वहाँ अत्याचारी शासक को यह चेतावनी भी दी गई है कि जनमत को कुचलना अंगारों को आमंत्रण देना है। भावी विद्रोह और क्रान्ति का पूर्वाभास भी इस कविता में मिलता है—

आंखों पर पहरा बिठलाकर हँसें न किरिचोंवाले
फटने ही वाले हैं युग के बादल काले-काले।
मिला न जिनको राह, वेग वे विद्युत् बन आते हैं,
बहें नहीं जो अश्रु, वही अंगारे बन जाते हैं।
मानवेन्द्र राजेन्द्र हमारा अहंकार है, बल है,

तप:पूत आलोक, देश-माता का खड्ग प्रबल है।

'स्वर्ण-धन' कवि की वैयक्तिक अनुभूति की रचना है। इसमें कवि समर-जर्जर विषण्ण भारतीय जनता के लिए कनकवर्णी मेघों से सुधावर्षण की याचना करता है। यह कविता 'प्रार्थना-गीत' के साथ 'उद्बोधन-गीत' भी है—

'उठो, क्षितिज-तट छोड़ गगन में कनक-वरण धन हे।
बरसो, बरसो, भरें रंग से निखिल प्राण-मन हे!

+ +

गरजे गुरु गम्भीर घनाली,
प्रमुदित उड़ें मराल-मराली,
खुलें जगत् के जड़ित-अंध रस के वातायान हे!

+ +

जय हो, रंजित धनुष बढ़ाओ,
भू को नभ के साथ मिलाओ,
भरो, भरो, भू की श्रुति में निज अनुरंजन स्वन हे।

'गीतवासिनी' शृंगारिक कविता है। क्रान्ति, विद्रोह और राष्ट्रीयता के उबलते कवि में शृंगार की शीतल रस-धाराएँ, आँखों में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास और साँसों में मलय का मादक उच्छ्वास बनकर आयी हैं। इस कविता में युवक कवि का मदमाता यौवन खुलकर खेला है। यहाँ आकर कवि अपनी गीतवासिनी प्रियतमा को कल्पनालोक में प्रतिष्ठित करके उसका शृंगार करना चाहता है—

कल्पना-जग में बनाऊंगा तुम्हारा वास,
और ही धरती जहाँ, कुछ और ही आकाश।

इस कविता में कवि उपमानों के द्वारा बड़ा ही मादक वातावरण प्रस्तुत कर देता है—

देखती अपलक अपरिचित पुरुरवा की ओर
उर्वशी की आंख की मद से लबालब कोर।
प्रथम रस-परिरम्भ से कम्पित युवति का वेश,
थरथराते-से अधर-पुट, आलुलायित केश।
चूमकर औचक जलद को भाग जाना दूर,
दामिनी का वह निराला रूप मद से चूर।

'संजीवन घन दो' एक प्रार्थना-गीत है। इसमें कवि अपने अभीष्ट देवता से विश्व-प्रेम के पुनीत आदर्श को जन-मन में प्रतिष्ठित करने की प्रार्थना करता है। यहाँ आकर कवि की विद्रोह-भावना और हिंसात्मक रक्तिम क्रान्ति बोधिसत्त्व की दया, माया, ममता और अहिंसा की शीतल छाया ढूँढती है—

'माँग रहा जन-मन कुम्हलाया,
बोधिवृक्ष की शीतल छाया,
सिरजो सुधा, तृषित वसुधा को संजीवन-घन दो।
मन-मन मिलते जहाँ देवता! वह विशाल मन दो।

कुल मिलाकर 'रेणुका' में तीन प्रकार की रचनाएँ संगृहीत हैं। एक तो वे जिनमें राष्ट्रीयता, अतीत की गौरव-गाथा और युगीन परिस्थितियों का चित्रण है तथा जो कहीं-कहीं क्रान्ति और विद्रोह के स्वर से ओत-प्रोत हैं। दूसरे प्रकार की कविताएँ वे हैं, जिनमें शृंगार, प्रार्थना और उद्‌बोधन आदि वैयक्तिक अनुभूतियाँ हैं। तीसरे प्रकार की रचनाएँ विदेशी कविताओं के छायानुवाद हैं।

कविताओं के संकलन में सबसे अखरने वाली बात तो यह है कि वे किसी समयानुक्रम से संगृहीत नहीं की गई हैं। उदाहरणार्थ 'मिथिला' शीर्षक कविता का रचना-काल १६३१ ई० है और 'बोधिसत्त्व' का १६३४। कालक्रम के अनुसार 'बोधिसत्त्व' को बाद में आना चाहिए था और 'मिथिला' को पहले, किन्तु यहाँ इसके विपरीत है। 'बोधिसत्त्व' को पहले और 'मिथिला' को बाद में रखा गया है। यदि कहें कि प्रवृत्ति, तारतम्य, विषय-सम्बद्धता अथवा विचार-विशेष की दृष्टि से ऐसा किया गया है, तो यह तर्क भी यहाँ काम नहीं करता, क्योंकि सारे ग्रन्थ में इस दृष्टि से भी तारतम्य का ध्यान नहीं रखा गया।

दूसरी बात यह समझ में नहीं आती कि जिस प्रवृत्ति-विशेष या विकास-क्रम को दृष्टि में रखकर 'रेणुका' की विचारधारा में फिट न बैठने के कारण 'विरह-योगिनी', 'सायं चिन्ता' और 'शब्द-वेध'—ये तीन कविताएँ सन् '५४ वाले संस्करण से निष्कासित की गईं, वहाँ जोड़ी गई नयी कविताओं के चयन में इस बात का ध्यान क्यों नहीं रखा गया? एक ही संग्रह में दो विरोधी विचारधाराएँ मिलती हैं। 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' कविता में कवि क्रान्ति, विद्रोह और हिंसा का पक्ष लेता है और वहीं दूसरी रचना में प्रेम और अहिंसा का समर्थन करता है। 'बोधिसत्त्व' कविता में दया, ममता और अहिंसा की प्रार्थना कवि करता है। यदि कविताओं का संकलन कालक्रम और विकासक्रम को दृष्टि में रखकर किया जाता तो कवि के प्रारम्भिक विकास-क्रम का अध्ययन करने में सुविधा होती।

कवि की प्रथम कृति होने के कारण 'रेणुका' में विचारों के द्वैधीभाव और द्वन्द्वपूर्ण मनःस्थिति की रचनाएँ हैं। उसमें कहीं पौरुष का उद्दाम और उच्छल आवेग है, तो कहीं सुकुमार कोमल अनुभूतियों की रोमानी पेशलता। उसके कवि ने कहीं उजड़ते खलिहानों, कृश जर्जरकाय कृषकों, शोषण पर पनपने वाले जमींदारों और पूँजीपतियों एवं मजदूरों के भूखे-नंगे किशोर बालकों का मार्मिक चित्र अंकित करके युग की साहित्यिक-प्रवृत्ति प्रगतिवादी परम्परा में अपना नाम भरती करा लिया है, तो कहीं छायावाद की अमांसल और अपार्थिव अभिव्यक्ति के द्वारा वैयक्तिक अनुभूतियों के लाक्षणिक चित्र भी उपस्थित किए हैं। 'रेणुका' की समस्त कविताओं का वर्गीकरण हम इन्हीं दो प्रवृत्तियों के आधार पर कर सकते हैं। इस संग्रह की राष्ट्रवादी, क्रांतिपरक एवं भारत के अतीत गौरव से सम्बन्धित कविताएँ प्रगतिवाद की श्रेणी में आयेंगी। निराशा की कुहेलिका से परिपूर्ण तथा प्रकृति पर मानवीय भावनाओं के आरोप द्वारा कल्पनालोक के विहार में शान्ति की कामना प्रकट करने वाली रचनाएँ कवि की छायावादी मनोवृत्ति की द्योतक हैं। 'हिमालय', 'ताण्डव', 'कविता की पुकार', 'बोधिसत्त्व', 'कस्मै देवाय', 'मिथिला', 'पाटलिपुत्र की गंगा से', 'बागी' आदि कविताएँ प्रगतिवादी हैं और

'राजा-रानी', 'निर्झरिणी', 'विश्व-छवि', 'अमा-संध्या', 'फूल', 'गीतवासिनी', 'कवि', 'जीवन-संगीत' आदि कविताएँ छायावादी प्रवृत्ति से प्रभावित हैं।

राजनीतिक दृष्टि से भी कवि के विचारों में तब तक पूर्ण स्थिरता का भाव नहीं आ पाया था। 'रेणुका' की कुछ कविताओं में कवि गांधीवाद को अव्यवहार्य मानकर उसके स्वर्गगमन की कामना करता है—

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहां,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।

और क्रान्ति, हिंसा और युद्ध को ही परम वरेण्य मानता है—

पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर,
कह दे शंकर से, आज करें,
वे प्रलय-नत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर बम' का फिर महोच्चार।

वह ध्वंस का गायक बनकर पहले हमारे सामने आता है। 'रेणुका' की पहली रचना 'ताण्डव' में वह नटवर शंकर से प्रलयवाहक ताण्डव नृत्य की प्रार्थना करता है—

नाचो, अग्निखंड भर स्वर में,
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में,
अनिल-कोष, द्रुम-दल, जल-थल में,
अभय विश्व के उर-अन्तर में,
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार के उच्च शिखर में,
स्वामिन्, अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में।
डिम-डिम डमरु बजा निज कर में,
नाचो, नयन तृतीय तरेरे!
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो,
अर्चि-पुंज अम्बर को घेरे!
रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य और सुन्दर!

बाद की कविताओं में उसका यह प्रलयंकर रूप शान्त हो जाता है और वह लोक-जीवन से कुछ तटस्थ-सा होकर वैराग्य की वाणी में बोलने लगता है—

माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी?
भय है, सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी!
सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी?

सरल कंठ से विषय-राग कैसे मैं गाऊँ परदेशी ?

\+ +

मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी !
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी!

यह कविता छायावादी पलायन वृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। कवि फिर से अहिंसा, क्षमा, ममता, विश्व-बन्धुत्व और सत्य की बातें करने लगता है। 'संजीवन घन दो' कविता में कवि कहता है—

तप कर शील मनुज का साधें,
सबके प्राण कुसुम से बाँधें,
सत्य-हेतु निष्ठा अशोक की, गौतम का प्रण दो।
मन-मन मिलते जहाँ देवता ! वह विशाल मन दो।
देख सकें सबमें अपने को,
महामनुजता के सपने को,
हे प्राचीन ! नवीन मनुज को वह सुविलोचन दो।

'रेणुका'-कालीन दिनकर की यह डाँवाडोल मन:स्थिति तत्कालीन भारत के सामाजिक और राजनीतिक अस्थैर्य का परिणाम है। उस काल में एक ओर जहाँ आतंकवादी क्रान्तिदल के नवयुवक गांधीजी की सत्य-अहिंसा की नीति के विरुद्ध असन्तोष प्रगट कर रहे थे और अपने आतंकपूर्ण साहसिक कार्यों से हिंसा का आश्रय लेकर विध्वंसात्मक मार्ग का अवलम्बन कर रहे थे, वहाँ आगे चलकर उन्हें स्वयं गांधीवादी विचारधारा को अपनाना पड़ा। आतंकवादी दल कांग्रेस में ही विलीन हो गया। इस राजनीतिक अव्यवस्था और अनिश्चितता का ही प्रतिबिम्ब दिनकर के काव्य पर पड़ा है।

सब मिलाकर 'रेणुका' युग की परिस्थितियों का यथार्थ चित्र अंकित करने वाला प्रतिनिधि संग्रह है। यह ठीक है कि प्रथम रचना होने के कारण विचार का स्थैर्य और चिन्तन का तारतम्य नहीं है, कविताओं का संकलन भी विकास और कालक्रम को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया, फिर भी 'रेणुका' दिनकर के ओजस्वी व्यक्तित्व की पहली चिनगारी है और चिनगारी में पर्याप्त उष्णता, आग और पौरुष की पुंजीभूत ज्वाला है।

हुंकार

विश्वनाथसिंह

छायावाद के कल्पना-निकुंज से निकाल कर हिन्दी-कविता को जीवन के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाले समर्थ कवियों में दिनकर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाएगा। 'रसवन्ती' की 'नारी' शीर्षक कविता में मातृत्व को नारी-जीवन का चरम उत्कर्ष बताते हुए रमणी के माता बनने पर उन्होंने जो उत्प्रेक्षा की है, वह छाया-लोक से उतरकर जन-जीवन में प्रवेश करने वाली कविता-कामिनी के लिए भी उतनी ही सत्य है—

ऊपर ही ऊपर उड़ने वाली निर्बन्ध परी के
पहले-पहल चरण दोनों मिट्टी से आन लगे हैं।

लेकिन तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर 'पहले-पहल' शब्द हमारे इस नवीन रूपक के सर्वथा अनुकूल नहीं पड़ता। हिन्दी-कविता के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान में रखने पर भी यही स्थिति होती है। वस्तुतः भारतेन्दु-युग में कवि के चरणों ने मिट्टी को छोड़ा नहीं था, वह तो नयी कविता आयी, और उसके पीछे-पीछे कवि भी सामाजिक विषमता की भूमि को छोड़कर कल्पना-लोक की 'मधुमती भूमि' में पहुँच गया। वह जीवन की विभीषिकाओं को भूलकर सर्वथा गगन-विहारी हो चला। धरती की धधकती हुई ज्वाला का संवेदन प्राप्त करने की क्षमता उसमें शेष नहीं रही। इधर यह ज्वाला बढ़ने लगी तो बढ़ती ही गई। इसी ज्वाला को 'अग्निवीणा' पर नज़रुल ने स्वर-सन्धान किया, इसी ज्वाला का एक 'शोला' जोश की चमक बनकर फैला, और इसी ज्वाला के तेज से दिनकर का आविर्भाव हुआ, जिसके आतप में छायालोक का कल्पतरु झुलसकर रह गया। दिनकर के उदयकालीन स्फोट को ही हम 'हुंकार' के नाम से जानते हैं, जिसके मन्द्र घोष ने 'छायावन की रास' का वंशी-वादन बन्द करके छोड़ा।

आकाश के दिनकर के साथ धरती के इस दिनकर का साम्य नाममात्र का ही नहीं। सूर्य की उदयकालीन आभा की मधुरिमा में रजनी की स्वप्निल मादकता के अवसान और कर्मसंकुल जीवन के मंगलमय आरम्भ का संदेश निहित रहता है, दिनकर की 'रेणुका' में भी जो सुकुमार संकेत हैं, वे काल्पनिक प्रेयसों के रूप-जाल से विमुख करके हमें जीवन में व्याप्त सौन्दर्य की ओर उन्मुख करते हैं। उषा की माधुरी के सूर्य

की प्रखरता में परिणत हो जाने का जो क्रम है, कुछ-कुछ वही 'रेणुका' के बाद 'हुंकार' के प्रणयन में दीख पड़ता है । बाल-रवि की किरणों में तीक्ष्णता के भीतर से सौकुमार्य झाँकता रहता है, 'हुंकार' के कठोर आवरण में भी कवि-हृदय का कोमल स्वर प्रकट हो गया है । फिर भी यह तुलना आंशिक ही होगी, क्योंकि दिनकर का 'उदयकालीन स्फोट' मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर ताप की तरह तीव्र और अवांछनीय नहीं हो पाया । शायद इसीलिए सान्ध्य गगन के सूर्य की भाँति उसे निष्प्राणता से अभिशप्त भी नहीं होना पड़ा । दिनकर में बाल-रवि की तरह 'शृंगार और रौद्र का संगम' है, अतः वह स्पृहणीय है, वरेण्य है ।

'हुंकार' शीर्षक से विशुद्ध उत्साह का जो भाव अंकुरित होता है, वह विषय-प्रवेश के बाद अमिश्रित और एकरस नहीं रह पाता । इसमें स्थान-स्थान पर वीर रस की सुरसरिता में शृंगार की कालिन्दी और करुण की सरस्वती भी आकर मिलती गई है । यद्यपि वीर और करुण का मूल स्रोत अलग रहा है, शृंगार का अलग, फिर भी संगम होने के बाद इनका एक समन्वित रूप बन जाता है, जिससे समन्वित माधुर्य की उपलब्धि होती है । दिनकर के जीवन-दर्शन को समझ लेने पर यह मनोहर संगम बड़ा ही स्वाभाविक लगता है ।

जीवन के प्रति दिनकर का दृष्टिकोण अत्यन्त सीधा और सरल है । उसमें जटिलता या आत्म-विरोध का कोई स्थान नहीं । आत्म और अनात्म के घात-प्रतिघात से, वैयक्तिक संस्कारों और सामाजिक परिस्थितियों के परस्पर-प्रभाव से ही व्यक्ति का जीवन-दर्शन बनता है । जागरूक व्यक्ति के मानस में यह पारस्परिक घात-प्रतिघात आजीवन चलता रहता है । दिनकर की चेतना गतिशील है, इसलिए 'अहम्' की रक्षा करते हुए भी उन्होंने परिवर्तनशील 'इदम्' का सदा समादर किया है, और दोनों के समन्वय की चेष्टा की है । कला का सृजन व्यष्टि के द्वारा होता है, और पालन समष्टि के द्वारा । अतः आत्मसुख और जनहित, दोनों उसके अनिवार्य तत्त्व हैं । दोनों का सामंजस्य ही उसकी सफलता है । कला न आत्मकथा है, न हितोपदेश । वह न कलाकार का मानस-विहार है, और न लोक-सुधार का बौद्धिक उपचार । वह भावयोग की सामाजिक साधना है । सच्चा कलाकार लोहित में 'स्वान्तःसुख' का अनुभव करता है । इसे ही वस्तुतः 'कलागत या काव्यगत अव्यक्तिवाद कह सकते हैं, जिसमें व्यक्तित्व का विसर्जन हो जाता है, यही लोक-हृदय की सच्ची पहचान है, जिसके सहारे 'हृदय की मुक्तावस्था रसदशा को प्राप्त करती है' । यह साधना बहुत बड़ी है, और 'हुंकार' का कवि इस साधना में बहुत अंशों तक सफल रहा है ।

दिनकर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर उसमें दो विरोधी भाव-धाराएँ स्पष्ट रूप से दीख पड़ती हैं । यह अकारण नहीं । दिनकर के संस्कार बहुत-कुछ सौन्दर्य-वादी हैं, किन्तु इसके विपरीत उनका परिपार्श्व एक नग्न यथार्थ है । उन्होंने जब साहित्य की दुनिया में आँख खोली तब तक हिन्दी की नयी कविता-लता परवान चढ़ चुकी थी । ऐसी अवस्था में इस नयी (छायावादी) कविता के द्वारा उनके साहित्यिक संस्कारों का स्वरूप-निर्माण अत्यन्त स्वाभाविक था । छायावाद की चेतना सौन्दर्य-प्रधान रही ।

छाया-युग में सौन्दर्य न केवल कवि-कल्पना का आधार, बल्कि जीवन की समस्याओं का निदान बनकर प्रस्तुत हुआ। इसलिए सुन्दर का आग्रह ही दिनकर की मूलवृत्ति है। उनका 'कवि' सौन्दर्य का उपासक है। पर उनके व्यक्तित्व का एक सामाजिक पहलू भी है, जो उनके भीतर के मनचले कवि पर अनुशासन करता है, जो भावना की अपेक्षा कर्तव्य को, कल्पना की अपेक्षा यथार्थ को अधिक सत्य समझता है, जो कवि को युग के रोदन-क्रन्दन से विमुख होकर कविता-रानी के साथ काल्पनिक विहार करने की अनुमति नहीं दे पाता। इन दोनों विरोधी तत्त्वों में सन्तुलन रखने की अनवरत चेष्टा ही दिनकर के जीवन-दर्शन की कुंजी है। इस चेष्टा में कभी किसी एक तत्त्व की प्रधानता देखकर उसे ही कवि की मूल वृत्ति मान बैठना एकांगी दृष्टि का परिचायक होगा। दिनकर के व्यक्तित्व के लिए 'अंगारे पर खेलते हुए इन्द्रधनुष' का अप्रस्तुत कुछ वैसा ही है। इससे कवि का जीवन-दर्शन समझने वाली बुद्धि नहीं प्रकट होती, उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा चमत्कृत करने का आशय व्यंजित होता है।

शेक्सपियर की आलोचना करते हुए टी० एस० इलियट ने लिखा है कि कृतियों की विविधता के भीतर से एक महत्त्वपूर्ण, सुसंबद्ध और विकासशील व्यक्तित्व की व्यंजना किसी भी बड़े कवि के लिए आवश्यक होती है।[१] आधुनिक हिन्दी-कवियों में दिनकर की यह प्रमुख विशेषता है। उनकी कृतियों को संश्लिष्ट रूप से देखने पर उनके व्यक्तित्व में आपातत: प्रतीत होने वाला विरोध नहीं रह जाता। पर यह काम ज़रा कठिन पड़ता है। केवल 'हुंकार' में चंचु-प्रवेश करके दिनकर को आतंकवाद का गायक मान लेना अधिक सरल है, और इस पूर्वाग्रही दृष्टि से उनकी नयी कविता को देखकर यह घोषणा कर देना कि दिनकर का अस्त हो गया, बड़ी सस्ती मौलिकता है। इसका एक कारण शायद यह भी हो कि 'हुंकार' का कवि 'रसवन्ती' और 'सामधेनी' के कवि से अधिक लोकप्रिय रहा। किन्तु, लोकप्रियता गुण की अन्तिम कसौटी कभी नहीं होती। समष्टि की अपेक्षा व्यक्ति का मानसिक स्तर सदा ऊँचा रहता है और कला-सृजन की तरह कला की परख भी व्यक्ति ही करता है। इलियट की यह धारणा बहुत-कुछ सही है कि कवि की प्रशंसा करते समय उसके उन्हीं अंशों पर हम विशेष बल देते हैं, जिनमें परम्परागत मान्यताओं का विरोध रहता है।[२] यह प्रवृत्ति समष्टिगत है। व्यक्ति चेष्टा करे

---

१. A man might, hypothetically, compose any number of fine passages or even of whole poems which would each give satisfaction, and yet not be a great poet, unless we felt them to be united by one significant, consistent and developing personality.

२. Our tendency (is) to insist, when we praise a poet, upon those aspects of his work in which he least resembles anyone else...we dwell with satisfaction upon the poet's difference from his predecessors, especially his immediate predecessors; we endeavour to find something that can be isolated in order to be enjoyed.

—Tradition and the Individual Talent
By T.S. Eliot.

तो इससे ऊपर उठ सकता है और इससे ऊपर उठकर ही वह कवि को समझ सकता है।

दिनकर मूलतः सौन्दर्य के कवि हैं। मूल रूप में उनका सौन्दर्यबोध छायावादी कवियों की तरह सीमित और एकदेशीय है। जीवन में जो कुछ कोमल है, उसके प्रति दिनकर का आन्तरिक आग्रह है, और जो कुछ भीषण है उसे वे सामाजिक चेतना के आदेश से ही स्वीकार कर पाते हैं। उन्होंने एक ओर तो कवि को उमंग से तरंगायित, मधुरिमा से मंडित और दिव के सुकुमार अंचल में कल्पना-कुमारी के साथ आनन्द-विहार करने वाला पुलकित राजकुमार[1] कहा है, और दूसरी ओर विश्व को जीवन का रसपीयूष दान कर देने वाला व्यथा का राजकुमार[2]। उनका कवि 'फूलों की मुसकान' भी बनना चाहता है[3] और कुसुम का कमनीय गात लेकर शूलों की चुभन भी सहता है[4]। कवि का यह विरोधी पक्ष अंकित करने में दिनकर का आन्तरिक द्वन्द्व ही प्रतिबिम्बित हुआ है। 'हुंकार' में अपना परिचय देते हुए कवि ने इसी प्रकार विरोधी भावनाओं का सहारा लिया है। कवि 'कली की पंखुड़ियों पर चमकते हुए ओसकण में बन्द रंगीले स्वप्नों का संसार' है, फिर भी उसकी चिर-सहचरी मिट्टी ही है, जिसमें वह सैकड़ों बार विलीन हो चुका है। वह विश्व की कोमल-से-कोमल विभूति और प्रचंड शक्ति है—

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ,
किसी का हाय, खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर-तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

\+ \+

---

१. नवल उर में भर विपुल उमंग,
विहँस कल्पना-कुमारी-संग,
मधुरिमा से कर निज शृंगार,
स्वर्ग के आँगन में सुकुमार!
मनाते नित उत्सव-आनन्द,
कौन तुम पुलकित राजकुमार!

कवि (रेणुका)

२. कवि! स्वर्ग-दूत या चरम स्वप्न
विधि का तुमको सुकुमार कहें?
नन्दन-कानन का पुष्प, व्यथा
जग का या राजकुमार कहें।

कवि (रसवन्ती)

३. पुलक से खिल-खिल उठते प्राण
बनो कवि! फूलों की मुसकान।

कवि (रेणुका)

४. विधि ने भूतल पर स्वर्ग-लोक
रचने का दे सामान तुम्हें,

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा ?
स्वयं युग-धर्म का हुँकार हूँ मैं,
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का,
प्रलय-गाण्डीव की टंकार हूँ मैं।

किन्तु, इस परिचय से यह नहीं ज्ञात हो पाता कि कौन-सा मनोभाव कवि में मूलतः प्रधान है, किस पक्ष का समर्थन उसका अपना हृदय करता है, एकान्त में अपने को टटोलने पर कौन-सी आवाज़ उसके अन्तर से निकलती है। 'असमय आह्वान' शीर्षक कविता में यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई है।

कवि अपनी स्वामिनी—क्रान्ति कुमारी—के आदेश पर पौरुष का राग गाया करता है। दिनभर 'रक्त-कर्दम' में रजत-शृंगी से भैरव नाद फूँककर एक बार जब वह संध्या-समय 'पूर्ण विधु का मादक शृंगार' देखने लगा तो उसके अन्तर में सोयी हुई कोई पुरानी पीर अंगड़ाइयाँ लेकर जाग उठी। कवि मचल पड़ा—

न लूँगा आज रजत का शंख,
न गाऊँगा पौरुष का राग;
स्वामिनी ! जलने दो उर-बीच
एक पल तो यह मीठी आग।

पर इसके अनुनय-विनय की कोई सुनवाई नहीं। स्वामिनी का यह 'असमय आह्वान' इतना 'निष्ठुर', इतना 'कठोर', इतना 'दारुण' है कि कवि अपने तड़पते अरमानों को छिपकर भी प्यार नहीं कर पाता। सेवा-धर्म बड़ा ही कटु होता है। इसमें अनुचर अपने पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। कवि भी अपने प्रेम को दबा देता है, और झुँझलाकर स्वामिनी के आज्ञा-पालन के लिए चल पड़ता है—

फेंकता हूँ, लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे ! बीन के तार;
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव हुँकार।

लेकिन जाते-जाते वह अपनी उपेक्षित अन्तर्व्यथा की ओर संकेत करता गया है—

हँसो, हिल-डुल वृन्तों के दीप !
हँसो, अम्बर के रत्न अनन्त !
हँसो, हिल-मिलकर लता-कदम्ब !
तुम्हें मंगलमय मधुर वसन्त।
चीर कर मध्य, निशा की शान्ति
कोकिले, छेड़ो पंचम तान;
पल्लवों में तुमसे भी मधुर
सुला जाता हूँ अपने गान।
भिगोयेगी वन के सब अंग
रोर कर जब अबकी बरसात,

बजेगा इन्हीं पल्लवों-बीच
विरह मेरा तब सारी रात।

दिनकर में व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व का जो अनवरत घात-प्रतिघात चलता रहता है, उसमें 'परिस्थिति या मनःस्थिति के कारण' कभी किसी एक की प्रधानता हो जाती है। 'हुंकार' में समाज-तत्त्व की प्रधानता है। दिनकर ने समाज की वेदी पर अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षाओं को उत्सर्ग कर दिया है। 'असमय आह्वान' उनकी आन्तरिक दुर्वलता की ओर संकेत करते हुए क्रान्ति-भावना के द्वारा उसका पराभव व्यक्त करता है। फिर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस पराभूत, पराजित, दवी हुई भावना की प्रमुखता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। यह भ्रमवश ही कहा गया है कि विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी दिनकर के हृदय के किसी कोमल तन्तु और सुकुमार भावना ने ही उन्हें कवि बना दिया, अन्यथा वह राजनीतिक क्षेत्र में कूदकर दुर्द्धर्ष आतंकवादी बन जाते। ठीक इसके विपरीत, सचाई यह है कि यदि युग की विभीषिका काफी प्रबल नहीं होती तो वह निश्चय ही सौन्दर्य के भावक और प्रेम के गायक होते। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा भी है—

रंगों की दुनिया जो एक मिली थी,
मिट्टी को दी चढ़ा भेंट वह मैंने।
यज्ञारणि की कलम आज है कर में
सुप्रणीत सिद्धाग्नि जलाने वाली।[1]

इन पंक्तियों के होते हुए दिनकर के 'हुंकार' से कोई दूसरा निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है, समझ में नहीं आता। 'रेणुका' और 'रसवन्ती' की अनेक कविताएँ इसी धारणा का पोषण करती हैं।

कवि के जीवन-दर्शन के अनुसार 'हुंकार' की कविताओं के मुख्यतः दो वर्ग हो सकते हैं। 'असमय आह्वान', 'वसन्त के नाम पर', 'साधना और द्विधा' आदि एक वर्ग में आती हैं, जिनमें कवि का द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। यहाँ कवि अपनी दिशा निर्धारित करता है, और उस दिशा में कुछ दूर तक चलता भी है। दूसरे वर्ग की प्रतिनिधि 'दिगम्बरि', 'विपथगा', 'स्वर्ग-दहन', 'हिमालय' आदि कविताएँ हैं, जिनमें कवि अपने अभीप्सित मार्ग पर काफी आगे बढ़ गया है। 'असमय आह्वान' 'हुंकार' की पहली कविता है, और वह जैसे हमें द्वार पर ही रोककर आगे आनेवाली मनःस्थितियों की विविधता में तारतम्य स्थापित करने के लिए एक केन्द्रविन्दु से परिचित करा देती है। इस कविता का नाम विलकुल सार्थक है। कवि स्वभावतः सौन्दर्य और प्रेम की ओर अभिमुख होता है, पर एक प्रबल शक्ति उसे बड़े वेग से अपनी ओर खींचती है। उसका आह्वान बड़ा ही 'असमय' होता है। थोड़ी देर तक कवि गहरे असमंजस में पड़ा रह जाता है, पर शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर भैरव-हुंकार कर उठता है। 'साधना और द्विधा' में यही मनः-

---

१. कल्पना की दिशा (हुंकार)।

स्थिति दूसरे ढंग से व्यक्त हुई है। अलस वासन्ती चाँदनी और मन्द-मन्द पुरवैया के वातावरण में कवि अपनी कल्पना के साथ विहार कर रहा है। प्रकृति का अणु-अणु उसे अपना सौन्दर्य, अपनी व्यथा, अपना रहस्य दिखाने लगता है, तब तक धरती के हाहाकार की क्षीण प्रतिध्वनि उसके सामने एक ज्वलन्त समस्या लेकर उपस्थित हो जाती है और वह सोचता रह जाता है। 'कल्पना की दिशा' में कवि स्वर्ग की अप्सराओं के पीछे बहकने वाले मन को संयमित करके क्रान्तियज्ञ का होता बनता है। 'फूलों के पूर्व-जन्म' का इतिहास कहते हुए भी वह क्रमशः श्रृंगार से वीर और करुण की ओर बढ़ा है। इसी प्रकार वसन्त के नाम पर कवि ज्यों ही सौन्दर्य के गीत गुनगुनाना चाहता है, त्यों ही जीवन का पतझड़ उसका ध्यान अपनी ओर खींच लेता है, और हृदय में एक हूक-सी उठकर रह जाती है।

'हुंकार' के कवि का द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व प्रकट करने वाली इन कविताओं में टेकनीक की विशेषता दर्शनीय है। इस दृष्टि से 'असमय आह्वान', 'वसन्त के नाम पर' और 'कल्पना की दिशा' की तुलना सियारामशरण गुप्त के 'स्वप्नभंग'[1] से कर सकते हैं, जिसमें एक पिटती हुई बालिका का क्रन्दन-स्वर समाधिस्थ कवि को नन्दन-कानन से धरती पर खींच लाया है। यह कविता कल्पना के स्पर्श से सर्वथा शून्य, केवल अनुभूति के बल पर टिकी हुई और बहुत-कुछ संस्मरणात्मक है, जैसी दिनकर की 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' है या जैसी बच्चन की अनेक कविताएँ हुआ करती हैं। इसलिए काव्योत्कर्ष की कसौटी पर 'स्वप्नभंग' इन कविताओं के समकक्ष स्थान पाने योग्य नहीं, केवल तकनीक की समानता ही तुलना का विषय है।

सौन्दर्य-बोध और युग-धर्म की विरोधी प्रवृत्तियों को समानान्तर रखकर एक के ऊपर दूसरी की विजय का प्रतिपादन ही 'स्वप्नभंग' का और दिनकर की इन कविताओं का लक्ष्य है। 'स्वप्नभंग' का कवि कल्पना की वायव्य भूमि में प्रवेश करके भी मिट्टी की पुकार सुनाता है, यही बात दिनकर में भी है। सियारामशरण की तरह दिनकर ने भी पहली प्रवृत्ति को पूर्व-पक्ष और दूसरी को उत्तर-पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। पर सियारामशरण की तकनीक अत्यन्त साधारण है, दिनकर ने उससे एक पग आगे बढ़कर तकनीक में कुछ वक्रता लाने का प्रयास किया है। इन्होंने पूर्व-पक्ष को मूल रूप में नहीं, बल्कि उत्तर-पक्ष की प्रतिक्रिया के रूप में रखा है। सौन्दर्य-बोध युग-धर्म की साधना के मार्ग में आया हुआ विभ्रम है, इस बात का प्रच्छन्न संकेत करके वे भावक को यह समझने के लिए छोड़ देते हैं कि उनका कोमल हृदय परिस्थितियोंसे प्रतिक्रियात्मक उत्तेजना पाकर भी किस तरह संयमित रहा है। 'साधना और द्विधा' में यह विशेषता नहीं मिलती। 'फूलों के पूर्वजन्म' में पूर्व-पक्ष पर उत्तर-पक्ष की विजय सर्वथा व्यंग्य हो गई है। जूही, चम्पा, छुईमुई आदि सामान्य फूलों को तो कवि ने सौन्दर्य और प्रेम का प्रतीक माना है, पर फूलों के राजा गुलाब में उसने देशभक्तों के शोणित की लाली देखी है। इसकी सफल तकनीक का बहुत-कुछ श्रेय कल्पना को दिया जाना चाहिए।

---

१. दैनिकी में संगृहीत।

दूसरे वर्ग की कविताओं में कवि की मनःस्थिति द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त दिखाई पड़ती है। 'हुंकार' में इस वर्ग की कविताएँ परिमाण और गुण, दोनों ही दृष्टियों से प्रमुख हैं। इनमें सामाजिक वैषम्य का करुण चित्र और क्रान्ति का आह्वान मिलता है। कहीं-कहीं जड़ प्रकृति पर अपनी भावनाओं का आरोप करके करुणा की बड़ी मार्मिक व्यंजना की गई है। 'हुंकार' का रचनाकाल देश में राजनीतिक दासता, सामाजिक शोषण, उत्पीड़न और रोदन-क्रन्दन से उत्पन्न निराशा का काल था। जगद्गुरु भारतवर्ष अपनी सम्पूर्ण गौरव-गरिमा का विस्मरण करके सुषुप्त सिंह की तरह कर्त्तव्यमूढ़ता की कन्दरा में पड़ा हुआ था। उधर विश्व के रंगमंच पर नर-संहार का अभिनय करने की तैयारी विशाल पैमाने पर आरम्भ हो गई थी। कवि की मानवता जाग उठी और वह प्रेयसी को कल्पना के केलि-मन्दिर में रोती-बिलखती छोड़कर उस रणक्षेत्र की ओर भागा जहाँ विकट हिंसा-उत्सव में मरण की विषम रागिनी रणित हो रही थी, जहाँ मानव-संस्कृति का शुभ्र पट शोणित से रंगा जा रहा था। उसने देखा, इस दानवी सभ्यता से परित्राण का कोई उपाय न था। चारों ओर से थककर कवि अत्याचारों के समुद्र से उत्पन्न होने वाली क्रान्ति-कुमारी को ढूँढने लगा। उसने क्रान्ति के गीत गाये, सामाजिक वैषम्य को चुनौती दी, मानवता के स्वर्णिम भविष्य का मनोहर सपना देखा। उसने अपने मार्ग को समझा, अपने लक्ष्य को पहचाना और युवकों को अपने साथ चलने के लिए प्रेरित किया। यौवन उद्दाम होता है, भावुक होता है। वह जिस ओर मुड़ता है, बड़े वेग से मुड़ता है। क्रान्ति का भार-वहन करने के लिए हृदय में जिस अपार वेग की, भुजाओं में जिस अदम्य शक्ति की आवश्यकता होती है, वह युवकों में ही प्राप्य है। इसलिए दिनकर ने युवकों से दो बातें कर लेने का कोई अवसर जाने नहीं दिया है।

युग की विभीषिकाओं का करुण चित्रण और क्रान्ति का दर्पपूर्ण आह्वान यद्यपि दिनकर की मूल वृत्तियाँ नहीं, फिर भी ये काव्योत्कर्ष में बाधक न होकर साधक ही हुई हैं। कारण स्पष्ट है। कवि को अनुभूति का सबसे बड़ा बल प्राप्त है। शोषितों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति प्रदर्शित करके उसने कलागत ईमानदारी का अपमान नहीं किया। दिनकर ने समाज को, देश को, युग को, कल्पना के रंगीन चश्मे के बदले यथार्थ के नग्न नेत्रों से देखा है। उन्होंने 'दूध-दूध' की रट लगाते हुए अबोध शिशुओं को श्वानों से भी गई-बीती दशा में मरते देखा है, निर्बल को लांछित, अपमानित, पददलित होकर निर्लज्जतासे जीते देखा है, व्याज के ठीकरे चुकाने के लिए नारी की लाज—उसकी चिर-संचित निधि—लुटते देखी है। अत्याचार के विरोधियों को बेज़बान होकर, तिल-तिल कर प्राण-विसर्जन करते देखा है। और उन्होंने यह सब खुली आँखों से देखा है। कवि भी मनुष्य है। उसमें भी मानवता है,ऐसे दृश्यों से स्वभावतः उसका ख़ून खौलने लगता है, और वह उबल पड़ता है।

जीवन की अनेक समस्याएँ एक साथ ही दिनकर के समक्ष उपस्थित हो गई हैं। राजनीतिक दासता का अन्त, आर्थिक वैषम्य का परिहार और मानवता का संहार से परित्राण—यह समस्याओं का त्रिकोण है, जिसके समाधान से देश में, अपितु सारे विश्व में नये जीवन और नयी मानवता का उन्मेष होगा। दिनकर में यौवन है, पौरुष है। यौवन में उत्साह का वेग होता है, विवेक की स्थिरता नहीं। अनुभूति की मार्मिकता से

यह वेग और बढ़ जाता है। दिनकर में एक कवि भी है, जो अनुभूतिशील है। वह ठहरता नहीं, ठहरकर सोचता नहीं, बस, अपने मार्ग पर चलता है और चलता जाता है। उसका मार्ग क्रान्ति का है, युद्ध का है।

अपने चतुर्दिक् 'अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन' प्रवर्तन देखकर कवि क्षोभ से भर उठा है। यह क्या हो रहा है ? सीधी-सी तो बात है—क्रान्ति ही युग की सारी समस्याओं का एकमात्र समाधान हो सकती है। इसके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं। निदान, कवि क्रान्ति का आह्वान करता है। 'विपथगा' और 'दिगम्बरि' में कवि ने क्रान्ति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण ही नहीं, उसकी तीव्र अनुभूति भी की है। उसने अपनी धमनियों में सन-सन करते हुए उष्ण रुधिर में ही क्रान्ति का पद-चाप सुना है। उसने अध्ययन के आधार पर क्रान्ति की कल्पना नहीं की, अनुभूति के द्वारा उसकी भावना की है। उसने क्रान्ति को आते हुए देखा है, अनुभव किया है—

दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को;
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।
कलेजों से लगी बत्ती कहीं कुछ जल रही है;
हवा की साँस पर बेताब-सी कुछ चल रही है।
धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई।

यही कारण है कि उसके द्वारा अंकित क्रान्ति का चित्र मांसल है, और भारतीयता के संस्पर्श से अनुप्राणित है। कवि के लिए क्रान्ति एक भाव-मात्र नहीं, वह सशरीरी मानवी हो गई है, तथापि उसका रूप-सौन्दर्य, उसकी वेशभूषा और चाल-ढाल, उसका रहन-सहन सभी असाधारण हैं—

मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन;
मुझ चिर-कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चन्दन;
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन,
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन।

क्रान्ति-कुमारी को स्वयं अपने मार्ग का पता नहीं, क्योंकि उसका कोई निश्चित मार्ग नहीं होता, वह 'विपथगा' है। वह मिट्टी से जागकर अम्बर में आग लगाती है, लेकिन कब ? यह ज्ञात नहीं—

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात, किस रोज किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी।

'तिमिर के भाल पर चढ़कर विभा के बाणोंवाले' नये अभियानी उसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, मानवता मन मारकर अपमान-अत्याचार सहती रहती है, और उधर क्रान्ति-कुमारी का यौवन कसमस करता है। सहसा चिंघाड़कर वह दस्यु-दलन करने को उठ खड़ी होती है, और तब—

चढ़कर जनून-सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर;
आतंक फैल जाता कानूनी पार्लमेंट, सरकारों पर;

'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुंकारों पर,
कर अट्टहास इठलाती हूँ जारों के हाहाकारों पर,
झंझा-सी पकड़ झकोर हिला देती दम्भी के सिंहासन।

'विपथगा' और 'दिगम्बरि' में क्रान्ति का चित्रण दिनकर की अपूर्व सफलता है।

इस वर्ग की कविताओं में कुछ ऐसी हैं, जिनमें कवि ने क्रान्ति की प्रेरक स्थितियों को मूर्त्त कर दिया है। 'हिमालय' में कवि विविध व्यालों द्वारा देश के दंशित होने की चर्चा करके उस 'पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल' से युग की शंखध्वनि में अपने हुंकार का स्वर भरने की याचना करता है। 'स्वर्ग-दहन' में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि कवि की वंशी के छिद्रों से उठकर जो 'लपट-लूक' स्वर्ग को जला रही है, उसका जन्म-स्थान धरती ही है। 'हाहाकार' शीर्षक कविता में धरती के उन करुण दृश्यों का विशद रूप से अंकन हुआ है, जो कवि के भावुक हृदय को क्रान्ति की ओर प्रेरित करते हैं।

'हुंकार' का कवि क्रान्तिकारी है, पर आतंकवाद की धारा में उसने अपने को नहीं बहाया।

उसकी क्रान्ति-भावना सर्वथा उत्तेजना और आवेश का ही परिणाम नहीं, बल्कि एक सुचिन्तित जीवन-दर्शन है, यद्यपि कवि का चिन्तन अवस्था के आग्रह के कारण अपरिपक्व-सा दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त, कविता में तर्क-वितर्क और युक्तियों का नहीं, भावनाओं का विधान होता है। इसलिए भी दिनकर की क्रान्ति-भावना केवल मनोवेग पर आधारित-सी लगती है। आतंकवादियों की तरह भविष्य के स्पष्ट ज्ञान का अभाव दिनकर में नहीं। 'कविता का हठ' में उनकी 'भावों की रानी' भू पर स्वर्ग के चित्र बनाने की ओर संकेत करती है, और कहती है—

एक विश्व के लिये लाख स्वर्गों को मैं ललचाऊँगी।

दिनकर की क्रान्ति-भावना क्षुद्र नदी का बरसाती पानी नहीं, सागर का गम्भीर जल है।

भारतीयता दिनकर के संस्कारों में व्याप्त है। उन्होंने भारतीयता को प्रत्येक दृष्टिकोण से महत्त्व दिया है। हमारे देश की आत्मा गाँवों में वास करती है, इसे कवि ने समझा है। 'वन-फूलों की ओर' शीर्षक कविता में कवि-कल्पना वन्य कुसुमों की तरह उपेक्षित गाँवों में जाकर उनके-सौन्दर्यमय और प्रेममय जीवन की सहचरी बनना चाहती है, पर वहाँ भी उसे करुण अनुभूतियों से अवकाश नहीं मिल पाता। इस एक रचना में कवि ने भारत की ग्रामीण संस्कृति के प्रति अपना आकर्षण, गाँवों का सौन्दर्य, उनकी दुरवस्था और ग्रामीणों का विवश जीवन—सभी कुछ साकार कर दिया है। देश के वर्तमान रूप तथा उनके गौरव में मग्न होने वाला हृदय भाव-संचार के विस्तृत क्षेत्र की खोज में अतीत की ओर ही देखता है। दिनकर ने भी चन्द्रगुप्त, गौतम बुद्ध, अशोक, महाराणा प्रताप, दुर्गादास, अकबर, जहाँगीर और मगध, पाटलिपुत्र, राजगृह, मिथिला, वैशाली आदि ऐतिहासिक नामों के संकेत से हमारे लुप्त गौरव को मूर्त रूप देने की चेष्टा की है। शुक्लजी के शब्दों में ऐसे स्थलों पर स्मृत्याभास कल्पना ने प्रत्यभिज्ञान का रूप धारण कर लिया है, जो उसकी सजीवता का चरम बिन्दु है। 'हिमालय' और

'दिल्ली' में यह सजीवता स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती है।

विषय के अनुकूल 'हुंकार' में वीर, शृंगार और करुण रस के मार्मिक चित्र मिलते हैं। दिनकर की प्रतिभा तीनों रसों में समान रही है। इसका कारण यह है कि वे अपनी मन:स्थिति के साथ अन्याय नहीं करते। प्रणय का अनुभव करते समय अकाल पर कविता लिखना उनके लिए उतना ही कठिन है, जितना अकाल पर लिखते समय प्रणय का अनुभव करना। यह सच है कि चित्तवृतियाँ सदा स्थिर नहीं रहतीं। अत: उनके परिवर्तन के साथ-साथ कविता के भाव में भी परिवर्तन स्वभाविक होता है। दिनकर इस स्वाभाविकता को दोष नहीं मानते। इसीलिए उनकी कविता में एक प्रकार का नैसर्गिक सौन्दर्य रहता है।

'हुंकार' में इन तीन रसों का समावेश अधिकतर पृथक्-पृथक् न होकर साथ-ही-साथ हुआ है, फिर भी एक के बाद दूसरे का विकास-क्रम दर्शनीय है। लगता है जैसे कवि अनुभूति और अभिव्यक्ति एक साथ ही कर रहा हो, यह नहीं कि एकान्त में भावनाओं का स्मरण करके कविता लिखी गई हो।

अनुभूति की मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति की कुशलता दिनकर का सहजात गुण है। उनकी भाषा प्रौढ़, प्रांजल और व्याकरणसम्मत है। न्यून पदत्व का दोष, जो प्रसाद जैसे मूर्द्धन्य कलाकारों की विशेषता बन गया है, दिनकर में बिलकुल नहीं मिलता। अधिक पदत्व भी संभवत: कहीं नहीं आने पाया है। आधुनिक हिन्दी-कवियों में दिनकर, बच्चन और नेपाली की भाषा एक प्रकार की कही जा सकती है। इस तुलना के दो आधार हैं—प्रसादगुण और अव्यर्थपदत्व। दिनकर की अपेक्षा बच्चन और नेपाली में प्रसाद कुछ अधिक हो सकता है, परन्तु कविता में वाक्यों का जैसा व्याकरणसम्मत विन्यास और शब्दों का जैसा उचित संस्थान दिनकर में है, वैसा किसी में नहीं। प्रसाद के साथ-साथ ओज और माधुर्य भी उनमें मिलता है। 'दिगम्बरि' और 'विपथगा' का ओज बड़ा ही कलात्मक है। दिनकर की कला यह है कि वे रीतियों का सहारा लिये बिना ही कविता में गुणों का समावेश कर लेते हैं। उपर्युक्त कविताओं में एक भी परुष वर्ण नहीं, फिर भी क्रान्ति का वर्णन पढ़कर रोमांच हो आता है। शब्द-मैत्री के अभाव में, केवल भावनाओं के ज़ोर से यह प्रभाव उत्पन्न करने की कला हिन्दी-साहित्य में विरल है। 'विपथगा' का शीर्षक और पहली पंक्ति पढ़कर कोई नहीं कह सकता कि अभिसार के लिए प्रस्थान करती हुई किसी परकीया नायिका की पायल का स्वर यह नहीं है। केवल 'स्वर्ग-दहन' में कवि ने ओज लाने के लिए संयुक्त और परुष व्यंजनों, दीर्घ स्वरों तथा बिम्ब विधायक शब्दों का प्रयोग किया—

मेरी ध्वनि के छा गये त्रिदिव में प्रतिध्वान,
सुरवर्त्म स्तब्ध, रुक गया विभावसु का विमान।

कवि अपनी वंशी पर धरती की ज्वाला के गीत गा रहा है। उसकी वंशी से करुण रागिनी निकल रही है, जिसकी लपटों में स्वर्ग को जला डालने की शक्ति है। इसलिए कोमल 'प्रतिध्वनि' के बदले कवि ने परुष 'प्रतिध्वनि' को पसन्द किया है। 'प्रतिध्वनि' का अन्तिम ह्रस्व इकार 'ध्व' को भी कोमल बना देता था, 'प्रतिध्वान' में

'ध्वा' का दीर्घत्व उसके प्रभाव को द्विगुणित कर रहा है। यह दीर्घत्व प्रतिध्वनि का विस्तार सूचित कर रहा है, सो अलग आकाश के निस्वन और आश्चर्यचकित होने की समन्वित व्यंजना एक 'स्तब्ध' से हो जाती है। 'स्तब्ध' से इन दोनों का सम्मिलित बिम्ब-ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'रुक' शब्द भी काफी चित्रात्मक है। प्रथम पंक्ति में 'ध्वनि' के प्रतिध्वान का त्रिदिव में छा जाना कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि 'ध्वनि' का अस्तित्व वैसा ही सामान्य और कोमल है, जैसा कवि की वंशी पर फूँकी जाने वाली 'हृदय की करुण हूक' का व्यक्तित्व। कवि स्वयं नहीं जानता कि यह 'करुण हूक' स्वर्ग को कैसे जला सकती है। संभवतः इसकी करुणा में दाहक शक्ति है। 'ध्वनि के प्रतिध्वान' में करुण भावों का दाहक हो जाने की व्यंजना है। सारी कविता इसी प्रकार की ध्वन्यात्मक व्यंजनाओं से भरी पड़ी है। परुष वर्णों का विन्यास तो सर्वत्र ही है—

मन्दार तप्त, तप रहा सुरों का गन्धवाह,
भ्रम रहा स्वर्ग में स्वरारूढ़ भू का प्रदाह।
दृग्विद्ध विवश फट रहा छिन्न घन-सा प्रकाश,
गुंजित अम्बर के रन्ध्र-रन्ध्र में अग्नि-हास।

पर यह अपवाद है, जो नियम को सिद्ध करता है। प्रेषणीयता के लिए रसात्मक प्रतीकों का चयन भी दिनकर की अपनी विशेषता है। ये प्रतीक प्रायः इतिहास से लिये गये हैं। इनमें स्वतः रस-संचार की क्षमता रहती है, क्योंकि जनता के संस्कारों में इनका पहले से प्रवेश रहता है।

प्रभाव को अधिक प्रेषणीय बनाने के लिए दिनकर ने लोक-प्रचलित गीतों की कड़ियाँ या किसी अन्य कवि की लोक-प्रचलित पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। हिन्दी में तार-सप्तक के कवियों से लेकर अंग्रेज़ी में टी० एस० इलियट तक, सभी प्रयोगवादियों ने यह प्रणाली अपनायी है। पर यह कलात्मकता अन्यत्र नहीं मिलती। 'वन-फूलों की ओर' में दो ऐसे प्रयोग बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। 'दिल्ली' में 'रामचरितमानस' की ये दो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं—

बहै न हाथ, दहै रिसि छाती।
भा कुठार कुंठित रिपुघाती॥

परशुराम के व्यक्तिगत क्रोध की व्यंजना की अपेक्षा दलित-अपमानित जनता का समष्टिगत क्रोध अधिक तीव्र है, और उसके शमन का मार्ग नहीं मिलना अपेक्षाकृत अधिक सार्थक है। वस्तुतः ये पंक्तियाँ 'मानस' से अधिक उपयुक्त यहीं जान पड़ती हैं। प्रसंग की इस मार्मिक पहचान के लिए दिनकर की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।

छायावाद का लाक्षणिक वैचित्र्य भी दिनकर में है, लेकिन उसमें छायावादी वक्रता औचित्य की सीमा के अन्तर्गत रही है। विविध प्रकार की अप्रस्तुत योजना उन्होंने की है। कहीं-कहीं तो अमूर्त उपमान बड़े ही मार्मिक लाये गये हैं—

बेबसी में काँपकर रोया हृदय,
शाप-सी आहें गरम आयीं मुझे,

माफ करना, जन्म लेकर गोद में,
हिन्द की मिट्टी ! शरम आयी मुझे !

यहाँ गरम आहों की उपमा शाप से दी गई है । देश का विभाजन होते देखकर जो गरम आहें निकलीं वे शाप की तरह प्रभावोत्पादक हैं, अव्यर्थ हैं— यह ध्वनि उपमा का स्वारस्य द्विगुणित कर देती है ।

दिनकर का सबसे बड़ा दोष है पुनरुक्ति । एक ही भाव अनेक कविताओं में व्यक्त हो तो वह किसी तरह क्षम्य है, किन्तु एक ही प्रतीक, एक ही अप्रस्तुत, एक ही वाक्य या वाक्य-खंड का अनेकशः पाया जाना किसी तरह उपेक्षणीय नहीं । स्वर्ग को लूटने या जलाने का एक ही भाव 'स्वर्ग-दहन', 'विपथगा', 'हाहाकार' 'अनल-किरीट' आदि अनेक कविताओं में मिलता है । किरणों के 'तीर' का अप्रस्तुत 'आमुख' 'आलोकधन्वा' और 'कल्पना की दिशा', तीनों में लाया गया है । 'आमुख' और 'स्वर्ग-दहन', दोनों में कवि की 'बांसुरी के छिद्रों से लूक उठती है ।' 'दिगम्बरि' में जिस प्रकार नये अभियानवाले मुन्तजिर खड़े हैं, उसी प्रकार 'चाह एक' में कवि अपने विषय में कहता है—'हूँ खड़ा मुन्तजिर' । कहीं-कहीं मात्रा-विचार के कारण शब्दों का प्रयोग चिन्त्य हो गया है, जैसे—

लगा किसका शर सहसा आन ।

'विक्षुब्ध', 'सेवते', 'बर्फ' आदि प्रयोग ऐसे ही हैं । तुक-निर्वाह के लिए 'धाये' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं । पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि दिनकर में दोष ही दोष हैं । दोष और गुण की स्थिति एक-दूसरे से पृथक् नहीं हुआ करती । 'वसन्त के नाम पर' की इन पंक्तियों में वीरों के स्मरण आने का जो क्रम है, उससे लगता है कि कवि ने जैसे पश्चिम की ओर मुँह करके धीरे-धीरे आँख उठाई हो और एक के बाद दूसरे स्थान से अपनी प्रेरक शक्तियों को ग्रहण करता गया हो—

देखा, शून्य कुंवर का गढ़ है, झाँसी की वह शान नहीं है,
दुर्गादास प्रतापबली का प्यारा राजस्थान नहीं है।

किन्तु इसके विपरीत 'परिचय' की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में भग्नप्रक्रम स्पष्ट है—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा ?
स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं;
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का,
प्रलय-गाण्डीव की टंकार हूँ मैं ।

यदि कवि सजग रहता तो 'अशनि के भीषण निर्घोष' और 'प्रलय-गांडीव की टंकार' को 'युग-धर्म का हुंकार' से अधिक महत्त्व नहीं देता । इसमें रुचि-विभिन्नता की बात हो सकती है, किन्तु प्रथम दो पंक्तियों को बाद में रखकर पढ़ने पर लगता है जैसे हम क्रमशः ऊपर चढ़ते जा रहे हों ।

'सामधेनी' : यौवन के उद्दाम वेग की वाणी

डॉ० विश्वनाथ मिश्र

दिनकर यौवन के उद्दाम वेग के कवि हैं। मनुष्य अपनी शिराओं में यौवन की सशक्त चेतना का अनुभव अनेक रूपों में करता है। उसका एक वह भी स्वरूप है, जब अपनी प्रेयसी के रूप-वैभव में खोये हुए हम, समीप से आती हुई पीड़ित मानवता की चीख-पुकारों की भी उपेक्षा करके अपने अनुचर को आदेश देते हैं कि बाहर खड़ी हुई भीड़ से कह दो, उसका जो कुछ बिगड़ा है उसे कल बनाएँगे, आज तो हम अपने शयनागार में हैं। अपनी धमनियों में यौवन का प्रवाह अनुभव करते हुए भी कभी-कभी 'हम मानसिक कुण्ठाओं के कारण, अपने को इतना अशक्त अनुभव करते हैं कि समक्ष खड़ी हुई विघ्न-बाधाओं से अतिक्रान्त होकर, किसी अदृश्य-शक्ति से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें इस धरती के कोलाहल से दूर किसी ऐसे लोक में ले चले जहाँ सागर आकाश को निश्छल प्रेम की कोई कथा सुना रहा हो। नवयौवन की नयी चेतना एवं नवीन स्फूर्ति का एक वह भी रूप है, जब मनुष्य अपनी प्रेयसी के स्नेह-भरे आह्वान का स्नेह-भरा उत्तर देकर भी, 'अभी आता हूँ' कहकर, अपने चारों ओर की कुछ वास्तविकताओं के प्रति सजग होकर, उन्हें मिटाने के लिए चल देता है। दिनकर ने अब तक अधिकांश में यौवन के इसी कर्तव्यनिष्ठ आवेग का अनुभव किया है, और उनके इस काव्य-संग्रह 'सामधेनी' में उनकी इसी चेतना के बोल द्रुत गति और 'तार-सप्तक' के स्वर में सुनने को मिलते हैं।

दिनकर के इस काव्य-संग्रह में उनकी सन् १६४१ से' ४६ तक की रचनाएँ हैं। हमारे देश के ही लिए नहीं, समस्त विश्व के लिए ये वर्ष बड़े संघर्षपूर्ण एवं भयंकर आशंकाओं से ग्रस्त रहे हैं। दृश्य पट बड़ी द्रुतगति के साथ परिवर्तित होता रहा है। सन् १६३६ की पहली सितम्बर को ही हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध का सूत्रपात कर दिया था। उसकी सेनाएँ यूरोप के लगभग सभी देशों—फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया आदि—पर अधिकार करने के अनन्तर, झंझा के प्रबल वेग के साथ सोवियत रूस में प्रविष्ट हो रही थीं। पूर्व में उसी शीघ्रता के साथ जापान विभिन्न देशों पर अधिकार करता जा रहा था। हमारे देश में भी दृश्यावली बड़ी शीघ्रता के साथ बदल रही थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह, जन-आन्दोलन की तैयारी, सन् १६४२ की आठ अगस्त की रात्रि को राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी,

गांधीजी का अनशन, नेताजी की आज़ाद हिन्द फौज का बर्मा की ओर से बार-बार देश की सीमाओं से टकराना आदि-आदि। तभी ७ मई, १९४५ को हिटलर का पतन और यूरोप में युद्ध-विराम, हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु-बमों का विस्फोट और जापान की पराजय, अनेक देशों में स्वाधीनता आन्दोलन, सशस्त्र-विद्रोह। भारतवर्ष में भी नौसैनिकों का विद्रोह, जबलपुर में सैनिक संस्थान की हड़ताल। इंग्लैंड में मज़दूर दल का शासन, हमारे देश का स्वाधीन होना, विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, नृशंस हत्याएँ, दोनों क्षेत्रों से महाभिनिष्क्रम, गांधीजी की नोआखाली-यात्रा···। स्थित-प्रज्ञ कवि दिनकर ने देश-विदेश की इन समस्त घटनाओं से आन्दोलित होकर काव्य-रचनाओं का सृजन किया है। युग का स्वर शायद दिनकरजी के अन्य किसी संग्रह में इतना मुखर नहीं है।

दिनकर अपने इस काव्य-संग्रह में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न कवि के रूप में प्रकट हुए हैं, फिर भी राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति हम उन्हें अधिक सजग देखते हैं। इन संघर्षपूर्ण वर्षों में, उनके मन में सबसे प्रबल आकांक्षा, विदेशी शासन से अपने देश-वासियों को मुक्त करने की रही है। सन् १९४४ में जब लगभग सभी राष्ट्रीय नेता जेल के सींखचों के पीछे थे, स्वाधीनता संग्राम रूपी यज्ञ को शीतल होते हुए देखकर उन्हें लगा कि इस यज्ञाग्नि को पुनः प्रज्वलित करने के लिए किसी पुरोधा कवि की अपेक्षा है—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग
दिशा धूमिल, यजमान अधीर;
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ
देश को दे ज्वाला के वीर।

और इस भूमिका को उन्होंने स्वयं ग्रहण कर लिया है। हमारे प्राचीन साहित्य में 'सामधेनी' ऋग्वेद की उन ऋचाओं को कहा गया है जो यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते समय पढ़ी जाती थीं। दिनकरजी ने, स्वाधीनता के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, नवयुवकों का आह्वान करते हुए जो गीत लिखे हैं, उनका भी नामकरण 'सामधेनी' ठीक ही किया है।

दिनकरजी की राष्ट्रीय चेतना में जनवाद का स्वर भी सुनने को मिलता है। जन-जीवन के प्रति सजग होने के कारण ही उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख की चर्चा नहीं, सामान्य जनता के हर्ष-विषाद को वाणी देने का उद्योग मिलता है। दिनकर की यह जनवादी प्रवृत्ति बौद्धिक आग्रह से नहीं, वरन् जन-साधारण के दुःख एवं कष्टों को देखकर, संवेदना या सहानुभूति की भावना से मन में उमड़ी है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनका मानवतावाद अन्तःप्रेरणा से प्रसूत है :

मृत्तिका-तिलक लेकर प्रभु का आदेश मान,
मैंने अम्बर को छोड़ धरा का किया गान।
मानव की पूजा की मैंने सुर के समक्ष,
नर की महिमा का लिखा पृष्ठ नूतन, वलक्ष।

दिनकरजी का मन मानवतावादी भावना से भली प्रकार आप्लावित है, इसीलिए आज के बुद्धिवादी युग में, जब अनेक देशी-विदेशी जनवादी विचारधाराओं को लेकर शुष्क-

काव्य-रचनाओं का सृजन हो रहा है, वे हमारे अन्तस् को भाव-विभोर करने वाली सरस कविताओं का निर्माण कर रहे हैं। अपने कवि-कर्म की व्याख्या उन्होंने स्वयं की है, उनका मन स्वर का पथ पाकर स्वयं प्रवाहित हो चला है, और उन्होंने जीवन में गीतों की सगुण राह ग्रहण कर ली है। इसीलिए तो उनके उद्बोधन-गीत देश के नर-नारियों को आलस्य एवं अकर्मण्यता की मोह-निद्रा से जगाने में समर्थ हुए हैं।

दिनकरजी के इस संग्रह में उनका युग-द्रष्टा का रूप अधिक निखरा है। अपने चारों ओर की विषम परिस्थितियों को उन्होंने भली प्रकार समझा है। उनके आस्थावान मन की कविता जब देवार्चन की ओर तत्पर होती है, तो वे उससे अपनी फूलों की डाली में एक ऐसा दर्पण ले जाने का आग्रह करते हैं, जो उनके आराध्य के आगे जगत् की आज की वास्तविकता का पूर्ण दिग्दर्शन करा दे, जहाँ परम्पराएँ बुझ रही हैं। विद्या अपने ही भीतर सिमटकर अनुर्वरा हो गई है। ब्रह्माणी स्वयं गीतों का शव ढोती है—उसके हाथों में वीणा की लाश है और वह युग के आतप से बचकर कहीं एकान्त में छिपकर सोती है। दिनकरजी ने अपने इन उद्गारों में, प्रतीकवादी शैली में, आज के प्राचीनता-वादियों, आत्मनिष्ठ विद्वानों एवं अन्तर्लीन कलाकारों पर बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। दिनकर की दृष्टि वर्तमान जीवनधारा के इस ह्रासोन्मुख रूप पर ही नहीं गई है, उन्होंने इन विषम परिस्थितियों को विनष्ट करने के लिए उद्वेलित जागरूक मानवता को भी देखा है—

दहक रही मिट्टी स्वदेश की
खौल रहा गंगा का पानी
प्राचीरों में गरज रही है
जंजीरों में कसी जवानी।

सन् १९४२ में लिखी गई ये पंक्तियाँ विदेशी दमन-चक्र के नीचे पिसती भारतीय जनता का मर्मस्पर्शी चित्र तो प्रस्तुत करती ही हैं, मानवात्मा के विद्रोही स्वरूप का भी उद्घाटन करती हैं।

दिनकरजी की इन रचनाओं में इस प्रकार युगद्रष्टा के साथ-साथ उनका युग-स्रष्टा का रूप भी दर्शित होता है। भयंकर दमन के उन क्षणों में निर्माण का स्वर विद्रोह के उद्घोष के रूप में ही सुनने को मिल सकता था, और दिनकर ने इसी रूप में उसे प्रस्तुत भी किया था। इसी भावना से ओत-प्रोत होकर उन्होंने सरहद के पार से आती हुई आवाजों की ओर भी देश के नवयुवकों का ध्यान आकर्षित किया था। उन्हीं को दृष्टि में रखकर उनका उद्बोधन गीत है—

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग,
उठने लगे ले मशाल।
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल !
खड़ा हो कि फिर फूँक विष की लगा
धूर्जटी ने बजाया विषान।

खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान !

यूनान के युद्धोत्तर विद्रोह के समय लिखित ये पंक्तियाँ, दिनकरजी की अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को स्पष्ट करती हैं।

दिनकरजी ने विद्रोह की भावना से ओतप्रोत होकर विशेषरूप से नवयुवकों से इस दिशा में अग्रसर होने का आह्वान किया है। देश के नौजवानों से उनका कहना है कि उन्हें केवल अपने चारों ओर घनीभूत होते हुए अन्धकार को ही नहीं देखना चाहिए वरन् अपने अन्तस् में निहित प्रकाश को भी पहचानना चाहिए। नवयुवकों से उनका आग्रह है—

भुजाओं पर मही का भार-फूलों-सा उठाए जा,
कंपाये जा गगन को, इन्द्र का आसन हिलाये जा।
जहाँ में एक ही हैं रोशनी, वह नाम की तेरे,
ज़मीं को एक तेरी आग का आधार है साथी।

यौवन की विद्रोह की भावना के प्रति प्रबल आस्था को लेकर दिनकरजी ने भाव-विभोर होकर उसके विराट् रूप की भी कल्पना की है—

समस्त सूर्य-लोक एक हाथ में लिए हुए,
दबा के एक पाँव चन्द्र-भाल पर दिये हुए,
खगोल में धुआँ बिखेरती प्रतप्त श्वास से,
भविष्य को पुकारती हुई प्रचण्ड हास से,
उछाल देव-लोक को मही से तोलती हुई,
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुई,
विराट् रूप विश्व को दिखा रही जवानियाँ।

यौवन की असीम क्षमता और अपार शक्ति का इतना मोहक अभिनन्दन अन्यत्र दुर्लभ है।

दिनकर में यौवन के प्रति प्रबल आस्था के साथ भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण भी है। तभी तो वह घनीभूत होते हुए अन्धकार के क्षणों में भी मनुष्य के मंगलमय भविष्य का स्वप्न अपने अन्तस् में जगाये रख सके हैं। देश के विभाजन के अनन्तर दोनों ओर जो पाशविकता का नग्न नृत्य आरम्भ हो गया था, उससे उनका भावुक हृदय विक्षुब्ध होकर रो पड़ा था—

नारी नर जलते साथ, हाय !
जलते हैं माँस रुधिर अपने;
जलती है यौवन की उमंग,
जलते हैं नदियों के सपने !

इन्हीं विषय परिस्थितियों में गांधीजी की नोआखाली-यात्रा आरम्भ हुई और कवि को अपने आशावाद के लिए सम्बल मिला—

दुनिया भी देखे अन्धकार की
कैसी फौज उमड़ती है।

'श्रौ' एक श्रकेली किरण
व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है।

जीवन के प्रति इसी श्राशावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित होने के कारण, अपने 'अन्तिम मनुष्य' की भाँति दिनकरजी भी, प्रलय की घटाश्रों को घिरते हुए देखकर भी भयभीत नहीं हैं, 'एक अमर विश्वास ज्योति-सा उनमें अभी भरा है।'

दिनकरजी जब अपने इस संग्रह की रचनाश्रों का निर्माण कर रहे थे, तब तक 'तार-सप्तक' प्रकाशित हो चुका था, श्रौर अज्ञेयजी प्रयोगवाद का शंख फूंक चुके थे। युग की परिस्थितियों के प्रति सजग दिनकर ने साहित्य के नवीन स्पन्दन का भी अनुभव किया, श्रौर उन्होंने कई प्रयोगवादी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'रात यह कहने लगा मुझसे गगन का चाँद', 'जा रही देवता से मिलने' श्रौर 'अन्तिम मनुष्य' ऐसी ही कृतियाँ हैं। किन्तु भावुक कवि अपने युग के नए सत्य को, नवीन भावों एवं विचारों को अन्य प्रयोगवादी कवियों की भाँति बौद्धिक शुष्कता से एवं 'गद्य की लय' में नहीं, वरन् मन के रंगों से अनुरंजित करके प्रस्तुत कर सका है। इन कविताश्रों में भी दिनकर का विद्रोह-भाव सजग है। चाँद के मुख से मनुष्य की दुर्बलता का परिहास सुनकर वह श्राक्रोश के साथ कह उठे हैं—

स्वर्ग के सम्राट् को जाकर खबर कर दे,
रोज़ ही श्राकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिए, जैसे बने इन स्वप्न वालों को,
स्वर्ग की ही श्रोर बढ़ते श्रा रहे हैं वे।

दिनकर ने प्रयोगवाद को ग्रहण किया है, किन्तु इस धारा के अधिकांश कवियों की भाँति वह शीशमहल में बैठकर अपने अहं का विराट् प्रदर्शन नहीं देखते, कभी-कभी जाने-अनजाने झरोखे से पीड़ित मानवता पर दृष्टि डालकर उसके प्रति कोरी बौद्धिक सहानुभूति नहीं प्रकट करते। दिनकर जनता के कवि है, जनता के कवि रहकर उन्होंने उसका दुख-कष्ट स्वयं झेला है श्रौर फिर विद्रोह की प्रेरणा प्रदान की है। जनवादी मनोवृत्ति से अनुप्राणित होने के कारण ही चाँद को मनुष्य की स्वप्नवादी प्रवृत्ति का मखौल करते हुए देखकर उनके अन्तस् की रागिनी गरज उठी है—

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
श्राग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
श्रौर उस पर नींव रखती हूँ नए घर की
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

दिनकर की कर्मवादी जीवन-दृष्टि इन पंक्तियों में चरितार्थ है।

दिनकर की स्वप्नवादी मनोवृति ने उन्हें कर्मठता प्रदान करने के साथ-साथ दार्शनिक भी बना दिया है। दर्शन जीवन के सत्य का व्यवस्थित रूप से कथन है। दिनकर ने अपनी रचनाश्रों में अनेक स्थलों पर मानव-जीवन के बाह्य यथार्थ एवं श्रान्तरिक सत्य का उद्घाटन किया है। ऐसे स्थलों पर उनका दार्शनिक रूप प्रकट हुश्रा है। उनका दर्शन है कि श्राज मनुष्य के बाह्य जीवन में जो अव्यवस्था एवं अन्तर्मन में जो

विक्षोभ हैं, उसका कारण है कि मनुष्य आज अपने हृदय की उपेक्षा करके बुद्धि का आराधक हो गया है। उसने अपने चारों ओर सभ्यता की चमक-दमक तो बहुत खड़ी कर ली, किन्तु उसके हृदय का सरोवर सूखा है। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि दार्शनिकों ने अब तक जीवन की वास्तविकता का दिग्दर्शन मात्र कराया है, किन्तु अब समस्या उस वास्तविकता को परिवर्तित करने की है। दिनकर का दार्शनिक इस नये दायित्व के प्रति भी सजग है। इसी जागरूकता को लेकर उनका मन्तव्य है--

> दावानल-सा जला रहा
> नर को अपना ही बुद्धि-अनल;
> भरो हृदय का शून्य सरोवर
> दो शीतल करुणा का जल।

उनका कवि इस नयी भूमिका का समुचित निर्वाह कर रहा है और उसका एक पाठ है–

> थकी बुद्धि को पीछे तजकर
> मैं श्रद्धा का दीप जलाता,
> बहुत दूर चलकर धरती के
> हित पीयूष कलश ले आता
>
> ० ०
>
> चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी।
> सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी॥

दिनकर में इस प्रकार सामान्य दार्शनिकों जैसी जीवन के प्रति तटस्थता नहीं, वरन् कर्मयोगी की कर्मठता है।

दिनकर का यह काव्य-संग्रह 'सामधेनी' इस प्रकार यौवन के उद्दाम वेग की वाणी ही नहीं युग की वाणी भी है। यह उस दर्पण के सदृश है जिसमें कुरूपता एवं अस्तव्यस्तता के वातावरण में बैठा हुआ कोई व्यक्ति अपने चारों ओर की परिस्थितियों को सुधारने-सँवारने का उद्योग कर रहा है। वह छोटे-छोटे बड़े सुन्दर खिलौनों का निर्माण कर रहा है। उसकी असाधारण प्रतिभा एवं कला-कौशल को देख कर मन कहता है कि यह खिलौने ही क्यों बना रहा है, किसी विशाल मूर्ति की रचना क्यों नहीं करता। भीतर से कोई बोलता है, नये युग का यह नया कवि चन्द, प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई मानवता के लिए उद्बोधन-गीत मात्र ही क्यों लिख रहा है, किसी बड़े काव्य का निर्माण क्यों नहीं करता ? 'सामधेनी' में काव्य-प्रतिभा का विपुल वैभव होते हुए भी समय का स्वर ही प्रधान है।

बापू

श्री कामेश्वरप्रसाद

बापू चार खंडों की एक लम्बी कविता है जो पुस्तकाकार छपी है। पूर्वीय बंगाल के (१९४६-४७) के भीषण साम्प्रदायिक दंगे के अवसर पर महात्मा गांधी की नोआखाली-यात्रा से कवि को इस कविता की प्रेरणा मिली।

प्रथम खंड (बापू), जो कि महात्मा के महाप्रयाण के पहले समाप्त हुआ, महाप्रयाण दिवस ३० जनवरी, १९४८ के कई दिनों पहले तक लिखा गया।

शेष तीन खंड—'महा-बलिदान' 'वज्रपात' तथा 'अघटन-घटना, क्या समाधान'—३१ जनवरी, १९४८ से ६ फरवरी, १९४८ तक लिखे गये।

'बापू' का रचनाकाल 'कुरुक्षेत्र' के बाद का है—और 'कुरुक्षेत्र' कवि के मानसिक विकास का एक निश्चित मीलस्तम्भ है—इसलिए कवि की विचारधारा की प्रगति के प्रकाश में 'बापू' पर विचार करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

'कुरुक्षेत्र' तथा उसकी पूर्वपीठिका 'कलिंग-विजय' में कवि के विचारों में शरीर सम्बद्ध वीरता के पूजन के बदले आत्मा की महत्ता की श्रेष्ठता को आंकने की प्रवृत्ति सर्वप्रथम आयी है।

'बापू' में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ है।

जिस वीरता का प्रदर्शन शरीर के शौर्य में होता है, ऐसी वीरता की विरुदावली हमें दिनकर की आरम्भिक रचनाओं में मिलती है। इनमें आत्मा की शक्ति के प्रति कुछ उपेक्षा-भाव भी दीखता है। शंकर का ताण्डव नृत्य—प्रलय का प्रतीक—कवि को आकर्षित करता है। 'हिमालय' में कवि एक मौन तपस्यालीन 'यती' का रूप देखता है जो उसे नहीं रुचता। वह हिमालय की, उसकी चुप्पी के लिए, भर्त्सना करता है तथा इतिहास के द्वारा देश के मर्दन को उसी चुप्पी का फल समझता है। वह हिमालय से साफ कहता है कि अब तप का काल नहीं। वह देश को संकट से उबारने के लिए युद्ध चाहता है, भीम-अर्जुन को इस युद्ध में साहाय्य-दान के लिए आमंत्रित करता है, और साथ ही युधिष्ठिर के प्रति नितान्त उपेक्षा का भाव दिखलाता है, क्योंकि उसकी कामना है कि युधिष्ठिर पेंशन लेकर स्वर्ग ही में पड़े रहें। तत्कालीन कवि के विचार में उनके 'धर्मराजत्व' का स्थान देश में नहीं रहा था।

'हुंकार' में युद्धप्रवृत्ति और अधिक उग्र हो उठी है। कवि चुपचाप जलने वालों पर व्यंग्य करता है और स्वयं ऐसा करने की असमर्थता दिखलाता है। अपने 'परिचय' में उसने अपने को बहुत कुछ बतलाने के साथ-साथ 'प्रलय गांडीव की टंकार' भी बतलाया है। हुंकार सचमुच हुंकार ही है। कवि ने क्रान्ति के गीत गाये हैं तथा आनेवाली 'त्रिपथगा' का खाका खींचा है।

अपने कुरुक्षेत्र-काल में कवि सोचना आरम्भ करता है। इस काल में कवि के विचार में युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ बन गई है। कवि के मस्तिष्क पर यह छाप शायद द्वितीय महायुद्ध ने डाली, जिसके अन्त के आखिरी कई दिन उसके छह वर्षों के वय में सर्वाधिक भीषण थे, तथा जिन कई दिनों के इतिहास ने सृष्टि के भविष्य के विषय में युद्ध को लेकर प्रत्येक समझदार आदमी को सोच में डूब जाने को बाध्य कर दिया।

अब कवि युद्ध की समस्याओं का मूल समझता है, समस्याओं के हल का उपकरण नहीं। ध्यान रहे कि कुरुक्षेत्र के नायक वही युधिष्ठिर हैं, जिनकी धर्माधर्म विवेचना पर ध्यान देने का समय कवि को 'हिमालय' में नहीं था। शंकर का प्रलय-नृत्य देखने की कवि की साध शायद पूरी हो गई है। वह प्रलय नृत्य कैसा होता है कवि ने 'कुरुक्षेत्र' तथा 'कलिंग-विजय' में खूब देखा है। हिमालय को उठकर लड़ने के लिए कवि कदाचित् अब नहीं कहेगा। अब तो वह युधिष्ठिर के साथ विचार कर रहा है। विचार करते-करते वह उस स्वर्णिम काल का स्वप्न देखता है जब युद्ध के बादल हट जाएँगे। जीवन का आकाश शान्ति की विमलता से स्निग्ध हो उठेगा।

'कलिंग-विजय' में भी छोटे दायरे में, यही है। बल्कि इसमें कवि अपने नये सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करता है। शारीरिक, बर्बर वीरता का प्रतीक 'दुर्जेय पुरुष' थक कर गिर जाता है तथा उसके प्राणों से एक, 'अनामय अमेय नारी' निकलती है। नर पराजित है, नारी विजय का दीप सजती है। युद्ध के ऊपर शान्ति, शौर्य के ऊपर दया की विजय होती है। थोड़े में, पुराने दिनकर पर नया दिनकर हावी होता है।

'बापू' में इस पुराने दिनकर की हार और भी स्पष्ट है। 'कलिंग-विजय' में युद्ध का लोमहर्षक दृश्य देखने के उपरान्त कवि को वितृष्णा हुई थी, तथा बुद्ध, धर्म्म और संघ का जयगान' करने की प्रेरणा मिली थी। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध अच्छा है, या बुरा, इस पर तर्क भी चलता है। पर बापू के सामने आकर कवि स्पष्ट देखता है कि 'बापू' वह कुछ नहीं, जैसों की वह अब तक 'अंगारों से' पूजा करता आया है। बापू का रूप देखकर कवि पहले कुछ विस्मित होता है। पर उसे यह आभास मिलते देर नहीं लगती कि बापू उसके अंगारों से ऊपर है। उसके 'अंगार' कविता के आरम्भ में ही 'लजा जाते हैं' और उसके 'उद्वेलित ज्वलित गीत' बापू की प्रशान्त आकृति के 'सामने नहीं हो पाते हैं।'

इस 'लाज' का विश्लेषण कदाचित असंगत नहीं होगा।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए कवि और बापू—दोनों ने अपने-अपने ढंग से लड़ाइयाँ लड़ीं, पर वे ढंग एक-दूसरे से उलटे थे।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लगभग ही कवि देख लेता है कि शान्ति, युद्ध से बड़ा अस्त्र है। बापू का शान्तिपूर्ण पथ प्राय: अपने लक्ष्य पर पहुँच रहा है, कवि ने यह कविता लिखते समय स्पष्ट देख लिया होगा।

राजनीति तथा कविता का सम्बन्ध आवश्यकता से अधिक समीप दिखलाने के आरोप का सहन करके भी यह उल्लेख करना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि 'बापू' का रचनाकाल, कैबिनेट मिशन की घोषणाकाल के साथ, मेल खाता है। कवि देख लेता है कि जिस मोर्चे की उसने बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रखी थीं उस मोर्चे की जरूरत ही न हुई। जलियांवाला बाग में तथा अगस्त, १९४२ की क्रान्ति में सरकारी गोलियों से लोग जरूर मारे गये, पर हम यह नहीं कह सकते कि हमने अपने रक्त के मूल्य पर स्वतन्त्रता प्राप्त की है। लहू में जवानियों के नहाने की जो चुनौती कवि ने दी थी, कदाचित् बेकार हो गई है—कम से कम १९४७ में। और स्वतन्त्रता जिस राह से आई, वह दुनिया के इतिहास में एक नई राह है और इसको खोजने का बहुत श्रेय महात्मा गांधी की उस अनोखी अभूतपूर्व अहिंसात्मक आध्यात्मिक शक्ति को है, जिसने इतिहास की पोथी में एक नये अध्याय पर पन्ना उलट कर रख दिया।

इतना होते हुए भी कवि ने इस शक्ति की कद्र तभी की जब उसने इसका फल स्थूल रूप से देश को प्राय: मिलते देख लिया। कवि का अर्धचेतन मस्तिष्क कदाचित् इस बात पर लज्जित है कि उसने पूज्य को पूजा देर से समर्पित की। जिन आग की लपटों को लेकर वह अब तक खेलता रहा है, उन्हें लेकर वह उस तपस्वी के पास कैसे जाए जिसकी शीतलता ही उसका आकर्षण है, सर्वस्व है। कवि अपने मन में कदाचित् सोचता है—'काश! मैंने इस स्वर्गिक शीतलता की आराधना पहले ही की होती।'

'बापू' की भूमिका में कवि कहता है—'बापू के इर्द-गिर्द कल्पना बहुत दिनों से मंडरा रही थी—कई बार छिट-पुट स्पर्श भी हो गया, पर तूलिका कुछ ज्यादा कर पाने में असमर्थ रही।' आग की लपटों से खेलने वाली कविता को बापू के पास आने की सामर्थ्य होना भी जरा कठिन है। कवि को बापू पर लिखने का अधिकार तभी मिला जब कवि ने युद्ध के सामने शान्ति का मूल्य समझना आरम्भ किया—पर इसके पहले नहीं कि बापू पर लिखने के प्रारम्भ में ही वह अपनी पिछली कमजोरी को मान ले।

'बापू' में 'कुरुक्षेत्र' की अपनी विशेषताओं को छोड़कर—कवि की कविता में जो अपनी विशेषता हर जगह वर्तमान है, यहाँ भी है।

दिनकर की कविता हृदयप्रधान कविता कही जाती है। बात भी सही है। पर हृदय की प्रधानता के साथ ओज का सम्मिश्रण दिनकर के कवि-व्यक्तित्व की विशेषता है।

'बापू' से उदाहरण—

पाताल, तलातल, अतल, वितल
को फोड़ महीतल पर सरसो,
अयि सुधे! गगन से धार बाँध,
धरती पर द्रुत बरसो, बरसो।

या,

लपटों से लज्जा ढंको, कहाँ हो ?
धधको, धधको घोर अनल !
कब तक ढंक पायेंगे इसको
रमणी के दो छोटे करतल ?

इस ओज का उद्‌गम हृदय अवश्य है, पर शक्ति का प्रभाव मस्तिष्क से आता है। दिनकर की कविता के हृदयग्राही तत्त्व को उभारने में मस्तिष्क से परोक्ष सहायता ली जाती है—यद्यपि मस्तिष्क इतना छिपकर बैठा है कि शक्ति के स्रोत का उद्‌गम पकड़ने में पहली नजर में कठिनाई होती है। शक्तिशाली मस्तिष्क की परोक्षता ही दिनकर की कला और 'टेकनीक' का रहस्य है—जो रहस्य अनजाने में 'रेणुका' की इन पंक्तियों में खुल पड़ा है—

जो चकित करके कंपा डाले हृदय,
वह कला पाई न मैंने गान में।

जिस कला के आदर्श की प्राप्ति कवि अपने विचार में नहीं कर पाया है—उसकी जो भी सिद्धि उसे मिली है वह हमारे हृदय को चकित करके कंपा डालने के लिए यथेष्ट है।

चकित मस्तिष्क होता है। कांपता हृदय है। यह तभी हो सकता है जब हृदय की बात कुछ ऐसे चमत्कृत रूप से कही जाए (और कला का चमत्कार सदा मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है, केवल हृदय लेकर कोई कवि नहीं बन सकता—यह विरोधाभास-सा प्रतीत होता नग्न सत्य है) कि वह मस्तिष्क को अपनी मौलिकता के कारण चकित कर दे—और क्योंकि उस चमत्कार के मूलगत हृदय के भावों का दिग्दर्शन कराना कवि का उद्देश्य है, इसलिए वह उद्देश्य इस उपाय से सफल हो जाता है—मस्तिष्क की वह चमत्कृति दूने वेग से भावनाओं को आक्रान्त करती है।

एक उदाहरण 'बापू' से—

पर, हाय, प्रणय के तार ! छोर
बस एक हमारे कर में है,
क्या अन्य छोर भी इसी तरह
आबद्ध अपर अन्तर में हैं ?

प्रेम की डोर का उल्लेख साहित्य में दिन-रात आता है। पर यह कल्पना कि उसका एक छोर हमारे हाथ में है और दूसरा शायद तिलंगी के साथ आकाश में—एक नई कल्पना है, और इसीलिए अधिक प्रभावोत्पादक है। महात्मा गांधी की मुसलमानों को प्रेम से जीत सकने की आशा को बहुत लोग बहुत दिनों से एक भ्रामक आशा बतलाते आ रहे थे। यही बात ऊपर की पंक्तियों में इस तरह कही गई है कि यह मस्तिष्क से सीधे हृदय पर उतर जाती है—और मस्तिष्क को अपनी शंका के अस्त्र चलाने का मौका ही नहीं मिलता क्योंकि बात अब मस्तिष्क की सीमा के बहुत पार चली गई। दूसरा उदाहरण—

सारे संबल के तीन खण्ड
दो वसन, एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं की प्रतीक,
पीछे चलने वाली बकरी।

यहाँ चकित करने वाला तत्त्व बकरी में है। तत्त्व का मूल है— बकरी को सेना का प्रतीक बनाना। यह नई बात है—यह मस्तिष्क को चकित कर बापू की उपर्युक्त तसवीर हृदय-तल तक पहुँचा देने में सहायक होती है।

देवों की भी है साँस रुकी
सागर! सागर! ओ सावधान!
है लदी हुई इस नौका पर,
मानवता की पूँजी महान।

जहाँ रक्तक्षुब्ध नोआखाली झंझोद्वेलित सागर बना है और गांधीजी का बहुमूल्य दुर्बलतम जीवन एक छोटी नाव। डूबने का डर तो स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में कवि का भगवान से सहायता मांगना स्वाभाविक ही है—

भगवान! संभालो, नौका की
पतवार तुम्हारे कर में है।

यहाँ भगवान की बात आ गई है इसलिए दिनकर और भगवान के सम्बन्ध के विषय में कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है।

दिनकर जब शारीरिक वीरता की पूजा में लगे हैं उस समय भी भगवान की दया का सहारा लेना उनके लिए आवश्यक हो गया है। 'आग की भीख' में तो वीरता तभी आयेगी जब भगवान की कृपा होगी—

दाता पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे

यह तो विरोधाभास है। जब—

मन की बंधी उमंगें असहाय जल रही हैं

ऐसी अवस्था में—

तेरी दया विपद में भगवान माँगता हूँ

ऐसा स्पष्ट कर देता है कि कवि की कविता में आग की अपेक्षा भीख ही कुछ अधिक असली थी।

यही कारण है कि कवि ने अपने जीवन में आगे चलकर शारीरिक वीरता की पूजा छोड़ दी।

पर कवि की इधर की मनोदशा में भगवान का पुराना मूल्य नहीं रह गया है, क्योंकि अब कवि विचारक बन रहा है और भगवान पर विचार करते-करते वह देखता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में रुपया ही भगवान है और भगवान रुपया। इसी से तो अब यह भी घोषणा करने की हिम्मत हो गई है—

लोगे कोई भगवान? टके में दो दूंगा
लोगे कोई भगवान? बड़ा अलबेला है

साधना फकीरी नहीं, खूब खाओ, पूजो,
भगवान नहीं, असली सोने का ढेला है।'

दिनकर के मस्तिष्क-हृदय मिश्रित भावों के तेज पर भाषा की सरलता बहुत खिलती है—उसकी अनिंद्य सुन्दरी कविता-कामिनी की काया पर वागाडम्बर के बनाव-सिंगार का अभाव—सौन्दर्य का एक अलग उपकरण और प्रस्तुत कर देता है। कवि ग्राम्य शब्दों के प्रयोग में हिचकता नहीं—

बापू ! लौटो, अंचल पसार
भारत माता गुहराती है।

या—

जीवन जुलूस स दूर खड़े
तरसोगे तुम बतियाने को।

दिनकर की कविता में भाषाविदों की यह उक्ति चरितार्थ दीखती है कि अच्छे कवि की काव्यधारा में जो जीवनी शक्ति होती है वह स्वभावतया रोज़मर्रा की भाषा को भी समेटकर उसे अपनी शक्ति बढ़ाने में सहायक बनाती है। 'महाबलिदान' में दो बन्द हैं, और वे दो बन्द 'वज्रपात' में भी आये हैं।

'महाबलिदान' और 'वज्रपात' इस कविता के सबसे कमज़ोर खण्ड हैं।

है तरी भँवर के बीच और
पतवार हाथ से छूट गई,
रोने दो हाय, अनाथ हुए,
रोने दो किस्मत फूट गई।

इसी बात पर कवि ३१ बन्दों में रोता पीटता है। कवि का यह अभ्यास प्रतीत होता है कि जब कोई भावना इसके मन से मिल जाती है तो वह उस भावना का विज्ञापन अति-विस्तार रूप से करने लगता है। पर, 'साकेत' के भी आँसू से भीगे बहुत पन्ने खटकने वाले हैं—और—रोना तथा रुलाना शायद एक ही कला के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। वर्ड्सवर्थ कहता है—

'महाबलिदान' और 'वज्रपात' यदि बापू के महाप्रयास के चौबीस घंटों के अन्दर ही नहीं लिखे जाते तो वे इतने विशद नहीं, तथा और अधिक प्रभावशाली हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को चिन्तन का समय नहीं मिला है। इतने पर भी 'हिमालय' से 'बापू' तक में कवि की विचारधारा में जैसा परिवर्तन इस खंड के स्थल विशेष में लक्षित है वह दर्शनीय है। वह कवि जो किसी समय हिमालय को कह उठा था—

उठ रोक युधिष्ठर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर

'कुरुक्षेत्र' का लेखन ही इस महापरिवर्तन का निचोड़ है।

'वज्रपात' पढ़ते समय 'हिमालय' की याद और राहों से भी आती है—

यह अवधपुरी के राम चले
वृन्दावन के घनश्याम चले

अन्तिम खण्ड—'अघटन घटना, क्या समाधान' निस्सन्देह इस कविता के सब से अच्छे भागों में से है।

शोकार्त्त अश्रु के निरर्थक प्रवाह के बाद की जो दार्शनिकता आती है वही इस खंड का 'मूड' है, जिसमें कवि की अपनी पुरानी ताकत लौट आयी है—

पातक का भीमाकार एक पर्वत अपार
आ गिरा धमकता इन्द्रप्रस्थ की छाती पर
मानो, भू पर कूदा हो कुम्भीपाक नरक।

पर गालों के आँसू अभी सूखे नहीं, कविता हरी है, और उसकी स्निग्ध-लता पर कल्पनालोक के देवपक्षी चहचहाते रहते हैं—

डरता डरता चन्द्रमा क्षितिज पट से निकला,
पर देख न वह भी सका जगत को आँख खोल
घन में छिप चलता रहा रात भर सहम सहम।

और—

कुम्हला करके झुक गये कल्पतरु के पत्ते,
हरि के सिंहासन की मणि तेजोहीन हुई,
हो गये मूक परियों के सतत-मुखर नपुर
सुरपुर में छाया शोक, मौन हो गया वियत
इन्द्रासन की चाँदनी अमा की रात हुई।

द्वन्द्वगीत

शिवबालक राय

'द्वन्द्वगीत' में सचेतन मानव के जागरूक हृदय में उठने वाले अन्तर्द्वन्द्वों का, दार्शनिक पट के साथ, काव्यात्मक चित्रण है। मानव का अहं सुख की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील रहता है। लेकिन उसके भाव का, अन्तर्जगत् का, वस्तु के बाह्य जगत् से प्रायः पूरा-पूरा मेल नहीं खाता, पटरी नहीं बैठती। इसलिए व्यक्ति अहं जगत् के अनह से अपने को घिरा पाता है। उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए सुखात्मक अनुभूति के लिए संघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि व्यक्ति को बाह्य जगत् दुःखात्मक प्रतीत होता है। व्यक्ति का अहं पहले तो निश्चेष्ट पड़ा रहता है, बाह्य जगत् से उत्तेजना प्राप्त करके वह क्रियाशील हो उठता है। इस प्रकार वस्तु जगत् की क्रियाओं की प्रतिक्रिया करते समय वह सक्रिय हो जाता है। व्यक्ति का मानस-जीवन जिन संघर्षशील शक्तियों से परिचालित और अनुशासित होता है उन्हें हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं--अहं और अनहं का द्वन्द्व, सुख और दुख का द्वन्द्व एवं सक्रियता और निष्क्रियता का द्वन्द्व। प्रथम के अन्तर्गत भाव पक्ष और वस्तु पक्ष अथवा अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् का समावेश है। दूसरे के अन्तर्गत प्रेम-घृणा एवं जीवन-मरण की भावनाएँ समाविष्ट हैं। अंतिम में पुरुषोचित और स्त्रियोचित भावनाओं के संघर्ष की गणना की जा सकती है। मानव के अन्दर के अहं की पूर्णतया संतुष्टि नहीं हो पाती, इसलिए वह इसके कारणों की छानबीन में प्रवृत्त होता है और उसका मानस अन्तर्द्वन्द्व का पालना हो जाता है। उसकी 'दोलाचल चित्तवृत्ति' उसे चैन नहीं लेने देती। कभी वह इन असफलताओं का कारण बाह्य जगत् में पाकर क्षुब्ध हो उठता है, कभी उसे अपने ही अन्दर देखकर हतप्रभ हो जाता है।

सुख भोगने की कामना से जीने वाला व्यक्ति जीवन को बेहद ममता के साथ प्यार करता है। अधिक से अधिक लाभ उठाने वाला व्यक्ति हानि की थोड़ी-सी आशंका से भी भयभीत हो जाता है। इसलिए जीवन-भावना का ही दूसरा रूप मरण-भावना है। जन्म और मरण, प्रेम और घृणा एक ही बीज के दो अंकुर हैं। जब तक व्यक्ति का अहं सांसारिक वस्तुओं में सुख-संतोष का अनुभव करता है, तब तक उनके प्रति उसका प्रगाढ़ प्यार बना रहता है, जहाँ उसमें विघ्न-बाधा पड़ी कि वह सबों से घृणा

करने लगता है। इस प्रकार घृणा भी एक तरह से प्रेम का ही विकृत रूप है। व्यक्ति की वीभत्स घृणा उत्कट सात्विक प्रेम में परिणत हो सकती है। शरद् बाबू के उपन्यासों में ऐसे कई पात्र मिलेंगे जो पहले किसी रमणी से घोर घृणा करते हैं और परिस्थिति-वश फिर उसे जोर-शोर से प्यार करने लगते हैं। मृत्यु का भय भी कभी-कभी व्यक्ति को काम-सुख की ओर आकृष्ट करता है। युद्ध के समय सैनिकों में प्रेम का ज्वार अधिक उठता है।

'द्वन्द्वगीत' के भाव तीन श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—

क— सांत और अनंत अर्थात् जीव और ब्रह्म का चिरन्तन सम्बन्ध।

ख—निखिल प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य एवं व्यक्ति का क्षणभंगुर रूपवैभव।

ग—प्रेय और श्रेय अर्थात् भोग और वैराग्य का रहस्य।

यह संसार किसने रचा? चाँद, सूरज, सितारे, आसमान ये कब से हैं, क्यों हैं? यदि इस सृष्टि का कोई रचने वाला है तो उसने यहाँ दुखों का जाल क्यों बिछा दिया? पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक कौन-सी बला है? मानव अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति क्यों नहीं कर पाता? तो यह सारी सृष्टि माया है, मिथ्या है, जंजाल है? मानव-मन में इस तरह की जिज्ञासाएँ अनादिकाल से उठती आ रही हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में छिपा नचिकेता पूछता है, 'अस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके' लेकिन अभी तक संतोषजनक समाधान नहीं हो पाया। 'द्वन्द्वगीत' में कवि हमारी सोयी हुई जिज्ञासा को उकसा देता है, उपचेतन में दबी हुई भावना को चेतन स्तर पर लाकर वह ओझल हो जाता है। जल की ऊपरी सतह पर ये भाव कुछ बुनबुनी उत्पन्न करके फिर नीचे विलीन हो जाते हैं। मुझे इस धरती पर किसने भेजा? जीवन का यह भार कब तक ढोना है? जीवन-तरी को भवसागर के किस घाट पर लगाना है—

भेजा किसने? क्यों? कहाँ?
भेद अब तक न क्षुद्र यह जान सका।
युग-युग का मैं यह पथिक श्रांत
अपने को अब तक पा न सका।
यह अगम सिन्धु की राह, और
दिन ढला, हाय, फिर शाम हुई;
किस कूल लगाऊँ नाव? घाट
अपना न अभी पहचान सका।'

यदि यह सृष्टि मिथ्या है तो पाप-पुण्य का बन्धन क्यों? यदि यह आत्म निर्लिप्त, निर्विकार और ब्रह्मरूप है तो फिर पूजा और उपासना किसकी?

जो सृजन असत्, तो पुण्य पाप का श्वेत नील बंधन क्यों है?
स्वप्नों के मिथ्या तंतु बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है?
हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे, तो क्यों शुभ का उपदेश हमें?
किस चिन्त्य रूप का अन्वेषण? यह आराधन-पूजन क्यों है?

धरती पर उतरते ही मानव को व्यथा की जंजीर मिली। कुल मिलाकर उसे यही पता

चला, 'हम भली-भांति यह जान चुके तेरी दुनिया में स्वाद नहीं।' इस सृष्टि के सुख-दुख के रहस्य को न समझ सकने के कारण कवि खीझकर पूछते हैं—

ओ रचने वाले ! बता हाय ! आखिर क्यों यह जंजाल रचा।'

आदमी कुछ भी करे, लेकिन मौत के सामने वह लाचार हो जाता है। मृत्यु मनुष्य की सबसे बड़ी हार है। इसलिए मनुष्य अपनी कोमल काया को, रूपयौवन को, क्षणभंगुर समझता है। कमल-दल पर ढुलकने वाले ओस कण की तरह वह कुछ काल झिलमिल कर विलीन हो जाने वाला है—

जी करता है मत्त वायु बन फिरूं कुंज में नृत्य करूँ
पर हूँ विवश हाय, पंकज का हिमकण हूँ डोलूँ कैसे ?'

जीवन और मृत्यु, मृत्यु और जीवन, आखिर यह विचित्र चक्कर है, क्यों ?

जीवन ही कल मृत्यु बनेगा, और मृत्यु ही नवजीवन
जीवन मृत्यु बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन।

सुखोपभोग के समय यदि नश्वरता का, मृत्यु का भयंकर रूप सामने आ जाए तो व्यक्ति सिहर उठता है। द्वन्द्व उत्पन्न होने से आनन्द विलीन हो जाता है। प्रेयसी को चूमते समय यदि उसकी चिता की कल्पना आ जाए तो—

जी करता, हृदय लगाऊँ, पल-पल चूमूँ, प्यार करूँ।
किन्तु, आह ! यदि हमें जलाती क्रूर चिता की आग नहीं।'

प्रेयसी के चाँद-से सलोने मुखड़े को प्रेमी निहारता है, हृदय से लगाकर सोता है। फिर भी उसे चैन नहीं। यह चाँद राहु से ग्रसा जाएगा, मृत्यु के मुख में समा जाएगा। यह चिन्ता आते ही आँखें भर आती हैं, हृदय से एक आह निकलती है—काश ! यह चाँद कभी डूबता नहीं।

बचे गहन से चाँद, छिपाऊँ किधर ! सोच चल होता हूँ
मौत साँस गिनती तब भी जब हृदय लगाकर सोता हूँ।
दया न होगी हाय, प्रलय को इस सुन्दर मुखड़े पर भी
जिसे चूम हँसती है दुनिया, उसे देख मैं रोता हूँ।"

मृत्यु की इस जहरीली वेदना को जीतने का क्या उपाय है ? जीवन का बिरवा यदि अमृत से सींचा जाए तो उसमें कटुता क्यों आएगी ? यदि मानव अपने जीवन में मधुर-प्रेम और विशद् आनन्द का स्रोत बहने दे तो मृत्यु दुखदायी प्रतीत नहीं होगी। हमारा जागरण काल यदि आलिंगन-चुम्बन में व्यतीत हो तो नींद भी मिठास से भींग जाएगी। पल-पल हँसती हुई कली मुरझाते समय भी मुस्कराती रहेगी। जीवन प्रेम और आनन्द से सरावोर हो जाए तो मरण सुन्दर बनकर आएगा—

अधर सुधा से सींच, लता में कटुता कभी न आयेगी
हँसने वाली कली एक दिन हँस कर ही झर जाएगी
जाग रहे चुम्बन में तो क्यों नींद न स्वप्न मधुर होगी
मादकता जीवन की पीकर मृत्यु मधुर बन जायेगी।

जिन्दगी क मस्ती चाहिए। कुछ ऐसे भी क्षण हों जब हम विधि-निषेध को भूलकर

उन्मुक्त रूप से गा उठें—

जीवन का क्या स्वाद अगर खुलकर हम दो पल गा न सकें।

निखिल प्रकृति का सौन्दर्य-स्रोत अनादि काल से बहता चला आ रहा है। ऊषा-संध्या, हेमन्त-वसंत, धूप-चाँदनी आदि सब इस धरती पर अपनी छटा दिखाते रहेंगे। लेकिन इस सुन्दर संसार का सुधा-रस पीने के लिए एक मानव ही नहीं रह पाएगा। प्रकृत्ति की यह 'नगन माधुरी' फिर उसे देखने को न मिलेगी। सभी सुन्दर वस्तुएँ रहेंगी, रसधारें बहती रहेंगी, लेकिन एक कवि नहीं रह पायेगा—

दूब भरी इस शैलतटी में उषा विहँसती आयेगी।
युग-युग कली हँसेगी युग-युग कोयल गीत सुनायेगी।
घुल मिल चंद्रकिरण में बरसेगी भू पर आनन्द सुधा।
केवल मैं न रहूँगा, यह मधु-धार उमड़ती जायेगी।

मरण और विनाश की कल्पना साधारणतः भावुक चित्त में दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। यदि यौवन विनाशशील है तो कुछ ही क्षणों के लिए सही, इसके रूप-रस का भरपूर पान कर आदमी क्यों नहीं अघा ले! या नहीं तो इस क्षणभंगुर काया के पीछे, कनक मृग के पीछे, अपने को व्यर्थ क्यों परेशान किया जाए? इन्द्रधनुष के सतरंगे बादल के मेले से दूर हटकर आदमी अपनी साधना और चिन्तना में क्यों न विश्राम करे। दो दिनों के लिए हाय-हाय क्यों? 'द्वन्द्वगीत' में यौवन के रूप-आकर्षण के साथ उसकी अंतिम परिणति—विरूपता—भी चित्रित है। कवि की इच्छा कभी अधर रस पीने की होती है, कभी उसकी निःसारता देखकर आँसू बहाने की होती है। जीवन की मुसकान के पीछे गहरी उदासीनता झाँकती रहती है। जीवन में रूप और यौवन का कितना बड़ा आकर्षण है—

रूप, रूप, हाँ रूप सुना था, जगती है मधु की प्याली
यहाँ सुधा मिलती अधरों में, आँखों में मद की लाली।
उतराता ही नित रहता यौवन रस धारा तरंगों में
बरसाती मधुकण जीवन में यहाँ सुन्दरी मतवाली।

जब पुरुष रमणी को पुण्य भावना से देखता है तब उसके प्रत्येक अंग में, हर प्रसाधन मैं अपूर्व सौन्दर्य का अनुभव करता है। सुख प्रदान करने वाली रमणी का श्रृंगार स्वर्गीय छटा की झांकी प्रदान करता है। प्रेम क्षेत्र में प्रेमिका का कोमल रूप भी प्रेमी को सुहावना लगता है, बुरी भी हर अदा उसकी भली मालूम होती है—

ये नवनीत कपोल, गुलाबों की जिनमें लाली खोई,
यह नलिनी-से नयन जहाँ काजल बन लघु अलिनी सोई।
कोंपल से अधरों को रंग कर कब बसंत-कर धन्य हुआ?
किस बिरही ने तनु की यह धवलिमा आँसुओं में धोई?

प्रेमी की आँखें सम्पूर्ण प्रकृति में चुम्बन का आदान-प्रदान देखती हैं। भागते हुए वसंत को अपने हृदय में संभालने की बेचैनी निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दर है—

प्राणों में उन्माद वर्ष का गीतों में मधुकण भर लें ।
जड़-चेतना बिंधे रहे, हृदय पर हम भी केशर के शर लें ।
यह विद्रोही पर्व प्रकृति का फिर न लौट कर आयेगा ।
सखि ! वसंत को खींच हृदय में आओ आलिंगन कर लें ।

मरण के भय से जहाँ कवि की एक प्रवृत्ति रस पीने की ओर ढुलकती है, वहाँ दूसरी वैराग्य जीवन के सौन्दर्य से भी पुलकित होती है—

अरे, मरुँगा कल तो फिर क्यों आज नहीं रस धार बहे ।
वह होगी कैसी छवि जो छिप रही चिता की धूलों में ।

कवि की विरक्ति का एक प्रधान कारण यौवन के रूप सौन्दर्य का वार्धक्य की सिकुड़न में बदल जाना भी है। व्यक्ति जिस कंचन काया को मोह से सजाता संवारता है वह अकाल ही चिता की लपटों का शिकार होती है।

मैं रोता था हाय, विश्व हिमकण की करुण कहानी है ।
सुन्दरता जलती मरघट में मिटती यहाँ जवानी है
० ० ०
सो देखा चाँदनी एक दिन राज अमा पर छोड़ गई
खिजां रोकता रहा लाख कोयल बन से मुँह मोड़ गई ।
और आज क्यारी क्यों सूनी अरे बता, किसने देखा
गलबांही डाले सुन्दरता काल-संग किस ओर गई ।

जगजीवन की नश्वरता की ओर कवि का ध्यान 'रेणुका' की 'परदेशी' में भी गया है,

मरते कोमल वत्स यहाँ, बचती न जवानी परदेसी
माया की मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेसी ।

जो रमणी अनुरक्ति के कारण सौन्दर्य-सुख की खान मालूम पड़ती है वही विरक्ति की दृष्टि में हड्डियों का कंकाल दीखती है। वास्तव में, वस्तुओं को हम अपनी भावनाओं में रंग कर ही देखते हैं। वस्तु के निजी आंतरिक तत्त्व (Thing in itself) का हम पता नहीं लगा पाते। विरक्त व्यक्ति रमणी में वीभत्स रूप की झांकी देखता है—

दो कोटर को छिपा रहीं मदमाती आँखें लाल सखी !
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम के गाल सखी !
और कुचों के कमल ? झड़ेंगे ये तो जीवन से पहले
कुछ थोड़ा-सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी ।

नारी का यह निर्वेदमूलक रूप वैराग्य-भावना को पुष्ट करता है। मोहक रूप के अंतराल में भयानक कंकाल छिपा है—इस तथ्य की वर्णना उपयुक्त पंक्तियों में खूब साफ उतरी है। नयन, कपोल और उरोज, इन तीनों की विकृति कालांतर में हो जाती है, तो इस रूप पर गर्व कैसा ?

सुन्दरता पर गर्व न करना ओ अरूप की रानी ।
समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी ।

द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं। रमणी का उक्त रूप देखकर प्राण सिहर उठते हैं। यह कुछ सोचने के लिए हमें बाध्य करता है: मन में द्वन्द्व उत्पन्न करता है।

ब्रह्म की आभा सृष्टि के अणु-परमाणु में वर्त्तमान है। इस परम सत्य को कवियों ने भिन्न-भिन्न ढंग से प्रकाशित किया है। दिनकर की अभिव्यक्ति अपने ढंग की है—

किरणों के दिल चीर देख, सब में दिनमणि की लाली रे।
चाहें कितने फूल खिलें पर, एक सभी का माली रे।

विरह के विराट रूप का दर्शन हिन्दी कवियों में सबसे पहले जायसी ने किया। जायसी की निखिल प्रकृति उस परम पुरुष के वियोग में विह्वल हो रही है। उसके चरणों से एक बार बिछुड़ने पर फिर किसी को शांति नहीं। सभी उसके पावन स्पर्श के लिए अहर्निश प्रयास कर रहे हैं। वायु उसका स्पर्श नहीं पाकर आहें भरती। जल वाष्प बन-कर ऊपर उठता, आकाश का चक्कर लगाता लेकिन उसको नहीं छू पाने के कारण रो-रो कर फिर बरस पड़ता है, 'पानि उठा, उठि जाइ न छुआ। बहुरा रोइ, आइ भुंई चुआ।' इस परम विरह की एक झलक द्वन्द्वगीत के प्रारम्भ में ही है—

तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिये,
सन्ध्या लिये विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिये,
हँसे कौन। तुझको तजकर जो चला वही हैरान चला
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।

कवि के जीवन में भी इस विरह के कुछ कण समा गए हैं। प्रेम के इस पवित्र वरदान को वह खोना नहीं चाहता। दीपक को तब तक जलते रहना है जब तक उसे प्रियतम के दर्शन न हो जाएँ—

जीवन का यह दर्द मधुर है, तू न व्यर्थ उपचार करे,
किसी तरह ऊषा तक टिमटिम जलने दे दीपक मेरा।

द्वन्द्वगीत की यत् किंचित् सफलता का रहस्य इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यंजना में है। रहस्यमय पेचीले भावों को प्रतीकों के सहारे सुबोध बनाने की कला कबीर से सीखनी चाहिए। आधुनिक रहस्यवादी कविता के प्रतीक पाठकों को कुछ अपरिचित से लगते हैं। द्वन्द्वगीत के प्रतीक सरल सुपरिचित और राग-प्रधान हैं। ऊषा, दीपक, पतझड़, और वसंत क्रमशः सौभाग्य-उल्लास, आत्मा, साधना, उदासीनता और यौवन-आनन्द की याद दिलाते हैं। इसी प्रकार ओस, तारे, चांदनी और क्रमशः आँसू, करुणा, वेदना-कण, सौन्दर्योल्लास और मस्ती का प्रतिनिधित्व करते हैं। घोर विषाद के लिए अमा और प्राण के लिए कोयल आई है। ये प्रतीक द्वन्द्वगीत के भावों पर रेशमी घूंघट का काम करते हैं। घूंघट हटा दीजिए भाव अक्सर मामूली दीख पड़ेंगे। राष्ट्रीय कविता की बहिर्मुखता के कारण द्वन्द्वगीत की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति दिनकर के स्वभाव के अनुकूल नहीं पड़ती। इस पुस्तिका में द्वन्द्व की तीक्ष्णता और बेचैनी का सम्यक् विकास नहीं हो पाया है। अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करनेवाली मधुमयी कल्पना का अभाव कुछ खटकता है। इसके कई गीत उमरखैयामी रंग-ढंग लिए खड़े हुए हैं लेकिन उनके चरण थरथराते हैं, नशे और मस्ती के कारण नहीं, अपनी रूमानी कमजोरी की वजह से। द्वन्द्वगीत में

ऐसी कम पंक्तियाँ मिलेंगी जहाँ भाव वैदग्ध के दर्शन हों। अधिकांश पंक्तियों में अनुभूति चौड़ी होकर पसर गई है। ऐसा लगता है कि कवि ने शब्दों को जरूरत से ज्यादा खर्च किया है। भावों में कंजूसी और शब्दों की शाहखर्ची कवि को बदनाम करती है। यों, द्वन्द्वगीत का प्रवाह बड़ा सुन्दर है। कवि अनायास अपने भावों को छंदों में पिरोये चलते हैं। हिन्दी में खपने वाले उर्दू के शब्द भी आसानी से सुर मिलाते दीखते हैं, एकाध लफ़्ज भारी पड़ने के कारण गले में अटकते हैं। द्वन्द्वगीत में जब, जहाँ, जैसे, जो भाव मिलते गए वे सभी इसमें धीरे-धीरे दाखिल होते गए। जो कुछ हो, दिनकर की यह कृति प्रसाद, प्रवाह और तन्मय भावनामयता के कारण पाठकों में सदा लोकप्रिय रहेगी।

रसवन्ती

सावित्री सिन्हा

दिनकर की काव्य-प्रेरणा में वैयक्तिक और समष्टिगत अनेक विरोधी और अविरोधी तत्व साथ-साथ विद्यमान रहे हैं। क्रान्तिकारी और राष्ट्रीय कवि के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद रसवन्ती की रसमयी भावनाओं को सार्वजनिक रूप से जनता के समकक्ष रखने में दिनकर का संकोच और भय स्वाभाविक था, क्योंकि समष्टि से व्यष्टि की ओर लौटना प्रायः उसी रूप में ह्रास का चिह्न माना जाता है जैसे कि अध्यात्म-साधना से विरत और च्युत होकर कोई व्यक्ति कंचन और कामिनी की ओर लौट आए। पथभ्रष्ट साहित्यकार की स्थिति योगभ्रष्ट साधक की स्थिति से अधिक भिन्न नहीं होती। रसवन्ती को प्रकाश में लाते समय दिनकर के मन में यही संकोच था। समष्टि-चेतना के काव्य में उनकी भावनाओं का उन्नयन हुआ था, रसवन्ती में उनका उद्रेक व्यक्त है। अनेक आलोचकों ने रसवन्ती के दिनकर को पलायनवादी मानकर उन पर यथार्थ और संघर्ष से कायरतापूर्वक मुँह मोड़ लेने का दोषारोपण किया है, लेकिन जैसा कि पहले कई बार कहा जा चुका है, दिनकर की काव्य-चेतना में व्यक्ति और समष्टि, सुन्दर और सत्य, ओज और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चले हैं। द्वन्द्वगीत का धुँआ, हुंकार की आग और रसवन्ती का रस उनके हृदय में एक साथ विद्यमान रहे हैं। दिनकर ने अपनी काव्य-चेतना के इस वैयक्तिक रूप को बिना किसी हिचक और लज्जा के स्वीकार किया है—'संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों हुंकार की कविताएँ लिखी जा रही थीं, उन्हीं दिनों मैं 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात कि सन् १९३९ में ही ये तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गईं और सुयश तो मुझे हुंकार से ही मिला। किन्तु आत्मा मेरी अब भी रसवन्ती में बसती है।'[1]

रसवन्ती में 'गिरि-हृदय के व्याकुल निर्झरों' को गति मिली है। बड़े यत्न से

---

१. चक्रवाल-भूमिका, पृष्ठ ३३

छिपाए हुए भाव मुकुलों को हृदय से नीचे उतारते हुए दिनकर के मन में कातरता है। 'गीत-शिशु' नामक कविता में यह भाव-स्निग्ध कातरता बड़ी आर्द्रता के साथ व्यक्त हुई है। कल्पना के ये शिशु संसार की रीति-नीति नहीं जानते, पृथ्वी की रागद्वेषमयी अकरुणा से उनकी रक्षा किस प्रकार हो सकेगी, दिनकर का मन इसी आर्द्र शंका से युक्त है। उडु से द्युति, बाल-लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर उनका रूप संवारा गया है, सांसारिकता के बोध से अनभिज्ञ वे केवल धूल से खेलना जानते हैं, रेणु और रत्न का भेद उन्हें नहीं मालूम परन्तु सरस्वती की आराधना में पुष्प चढ़ाने के लिए, कवि-पिता ने साहस करके उन्हें पृथ्वी पर उतार दिया है। नेत्रों में विस्मय तथा शील और मन में अभिलाषा लिए वे पृथ्वी पर उतर पड़े हैं। उनके प्रति मोहग्रस्त दिनकर के हृदय की एक आवाज़ है जिसमें उनका आर्द्र - कठोर हृदय बोल रहा है––

छूकर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको
आशिष दो ये तरल गीत-शिशु बिचरें अजर-अजय से।[१]

'रसवन्ती' कविता में यह शब्द दिनकर की काव्य-प्रेरणा के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसमें कोमल, आर्द्र तथा ओज-प्रखर तत्वों के आरोह-अवरोह और उत्थान-पतन का विवेचन किया गया है। कभी उन्होंने कोकिल से माधवी कुंजों का मधु राग सीखा और कभी बाड़व की दाहक अग्नि अज्ञात ही उनके कण्ठ में आकर बैठ गई, कभी प्रकृति के सुकुमार उपकरण उनके हीरे से कठोर दिल को चीर गए और कभी अतीत के खण्डहर में बैठकर वे विकल मानवता के कल्याण का मार्ग ढूंढते रहे। दलित देशों का हाहाकार और विज्ञान की आग में जलता हुआ मानव भी उनकी कविता का विषय बना, इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि, बिन्दु और सिन्धु दोनों को ही समेट कर उनकी रसवन्ती आगे बढ़ी। कभी ऐसे भी क्षण आए जब सिन्धु की विशालता विलीन हो गई और बिन्दु की कोमल स्निग्ध गहराइयों में ही उसने अवगाहन किया। वयक्तिक सुख-दुख मधुमास का पराग, यौवन काल की उष्णता, प्रेम की शीतलता, और रूप की चकाचौंध में कुछ दिनों के लिए उनकी रसवन्ती लजीली, शर्मीली कोमलांगी तन्वंगी ही रह गई, 'रसवन्ती' में उनकी कला-चेतना का यही मधुर कोमल रूप प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है।

'रसवन्ती' में संकलित रचनाओं के प्रतिपाद्य के तीन मुख्य रूप माने जा सकते हैं—

१—शृंगार-चेतना।
२—नारी-भावना
३—आत्माभिव्यक्ति प्रेरित रागमूलक और विचारमूलक चेतना।

शृंगार-चेतना

दिनकर की समष्टि-चेतना के काव्य के दो सोपानों की भांति ही उनकी शृंगार-चेतना के भी दो रूप माने जा सकते हैं। (१) परम्परागत रागमूलक शृंगार-चेतना

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४

(२) दर्शन तथा मनोविज्ञान पर आधृत विचार-मूलक शृंगार-चेतना।

प्रथम वर्ग की शृंगार-भावना का विश्लेषण करते हुए पहला प्रश्न मस्तिष्क में यह आता है कि उसकी मूल प्रेरणा उनके काल की उस वैयक्तिक काव्य-परम्परा को माना जाए जिसके प्रतिनिधि कवि बच्चन हैं, अथवा रसवन्ती का शृंगार उससे भिन्न है ? और उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि रसवन्ती की रचनाओं को समसामयिक वैयक्तिक काव्यधारा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैयक्तिक कविता की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। 'इस कविता का विषय आज के समाज की व्यक्तिगत समस्याएँ हैं जो मूलतः काम और अर्थ के चारों ओर केन्द्रित हैं। काम के दो रूप हैं : एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम। रसवन्ती के शृंगार को न रसिकता माना जा सकता है और न उसमें प्रेम का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान है। इस शृंगार को तो छायावाद के अतीन्द्रिय शृंगार और वैयक्तिक कविता की रूमानी स्वच्छन्दता के बीच की एक कड़ी ही माना जा सकता है। रसवन्ती के शृंगार में उपभोग और विस्मय दोनों ही हैं तथा उसकी अभिव्यक्ति में मनोमयता और मांसलता दोनों के ही तत्व मिलते हैं। रहस्यमयी चेतना और शरीर की भूख दोनों के बीच की स्थिति रसवन्ती के शृंगार की है। न नैतिक आतंक से सहम कर नारी के प्रति उनका आकर्षण कौतूहल में परिणत हुआ है और न वैयक्तिक कविता की भांति उनके स्वरों में कुण्ठाजन्य विषाद है। प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति जिस सामान्य स्तर पर की गई है वह केवल रसिकता न होते हुए भी पूर्णतः वैयक्तिक नहीं है। व्यक्ति-विशेष के प्रति राग की अभिव्यक्ति रसवन्ती में बहुत कम है। इन गीतों की रचना असन्तोष, विद्रोह अथवा अनास्था के फलस्वरूप नहीं उनकी समष्टि चेतना के विद्रोह, आक्रोश के तनावों को शिथिल करने के उद्देश्य से हुई है। जिस प्रकार बच्चन, नरेन्द्र और अंचल इत्यादि कवियों ने नैतिक मर्यादाओं और जीर्ण आदर्शों को खुले शब्दों में चुनौती दी और प्रवृत्तिमूलक सहज सत्य की प्रतिष्ठा की वैसा प्रयास रसवन्ती की रचनाओं में नहीं मिलता। सामाजिक नीति-पाश को तोड़ कर स्वच्छन्दता की ओर बढ़ने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस दिनकर में नहीं मिलता—रसवन्ती का शृंगार तो पर्वत के हृदय में बहती हुई उस स्निग्ध जलधारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रखकर उसको सरस बनाये रखती है।

रसवन्ती की मुख्य शृंगारिक रचनाएँ हैं—गीत अगीत, प्रीति, दाह की कोयल, अगरु धूम, रास की मुरली, पावस गीत, सावन में, प्रतीक्षा और शेष गान। इन सभी कविताओं में उनकी कोमल भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। गीत-अगीत कविता भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टि से सफल रचना है। व्यक्त-प्रेम और अव्यक्त-प्रेम दोनों का अपना-अपना आकर्षण है। निर्झरिणी विरह के गीत गाती हुई, उपलों से अपने मन की व्यथा कहती आगे बढ़ती जाती है। शायद उसके हृदय का भार हलका हो जाये, परन्तु तट पर खड़ा हुआ गुलाब अपनी प्रणय-कहानी को मन में ही समेटे मूक सोचता है—काश मैं भी अपने पतझर के सपनों की व्यथा जग को सुना पाता—दोनों में कौन सुन्दर है—तटिनी की अभिव्यक्ति अथवा पाटल का मौन। बसन्ती किरणों के स्पर्श से

मुग्ध शुक की चहक-सुन्दर है अथवा वन में गूँजते हुए अपने शुक के कलरव पर पंख फुलाती हुई मंत्रमुग्ध शुकी का उल्लास, साँझ के समय आल्हा गाते हुए प्रेमी का संगीत सुन्दर है अथवा उसके स्वर से आकर्षित नीम की छाया में खड़ी चोरी-चोरी उसकी प्रेमिका के अन्तर की आकांक्षा?--

'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना, यों मन में गुनती है
वह गाता, पर किसी वेग में
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है।[1]

'प्रीति' कविता में गम्भीर, अव्यक्त, मधुर मंगल अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम का स्तर सामान्य होते हुए भी उसमें केवल रसिकता नहीं है, ऐन्द्रिय होते हुए भी वह स्थूल नहीं है, छायावाद की अतीन्द्रिय और वैयक्तिक कविता की निर्बन्ध प्रेम-भावना के बीच में कहीं इसको स्थान दिया जा सकता है। प्रीति सांझ के अरुण घन के समान, कनक-गोधूलि मना कर बिखर जाने वाली वस्तु नहीं है, वह नील गम्भीर, गगन के समान है धरणी के साथ जिसका शाश्वत मूक प्रेम अक्षय और अपार है। प्रीति पूर्ण चन्द्र नहीं है जिसकी विभा अनुदिन क्षीण पड़ती जाती है, वह तो द्वितीया के चन्द्र की कला के समान है जिसकी शीत स्निग्ध रश्मियाँ दिन पर दिन बढ़ती ही जाती हैं—प्रेम असीम है जन्म-जन्मान्तरों की सीमा पार कर अव्यक्त प्रेम ही सत्य है—विरहिणी की पीड़ा सुलगती हुई आग के समान है—सम्पूर्ण कविता में व्यक्त शृंगार आरम्भ से लेकर अन्त तक एक कोमल मधुर सात्विक भाव से युक्त है—द्विवेदीयुगीन नैतिक प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह और विरोध का इसमें स्पर्श भी नहीं है, कोमल भावनाओं के अस्तित्व की घोषणा करने का साहस भी कवि को बड़ी मुश्किल से हुआ है—यह प्रेम-हृदय का अधिक, शरीर का कम है---उसमें भावनाओं की आर्द्रता और स्निग्धता अधिक है, ऐन्द्रियता बहुत कम।

'दाह की कोयल' कविता में वियोग के उद्दीपन का एक नया रूप मिलता है। जीवन के विषम कठोर संघर्षों के रेगिस्तान में कभी-कभी अनायास ही अतीत की कोमल मधुर स्मृतियों की कुहुक से भावनाएँ उद्दीप्त हो जाती हैं। स्मृति संचारियों द्वारा उद्दीप्त भावनाओं की आर्द्र स्निग्धता का, सार्थक उपमान संकलन द्वारा जो चित्रण किया गया है, उसमें भावनाओं की सात्विकता के साथ ही सात्विक अनुभावों का भी चित्रण हुआ है। दाह के आकाश में पंख खोल कर स्मृति की कोयल बोल उठी है और कवि का रोम-रोम मधुर स्मृतियों और पुलकों से भर उठा है—

मुन्द गई पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान,

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६

मंद गई पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुड़ी चीज़ की तस्वीर ।[1]

अतीत की ये स्मृतियाँ वर्तमान के तपते हुए मरु-पन्थ में छाया प्रदान करती हैं । बालुओं के दाह में इस गुमरते दर्द की अनुभूति सुधा की धार, सुकुमार चांदनी, और जुही के फूल के समान है । कवि के पास केवल आग है वर्तमान के वैषम्यों की लू में यही मन्दाकिनी की धार, और हरी सुकुमार आशा उसे शीतलता प्रदान करती है ।

'अगरु धूम' कविता में भी प्रेम भावनात्मक स्तर पर है । भावनाओं के अतिरेक का मधुर सुरभित अन्धकार इन पंक्तियों में साकार है—

मैं अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भू बंधी तरी
ऐसी अमेय निर्मोघ शान्ति ।
नभ सदृश चतुर्दिक तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम प्रभु निराकार ।
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
छा गया अगरु का अन्धकार ।[1]

प्रेम और प्रेमिका के बीच की वह स्थिति जहाँ स्थूल और साकार मिट जाता है, भावनाओं का पागलपन ही शेष रह जाता है, इस कविता में वर्णित है, परन्तु यहाँ भी उनके शृंगार में पुष्प, अक्षत, अर्चना-दीप, धूम-जाल, सुमन-हार ही है आकुल आकाँक्षाएँ और उष्ण अनुभूतियाँ नहीं । यह प्रेम शृंगार की अपेक्षा भक्ति के अधिक निकट है। यह पूजा-अर्चना का विधान सजीव अनुभूतियों के स्पर्श के कारण उपहासप्रद होने से बच जाता है । प्रेमी द्वारा समर्पित हृदय के मधुर प्यार को, प्रेमिका मन में, पुतली में सजा कर रखती है, प्रेमी की अर्चना न स्वीकार करने का उसके मन में दुख और पश्चाताप है—अन्त में प्रवृत्तियों की विजय होती है परन्तु जिन प्रवृत्तियों की स्थूलता और उष्णता की अभिव्यक्ति के साहस के अभाव में छायावादी कवियों ने सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का सहारा लिया था, दिनकर ने पूजा, उपासना और आराधना का सहारा लिया है जिससे चित्रण में अस्वाभाविकता आ गई है । पार्थिव अनुभूतियों का यह अपार्थिव रूप अविश्वसनीय और अस्वाभाविक हो उठा है । विरह और मिलन की जगह साधना और सिद्धि, प्रेमी और प्रेमिका के लिए देवी और साधक शब्दों के प्रयोग से प्रेम-सहज पार्थिव प्रवृत्तियों ने अपार्थिव आलम्बन के प्रति उन्नयनित कामनाओं का रूप धारण कर लिया है जो सर्वथा स्वभाविक नहीं जान पड़ता । इसी प्रकार प्रेम के अन्तिम सोपान में कामनाओं की अभिव्यक्ति के स्थान पर कर्त्तव्यनिष्ठा और समर्पित त्याग-भावना इत्यादि से पूर्ण नारीत्व के विश्लेषण से भी कविता में अनावश्यक ही आदर्शों का

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ ३२

आरोप हो गया है, उनका आलम्बन न छायावादी कविता की 'अव्यक्त सत्ता' रह गया है और न वैयक्तिक कविता का आश्रय विद्रोही युवक। निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रेमिका के भावनापूर्ण विवश आत्मसमर्पण की व्यंजक नहीं जान पड़तीं, प्रत्युत ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कोई नवपरिणीता जीवन भर कर्त्तव्य निभाने का व्रत ले रही हो—

माँ की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूँगी
भिन्न अगरु का अन्धकार।[1]

इस कविता में व्यक्त संयम, नियम और आदर्शों के साथ पूर्ण लय की स्थिति की कल्पना, उस युवक की कल्पना है जिसमें अपने समसामयिक अन्य कवियों की भांति सामाजिक बंधनों और नैतिक आदर्शों को तोड़ने की प्रेरणा और इच्छा नहीं है—जो कोमल भावनाओं को सामाजिक परिवेश और आदर्शों के घेरे में ही देख सकता है। एक वाक्य में कहा जाए तो रसवन्ती में उन्मुक्त प्रेम की साहसपूर्ण, निर्भय और आत्म-विश्वासपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है।

'रास की मुरली' में कृष्ण-लीला के रास-प्रसंग को माध्यम बनाकर शृंगार की विभिन्न मानसिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। इस कविता में भी कवि की दृष्टि में शृंगार का सामान्य स्तर है। रास की मुरली, काम की अदम्य प्रेरणा और आकर्षण की प्रतीक है। शृंगारपरक उद्दीपक वातावरण और प्रकृति-चित्रण के साथ कविता का आरम्भ होता है। कोकिल की तान और चांदनी की मादकता शृंगार के परम्परागत उद्दीपन हैं, परन्तु यहाँ उनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए नहीं हुआ है—ये सभी उपकरण भावों के साथ सन्निविष्ट होकर प्रयुक्त हुए हैं। वकुल-वन में गूँजती हुई कोकिल की तान, और चांदनी में उमड़ती हुई मद की मधुर उफान का संकेत वातावरण को मिलन के प्रतीक 'रास' के उपयुक्त बनाता है। प्रकृति पर शृंगारिक कार्य-कलापों के आरोपण द्वारा वातावरण को और भी उष्ण और तप्त बना दिया गया है—

गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिल वसना रजनी के संग,
सिहरते पग सकता न सम्हाल
कुसुम कलियों पर स्वयं अनंग।[2]

कविता के विभिन्न खण्डों में विभिन्न काम-स्थितियों का चित्रण हुआ है। प्रथम खण्ड में काम के आकर्षण से अभिभूत विभोरता का चित्र है—

ठगी सी रुकी नयन के पास
लिये अंजन उंगली सुकुमार,

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ३६
२. वही, पृष्ठ ३७

अचानक लगे नाचने मर्म
रास की मुरली उठी पुकार।[1]

द्वितीय खण्ड में प्रतीक्षा की अधीरता और उद्विग्नता है परन्तु उपालम्भ और दैन्य का स्वर प्रधान होने के कारण उसमें अभीष्ट प्रभावोत्पादकता नहीं आने पाई है। तीसरा खण्ड प्रभाव की दृष्टि से सार्थक है। तरंगित यौवन के ज्वार की तीव्रता, अस्तव्यस्तता, आकुलता और व्याकुलता—सुन्दरता के साथ व्यक्त हुई है···मानसिक ग्रन्थियों के बन्ध ढीले करके कामनाएँ खुल कर व्यक्त होना चाहती हैं, मुरली के स्वर का प्रभाव उसे पागल बना देता है। साज शृंगार के उपकरणों में वह अस्त-व्यस्त हो उठती है। चतुर्थ खण्ड में कवि फिर पूर्व परिचित धरातल पर आकर प्रेम-भावनाओं के सात्विक और सत्य रूप का विश्लेषण करने लगता है। पूर्ण समर्पण का नाम प्रेम है—मिलन-पर्व नग्न उल्लासों और भावों का त्यौहार है, 'कुंकुम, अंजन, और अधरों के रंग आज निष्फल हैं, आज तो हृदय में संचित अनुराग, नयनों में सज्जित मादकता में सराबोर होकर ही सुहाग सफल किया जा सकता है, बाहों की मृदुल मृणालों का हार तथा भावनाओं की मल्लिका के फूल बिखेर कर ही प्रेम-देवता की उपासना की जा सकती है। अन्तिम खण्ड में फिर पूर्ण समर्पण और तादात्म्य की स्थिति का भावात्मक चित्रण हुआ है—महालय के मंगलकाल में लज्जा का व्यवधान नहीं चल सकता, यदि द्विधा और संशय में ही मोहन का मादक रस समाप्त हो गया तो आकुल प्राणों की आकांक्षा अतृप्त रह जायेगी, यौवन का मधुमास असफल हो जाएगा। राग का आकर्षण शाश्वत है, सनातन है, असीम और ससीम, पुरुष और नारी, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध इसी राग के विविध रूप हैं—चरम मिलन के क्षणों में दोनों पक्षों का पार्थक्य मिट जाता है—बांसुरी और कंकण एक हो जाते हैं—काम के इसी सनातन अविच्छिन्न प्रवाह में अचेतन विश्व लीन और लिप्त होकर बहा चला जा रहा है—

सनातन महानन्द में आज
बांसुरी-कंकन एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन वश्व
रास की मुरली रही पुकार।[2]

सनातन पुरुष और सनातन नारी का जो समस्या-मूलक रूप 'उर्वशी' के प्रतिपाद्य के रूप में ग्रहण किया गया है—'रास की मुरली' में व्यक्त इन भावनाओं को उसका भावनात्मक और प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

'गीत' शीर्षक कविता में कुछ वैयक्तिक तत्व अवश्य आ गया है, परन्तु उसमें प्रेम की स्वीकृति नहीं निषेध की व्यंजना हुई है—

लहरें अपनापन खो न सकीं,
पायल का शिंजन ढो न सकीं,
युग चरण घेर कर रो न सकी,

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ३७
२. वही, पृष्ठ ४१

जीवन की अयि रूपसी प्रथम।
तू पहली सुरा पिला न सकी।[1]

'अन्तर्वासिनी' कविता में भी प्राणों के सर में अर्धस्फुटित भावनाओं के कमल की प्रेरक रूप कल्पना से कवि प्रश्न पूछता है—

भीगने नहीं देती पद की
अरुणिमा सुनील लहर में ही ?
तुम कौन प्राण के सर में ?[2]

यहाँ भी उसकी श्रृंगार चेतना रूपानुभूति के आगे नहीं बढ़ी है। 'अगरु के अन्धकार' के समान ही उनके मन पर छाई हुई सुनहरी, इन्द्रधनुषी कनकाभ कल्पनाओं का रूप भी वायवी और मानसिक धरातल पर ही है परन्तु श्रृंगार की अनुभूतियों में उष्णता के हलके स्पर्श से यह चित्रण बड़ा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो गया है—

जब से चितवन ने फेरा
मन पर सोने का पानी,
मधु वेग ध्वनित नस-नस में,
सपने रंग रही जवानी।[3]

'पावस गीत' और 'सावन' में कविताओं की श्रृंगार-चेतना में परम्परागत तत्वों का समावेश हुआ है, परन्तु केवल उसके यान्त्रिक निर्वाह पर ही उनकी दृष्टि टिककर नहीं रह गई है। वर्षा ऋतु को परम्परा से विप्रलम्भ श्रृंगार के उद्दीपन रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। पावस गीत में यद्यपि प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है, परन्तु कहीं-कहीं कवि ने अपने हृदय की भावनाओं के संस्पर्श से उसे उद्दीपन रूप दे दिया है—

फूट रहे बुलबुले या कि मेरे दिल के छाले सजनी ?
+ + +
बुझती नहीं जलन अन्तर की, बरसे दृग बरसे जलधार,
मैंने भी क्या हाय, हृदय में अंगारे पाले सजनी।[4]

'सावन में' कविता में आँसू, विरह और वेदना की बाढ़ आ गई है। उन्होंने भी करीब-करीब प्रसाद की तरह ही छिल-छिल कर छाले फोड़े हैं और साथ ही उनमें श्रृंगार की खुली अभिव्यक्ति का भी साहस आ गया है—

हाँ, सच है, छाया सुरूर तो मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस, जिये अगर बाउर हो ले।[5]

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ६२
३. वही, पृष्ठ ६३
४. वही, पृष्ठ ६४
५. वही, पृष्ठ ९४

'भ्रमरी' कविता में भी आह उच्चछ्वास, उलाहने और शिकवे प्रधान हो गये हैं—

किसे कहूँ ? धर धीर सुनेगा
दीवाने की कौन व्यथा ?
मेरी कड़ियाँ कसी हुई,
बाकी सबके बन्धन ढीले ।[1]

प्रतीक्षा और शेषगान में उनकी शृंगार-चेतना का रूप स्वस्थ और प्रकृत हो गया है। एक और उनके भावों की स्निग्धता ने कृत्रिम आध्यात्मिकता का बाना उतार दिया है, और दूसरी ओर उनके आँसू, उच्छ्वास और आहें संयत हो गई हैं।

इस प्रकार 'रसवन्ती' की शृंगार-भावना में मन की कोमल मधुर वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। शारीरिकता की स्वीकृति उसमें बहुत कम है। इसीलिए उसमें तीव्रता और उत्कटता न होकर माधुर्य और सात्विकता है, परन्तु छायावादी शृंगार-चेतना के समान उसमें न कल्पना के रूमानी स्पर्श हैं, और न परिष्कृत लावण्य सुकुमारता, सरसता और कोमलता उसके प्रधान गुण हैं परन्तु रस और कान्ति की दृष्टि से उसका अधिक महत्व नहीं है।

रसवन्ती में व्यक्त नारी-भावना

'रेणुका' की राजा-रानी कविता में दिनकर ने नारी को पुरुष की भावनात्मक प्रेरणा के रूप में ही देखा था, तथा उसे ही उसके जीवन की सार्थकता माना था। खुले शब्दों में कहा जाए तो उनका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से परम्परावादी था, और 'यशोधरा' तथा 'उर्मिला' के आँसुओं को ही उन्होंने भी नारी के मूल्यांकन की कसौटी रूप में स्वीकार किया था। रसवन्ती में भी नारी के प्रति उनकी दृष्टि और प्रतिक्रियाएँ अधिकतर परम्परावादी ही रही हैं। नारी शीर्षक से उसमें दो रचनाएँ संग्रहीत हैं। प्रथम कविता में उनकी कल्पनाएँ छायावादी अतीन्द्रियता के निकट हैं जहाँ उसके व्यक्तित्व में नैसर्गिक सौन्दर्य और अलौकिक व्यक्तित्व का आरोपण किया गया है। नारी को उन्होंने विधि की अम्लान कल्पना, ज्योति की कली, और एक दिव्य विभा के रूप में देखा है। कोमलता, दिव्यता और कान्ति जिसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। ज्ञानी, कर्मी, कलाकार सभी को वह प्रेरणा देती है। उसके सौन्दर्य के प्रभाव से निर्जीव स्वप्न बोलने लगते हैं, उसकी चितवन की नैसर्गिकता और अलौकिक प्रभाव से हिंस्र मानव के हाथ से धनुष और बाण शिथिल होकर गिर जाते हैं, सिंह और गयन्द के समान शक्तिशाली मनुष्य भी नारी के रूप-तंतु में बिंध कर विवश और असहाय हो जाते हैं। कर्मी उसकी प्रेरणा से शिव-धनुष तोड़ते हैं, मत्स्यभेदन करते हैं, प्रेमी उसके लिए पहाड़ खोद डालते हैं, कवि उसकी अर्चना के लिए चाँद को जमीन पर उतार लाता है। उसके संकेत पर शूर 'कनक मृग' के पीछे दौड़ पड़ते हैं और उसकी एक मुस्कान पर ऋषियों की समस्त सिद्धियाँ लुट जाती हैं। कविता के उत्तरार्ध में कवि की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक लौकिक और ऐन्द्रिय हो गई है। नारी-सौन्दर्य को रेखाओं में बांधने के लिए दिनकर ने बहुत बार उसे सद्यः स्नाता के

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ९६

रूप में देखा है शायद विद्यापति से प्राप्त संस्कार इस प्रकार की रचनाओं में स्वतः प्रकट हो जाते हैं---

> कहीं यमुना से कर तुम स्नान,
> पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल
> सिक्त कुन्तल से झरते देवि ।
> पिये हमने सीकर अनमोल ।[1]

पुरुष शैशव में उसके हृदय के रसपीयूष से अपनी क्षुधा और यौवन में उसका मधुर-मकरन्द पान कर अपनी प्यास बुझाता है, पर उसके प्राणों की तृष्णा सदैव अतृप्त ही रहती है, जन्मजन्मान्तर से पुरुष उसके कोमल स्निग्ध रूप पर भूला रहा है परन्तु उसकी माया का मूल रहस्य समझने में असमर्थ रहा है। नारी वह अगुण और अमेय कल्पना है जिसे छू सकने में पुरुष असमर्थ है, अन्तर की वह गूढ़ भावना है जो युग-युग से अकथ और अजेय रही है।

'पुरुष प्रिया' कविता में नारी के अपरूप आदर्श और प्रेरक रूप को अभिव्यक्ति मिली है । यहाँ भी उसमें सुन्दर की प्रतिष्ठा ही कवि का उद्देश्य रहा है। पुरुष ओज और पौरुष है जो तरुण भानु के समान पृथ्वी पर उतरता है जिसके शीश पर अग्नि-किरीट और हाथों में आलोक का धनुष है, जिसके बाणों से चिनगारियाँ फूटती हैं। उसकी शक्ति से अम्बर निःशब्द और धरती अवाक् रह जाती है, पृथ्वी सागर और आकाश उसके इंगित पर नाचते हैं। पुरुष का अहंकार किसी के सामने झुकना नहीं जानता। परन्तु, नारी-सौन्दर्य और उसके प्रणय की कोमल भावना की चांदनी के सामने अहंकार का अनल लज्जित हो जाता है, शिरीष कुसुम के तन्तुओं से भी अधिक कोमल भावनाएँ अहंकार के शैल को झुका देती हैं, नारी के रूप की किरण पुरुष को अपने ऊसर का ज्ञान कराती हैं, और उसका आकर्षण उसके जीवन के अभावों और परिसीमाओं का पूरक बन जाता है। इसी प्रकार नारी की भावनाएँ भी पुरुष पर अर्पित होकर सार्थक होती हैं।

नर और नारी के सनातन सम्बन्धों का सूत्र भी इसी 'पुरुष प्रिया' कविता में प्रथम बार ग्रहण किया गया है। वायवी, मानसिक और अतीन्द्रिय धरातल पर ही स्थित रहने वाली शृंगार-भावना में समस्याओं के लिए अवकाश नहीं रहता परन्तु जब मन की कल्पना उतर कर भूमि पर खड़ी हो जाती है, पुरुष के नयन में बलि का स्थान विस्मय-जन्य कौतूहल ले लेता है, कौतुक कामना में परिवर्तित होता है और सम्पूर्ण सृष्टि तथा प्रकृति ही उसे अनुरागरंजित जान पड़ने लगती है । शिखरों पर उतरती हुई ऊषा, अतल मौन सागर पर झुकती हुई संध्या में भी उसे अपनी प्रणयानुभूति की प्रथम अभिव्यक्ति की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। काम की अज्ञात प्रेरणा से हृदय द्रवित होकर आँसू बन जाता है, वायवी स्तर पर प्राणों का यह अकलंक सम्बोधन और कोई समझ ले, पर पुरुष की आकांक्षाएँ और अहं किसी सौमित्र रेखा और प्रतिबन्ध को नहीं मान सकता। पुरुष, जिसका स्वभाव ही है नवीनता की खोज करना

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ २६

अलभ्य की लाभ-प्राप्ति, और रहस्यों को अनावृत करना, अपरूप और वायवी सीमाओं की घुटन में नहीं रह सकता। मार्ग में आये हुए पर्वतों को पार कर अपार व्याधाओं के सागर का संतरण करके वियावान जंगलों को पार करके भी वह अपनी राह बनाने को आगे बढ़ता है। नारी के प्रति जिज्ञासा कामना में परिवर्तित होकर उसे विजय-प्राप्ति के भाव की ओर अग्रसर करती है, ऐन्द्रिय लोलुपता उसे जिस ओर ले जाती है उस मार्ग पर भी उसे शान्ति और सुख नहीं मिलता, फूल के सौरभ को न पाने पर उसकी पंखुड़ियों को ही तोड़-मरोड़ देने से क्या सुख मिल सकता है? केवल रूप-भोग ही मन के चिरन्तन दाह का समाधान नहीं बन सकता, चाँदनी को पीकर अथवा चाँद का रस निचोड़ कर उसकी ज्वलित कामनाओं की अग्नि बढ़ती ही जाती है कम नहीं होती। प्रेम के वायवी और ऐन्द्रिय उलझनों के मोह-जाल में पुरुष सारी आयु गंवा देता है, परन्तु नारी विषयक केवल एक सत्य उसके हाथ आता है जिससे वह बच नहीं सकता—'तुम सा न कहीं सुन्दर कोई।' युग-युग से पुरुष व्यग्र और चंचल होकर इस 'सस्मित, मान अचल' नारी के इर्द-गिर्द तीव्र गति से घूम रहा है, परन्तु युग-युग से एक शाश्वत सत्य चला आ रहा है—पुरुष नारी के माधुर्य और सौन्दर्य से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, और नारी की भी उसके बिना कहीं गति नहीं है। श्रान्त पुरुष का सहारा है नारी का प्रेम, और नारी की सहज कोमल मधुर वृत्तियों का एकमात्र आश्रय है पुरुष की शक्ति की छाँह।

रसवन्ती की 'नारी' नामक दूसरी कविता में दिनकर की नारी-भावना सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्त हुई है। उसमें नारी के तीन पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है—

१. आधुनिका २. रक्षणीया ३. माता

आधुनिका के प्रति दिनकर के पास केवल भर्त्सना है। परिवार के सुव्यवस्थित और सुदृढ़ वातावरण से वंचित गार्हस्थ की एकरसता और उत्तरदायित्व से ऊबी हुई और भयभीत आत्मकेन्द्रित, अहंवादिनी आधुनिका आज सचमुच ही अपने और समाज दोनों के लिए एक समस्या बन गई है। मिथ्या सुख की खोज में उसे कहाँ-कहाँ नहीं भटकना पड़ता, महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित वह कहाँ-कहाँ टकरा कर फिर टूट जाती है। पत्नीत्व और मातृत्व की गरिमा से वंचित त्याग और समर्पण के सुख से अनभिज्ञ, पुरुष के साथ स्पर्धा और प्रतियोगिता की चेष्टा में वह किसी की भी सहानुभूति की पात्र नहीं रह गई है। दिनकर की दृष्टि में भी आधुनिका के प्रति घृणा और भर्त्सना ही है और कुछ नहीं, परन्तु उसमें यथार्थ का अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज की नारी सब प्रकार के दायित्वों से अलग अपने आपको ही सबसे महत्वपूर्ण मान बैठी है। अपनी रूप-सज्जा के प्रति जागरूकता उसका प्रधान कर्त्तव्य-कर्म बन गया है। रूप के उपयोग के द्वारा महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति उसका सहज कार्य बन गया है। दिनकर ने इस कविता के प्रथम अंश में उसकी आत्म-संकीर्ण दृष्टि, उसके विकृत जीवन-दर्शन और हल्केपन की हँसी उड़ाई है। आधुनिका की उपलब्धियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। कवि के हाथ में आकर कोई भी वस्तु सामान्य बन जाती है, दिनकर के हाथ में आधुनिका किसी व्यंग्य चित्र का आलम्बन मात्र बन कर रह गई है, उसके भौतिक संघर्ष, उसके सामा-

जिक परिपार्श्व और उसके हृदय के ऊहापोहों पर कवि ने ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी है, वह तो आधुनिका के दोषों को पूर्वाग्रहों के चश्मे से ही देख सका है—

निरावरण, उद्दाम किरण सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जांचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।[1]

उनकी दृष्टि में आधुनिका केवल लालसा की एक लहर है जो पुरुष के मन को रंग देती है, वातावरण में मादक सौरभ भर देती है, परन्तु यह मादक सौरभ, यह राग-रंग की प्रवृत्ति उसे नारी-सुलभ सहजताओं से वंचित किये दे रही है, पंख-रंगी तितली को उस प्रमद वन में स्थान नहीं मिल सकता जहाँ तितलियाँ पंख नहीं रंगतीं, जिनके पंख में अकृत्रिम सहज सौन्दर्य रहता है, जहाँ 'गुलाब' का सौरभ उनके अन्तर में निहित रहता है। उसे बाह्य कृत्रिम प्रसाधनों को सुरभित करने की आवश्यकता नहीं होती, जहाँ रूप और यौवन प्रेम-सम्बन्धों के आधार नहीं होते बल्कि जहाँ मन का बन्धन जीवन भर एक दूसरे से बंधे रहने की प्रेरणा देता है।

वे, आधुनिका से निर्भ्रान्त और स्पष्ट प्रश्न पूछते हैं : 'अपने रूप और यौवन से कितने व्यक्तियों का मन बाँधोगी ? तुम्हारे प्रेम की चोट जितनी हल्की है, उससे बिंधने वालों की पीड़ा उससे भी हल्की है। किसी पुरुष के हृदय पर गहरी रेखायें खींचने में तुम असमर्थ रहोगी, इस प्रकार के हल्के-फुल्के प्रेम-व्यापार जल की रेखाओं के समान आते और चले जाते हैं, यह रोमांच केवल शरीर को प्रभावित कर सकता है हृदय को नहीं। पुरुष वह गम्भीरता चाहता है, जिससे तुम पूर्णतः अपरिचित हो। इस प्रकार के कार्य-कलापों से तुम्हारी मर्यादा और गौरव का नाश हो रहा है और तुम नारीत्व के सहज गुणों से वंचित होती जा रही हो।'

इसी कविता के दूसरे खण्ड में भारतीय नारी के उस रक्षणीया और अबला रूप का चित्रण हुआ है, जिसके कारण उसे परिगणित और दलित जातियों के अन्तर्गत रखने की बात की जाती रही है। जो युग के प्रकाश से ही नहीं दिन की खुली धूप से भी वंचित है, जिसका मनोबल क्षीण है, जिसको अपनी शक्ति का रंचमात्र भी विश्वास नहीं है, जो लोलुपता भरी दृष्टियों के बाण से अपने को भयभीत हरिणी की तरह बचाती है, उसके पास केवल एक वस्तु शेष है और वह है उसका शील। वही उसका सर्वस्व है तथा उसी की रक्षा करना उसका ध्येय है। आधुनिका को दिनकर ने नारीत्व के गुणों की याद दिलाई थी, उसके खण्डित होते हुए शील की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया था, परन्तु ग्रामीणा में उन्होंने उसी शक्ति को जगाने की कामना की है जिससे वह अपनी रक्षा आप कर सके, जिस शक्ति के सामने उस पर लगे लोलुप-नेत्र अपने आप झुक जाएँ—

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४६

जी करता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उढ़ा दूँ।
या कि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जाएगी।
घोर ग्लानि से झुक जाएँगे नयन घूरने वाले,
झुक जाएँगी कलुष-ज्ञान में दबी ह्रीण ग्रीवाएँ।[1]

तीसरे चित्र में सद्य:माता का चित्रण प्रस्तुत करते करते कवि का मन मातृत्व की गरिमा में रंग गया है। माँ बन कर नारी समष्टि का भार वहन करने वाली महवत्त्पूर्ण इकाई बन जाती है। उसकी सरलता और चपलता दायित्व-ज्ञान में बदल जाती है, वाणी में संयम, पदों में धीरता, और आँखों में संकोच एवं शील-गौरव भर जाता है। मातृत्व-प्राप्ति के साथ ही नारी जीवन को सार्थक समझने लगती है। क्रीड़ा, कौतुक और प्रणय से ऊपर भी कोई गम्भीर तत्व है यह रहस्य उसके सामने खुल जाता है। जीवन के जिस संगीत के माधुर्य में वह अब तक झूमती रही थी उसका अद्भुत अर्थ उसे मातृत्व के बाद स्पष्ट होता है। कल्पनाओं और भावनाओं के संसार से निकल कर वह यथार्थ की भूमि पर चरण टिकाती है, और समष्टि के प्रति अपने दायित्व को पहली बार समझती है। दिनकर की नारी-भावना में पत्नीत्व की अपेक्षा मातृत्व की गरिमा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारतीय मान्यता में नारी पति और पुत्र के माध्यम से ही समष्टि को अपना योग देती है। दिनकर ने रसवन्ती तक नारी के पत्नी रूप को अधिक मान्यता नहीं दी है परन्तु नारी का मातृत्व ही उसके जीवन की सार्थकता है यह घोषणा बार-बार की है। पत्नीत्व के त्याग और समर्पण की गरिमा तो आगे चलकर उर्वशी में औशीनरी और सुकन्या के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुई है। दिनकर यद्यपि मैथिली-शरण गुप्त की दूसरी पीढ़ी के कवि हैं परन्तु उनकी इन मान्यताओं में अधिकतर गुप्त जी की मान्यताओं की ही आवृत्ति हुई है। उनके अनुसार, नारी जग के संघर्षों का सामना स्वयं नहीं करती प्रत्युत अपना संदेश बेटों के मुख से कहा करती है, पुरुष जीवन के संग्राम में अपने तेज और बल से विजय प्राप्त करता है, परन्तु माँ के हृदय की आग उसके बेटे की तलवार में चमकती है—

नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरूप करने में,
करते हैं साकार पुत्र ही माता के सपने को
बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर।[2]

यहाँ भी दिनकर आधुनिकाओं पर दंश करने से नहीं चूके हैं—

काश ! समझतीं जन्म निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएँ
पुत्र कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।[3]

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४६
२. वही, पृष्ठ ५१
३. वही, पृष्ठ ५१

निष्कर्ष यह है कि 'रसवन्ती' की नारी-भावना में अधिकतर अंश परम्परा का है। दिनकर ने नारी की मानसिक शक्ति को ही अधिक महत्ता दी है और मातृत्व और पत्नीत्व में ही उसकी सार्थकता मानी है। आधुनिक परिवेश में रख कर उसे उन्होंने प्रायः नहीं देखा और जहाँ देखा है वहाँ उनकी दृष्टि में घृणा और भर्त्सना ही प्रधान है। नारी-भावना के ये ही सूत्र उर्वशी में चल कर पल्लवित हुए हैं जहाँ औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से नारी और पत्नीत्व की गरिमा की स्थापना हुई है और 'उर्वशी' तथा अप्स-राओं में आज की बौद्धिक नारी की भावनात्मक समस्याओं का उद्घाटन किया गया है।

इन मूल चेतनाओं से अलग 'रसवन्ती' की अन्य रचनाओं के निम्न वर्ग किए जा सकते हैं

(१) राग-प्रेरित रचनाएँ (२) विचार-प्रेरित रचनाएँ

प्रथम वर्ग की मुख्य रचनाएँ हैं, 'बालिका से वधू', 'कत्तिन का गीत', 'कवि कालिदास' और 'अगेय की ओर'। प्रथम रचना में नवविवाहिता की विदा-प्रसंग के मधुर, कोमल और आर्द्र चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। नववधू के शृंगार, भावी उमंगों और विछोह की वेदना की उठती-गिरती लहरों की प्रतिक्रियाओं और विदा के बाद की अभावमूलक कल्पनाओं का चित्रण तो मार्मिक रूप से हुआ ही है—बालिका की चपलता, चंचलता और सहजता के स्थान पर बधू के गाम्भीर्य और दायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों की स्थापना भी की गई है—

जगे हृदय को शीतल करने वाली मीठी-पीर,
निज को डुबो सके निज में मन हो इतना गम्भीर।[1]

'कत्तिन का गीत' कोमल भावनाओं का राष्ट्रीय गीत है, जिसकी प्रेरणा में गांधी का वह स्वदेशी आन्दोलन है जिसने लंकाशायर और मैनचेस्टर से चलते हुए व्यापार को चुनौती देकर उनका दीवाला निकाल दिया था। गीत में लोकगीतों की सहजता, माधुर्य और सामूहिक प्रेरणा विद्यमान है।

'कवि' नामक कविता में कवि के व्यक्तित्व में अलौकिक गुणों का आरोपण करके उसमें सौन्दर्य, सत्य और शिव की प्रतिष्ठा की गई है। 'कालिदास' कविता में उन के कवि, व्यक्तित्व और काव्य कृतियों की काव्यात्मक व्याख्या और आख्यान है। 'मरण', 'समय', आश्वासन', 'विजन' 'रहस्य' इत्यादि कविताएँ विचार प्रेरित हैं, इन सभी रचनाओं में दिनकर की सौन्दर्य-चेतना का विचार-संपुष्ट रूप मिलता है, जिसमें आशा और विश्वास का स्वर प्रधान है। परन्तु उनकी काव्य-चेतना के दोनों ही मूल उत्सों में इनका कोई विशिष्ट और उल्लेखनीय योगदान नहीं माना जा सकता।

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ९

स्वराज्योत्तर दिनकर-साहित्य

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

(१)

स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रकवि दिनकरजी की कौन-कौन सी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं? मेरे जानते यह सूचि बहुत लम्बी नहीं है। 'रेणुका','हुंकार', 'रसवन्ती' 'द्वन्द्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', धूप-छाँह' और 'मिट्टी की ओर'। जहाँ तक मुझे स्मरण है, १५ अगस्त, १९४७ ई० के पूर्व तक दिनकरजी के इतने ही ग्रंथ प्रकाश में आये थे, यद्यपि इन ग्रंथों ने उनके लिए लगभग वही स्थान बना दिया था जिस पर दिनकरजी आज आसीन हैं।

दिनकरजी जब काव्य के क्षेत्र में आए, उस समय हिन्दी में कविता की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट थीं। एक धारा छायावादी काव्य की थी जिस पर आक्षेप यह था कि वास्तविकता से ईषत् दूर है। दूसरी धारा राष्ट्रीय कविताओं की थी जो वास्तविकता की अत्यधिक आराधना करने के कारण कला की सूक्ष्म भंगिमाओं को अपनाने में असमर्थ थी। दिनकरजी ने काव्य पाठकों का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकृष्ट किया कि उन्होंने कला को वास्तविकता के समीप ला दिया, अथवा यों कहें कि राष्ट्रीय धारा की कविताओं में उन्होंने कला की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भंगिमाएँ उत्पन्न कर दीं। दिनकरजी में शक्ति और सौन्दर्य का जो मणिकांचन-संयोग दिखाई पड़ा, वही उनकी कीर्ति का आधार बना।

यदि 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' को अलग कर दें तो दिखाई यह देता है कि स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व तक दिनकर काव्य का मूल उत्स भारत का स्वतन्त्रता-संग्राम था। 'चक्रवाल' की भूमिका में दिनकरजी ने यह संकेत दिया है कि राष्ट्रीयता उनकी अन्तरात्मा का स्वर नहीं था। यह तत्त्व उनके भीतर काल ने बरबस सन्निविष्ट कर दिया। मैं दिनकरजी के इस आत्मविश्लेषण को स्वीकार नहीं करता। राष्ट्रीयता उनकी आत्मा का प्रधान स्वर रहा है। इससे बचने का उन्होंने जो भी प्रयास किया है, वह बौद्धिक है। किन्तु संकट के समय मनुष्य बुद्धि नहीं, भावना के अधीन हो जाता है। स्वराज्य के उपरान्त दिनकरजी ने राष्ट्रीयता से पिंड छुड़ाने को कितनी ही बार कठोर चिन्तन किया, कई निबन्ध लिखे, कई भाषण दिए और कुछ कविताएँ भी लिखीं, किन्तु

भारत पर जब चीन ने आक्रमण किया, दिनकरजी के समस्त अस्तित्व पर राष्ट्रीयता अत्यन्त उग्र बनकर छा गई और उन्होंने कई ऐसी ओजस्विनी कविताएँ लिख डालीं जिनसे कला और दर्शन-विषयक उनके अनेक ऐसे विचार खण्डित हो गए जिन्हें उन्होंने बड़ी ही तन्मयता से गढ़ा था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' पर प्रगितिवादियों ने जो आक्रमण किया वह मूल में राष्ट्रीयता के विस्फोट पर अन्तर्राष्ट्रीयता का ही प्रहार था, अन्यथा यह समझने का कोई आधार नहीं है, कि दिनकरजी सैनिक अधिनायकवाद के हामी हैं और उनके विरोधी प्रजातन्त्र के ध्वजधारी।

सन् १९४७ ई० में जब भारत स्वाधीन हुआ, उस समय दिनकर जी बड़े ही उत्साह में थे। स्वतन्त्रता का स्वागत दिनकरजी ने जितने खुले कण्ठ से किया, उतने खुले कण्ठ से स्वराज्य का अभिनन्दन और किसी कवि ने नहीं किया था। साम्यवादी तो इस स्वराज्य को स्वराज्य ही नहीं मानते थे। हमारे कुछ अन्य तेजस्वी कदाचित् साम्प्रदायिक मार-काट से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण खिन्न थे। किन्तु दिनकरजी का उत्साह एक वर्ष से अधिक नहीं टिका। सन् १९४८ ई० में जब स्वराज्य की पहली वर्षगाँठ मनाई गई तब दिनकरजी की एक व्यंग्यात्मक रचना 'वर्षगाँठ' के नाम से छपी, जिसमें शासन की सारी दुर्बलताओं का उल्लेख है जिनकी चर्चा अब जोरों से की जा रही है—

> **टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ,**
> **कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो।**
> **ईमान बचाकर कहती हैं आँखें सबकी,**
> **बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो, जो दे दो।**

दिनकरजी में भविष्यवक्ता के गुण कई बार दिखाई पड़े हैं। दिनकर-काव्य का शोध करके यदि इस विषय का पता लगाया जाए तो यह एक रोचक निबन्ध होगा। किन्तु, तब भी दिनकरजी कांग्रेस के ही पक्ष में थे। इसी कविता में उन सामाजवादियों पर भी व्यंग्य है जो जयप्रकाश के नेतृत्व में उस समय कांग्रेस से बाहर निकलकर अपना अलग दल स्थापित करना चाहते थे। किन्तु, कवि का मत था कि समाजवादियों को कांग्रेस नहीं छोड़नी चाहिए।

> **है कौन ठीक ? गांधीवादी या कम्युनिस्ट ?**
> **या सोशलिस्ट जो कांग्रेस से अलग कूद**
> **कुछ नये ढंग के शस्त्र बनाने वाले है।**

अब जयप्रकाशजी भी कहते हैं कि सन् १९४८ ई० में उनका कांग्रेस छोड़ना ठीक नहीं था। किन्तु, सन् १९४८ में उन्होंने उस कवि के व्यंग्य को नहीं समझा जिसने साहित्य में उनके नाम को उतना महत्त्वपूर्ण बना दिया।

दिनकरजी जब संसत्सदस्य बनकर दिल्ली गये तब भी दिल्ली के रंग-ढंग से वे काफी अप्रसन्न रहे। 'दिल्ली' 'नामक संग्रह में संग्रहीत उनकी 'हक की पुकार' और 'रेशमी नगर' ये दो कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं। सरकारी तन्त्र की शिथिलता, उसके आलस्य और नेताओं की अर्थहीन घोषणाओं से व्यथित होकर उन्होंने और भी

बहुत-सी कविताएँ लिखीं जो उनके विभिन्न संग्रहों में संकलित हैं। कांग्रेस-दल के सदस्य वे पूरी जागरूकता में हुए थे। देश के अन्य राजनीतिक दलों की अपेक्षा कांग्रेस को वे अधिक श्रद्धा और स्नेह से देखते हैं। किन्तु, उन्हें यह भी आशंका है कि यदि कांग्रेस शीघ्रता के साथ देश से विषमता को दूर नहीं कर सकी तो देश के भीतर विप्लव का विस्फोट होकर रहेगा। इस आशंका की अभिव्यक्ति उन्होंने अनेक कविताओं में की है।

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नींव की यह वेदना विकराल बनकर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बनकर
पत्थरों के पेट से नरसिंह ले अवतार।
कांपती है वज्र की दीवार।

(नींव का हाहाकार)

स्वत्व छीनकर क्रान्ति, छोड़ती कठिनाई से प्राण,
बड़ी कृपा उसकी भारत में माँग रही वह दान।

(भूदान)

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

(भूदान)

ऐसा टूटेगा मोह, एक दिन के भीतर
इस राग-रंग की पूरी बर्बादी होगी,
जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा,
तब तक दिल्ली के भी तन पर खादी होगी।

(भारत का यह रेशमी नगर)

हठी, तुम्हारे पापों से
फिर एक प्रलय छानेवाला है,
गांधी ने भूकम्प किया,
तूफान वही लाने वाला है।

(कांटों का गीत)

जब भी कोई लेखक, कवि या कलाकार राजनीति की ओर कदम उठाता है, हिन्दी के प्रेमी चौकन्ने हो उठते हैं क्योंकि उन्हें भ्रम है कि राजनीति में जाने से साहित्यकार की प्रतिभा क्षीण हो जाती है। दिनकरजी ने इस भ्रम का सम्पूर्ण निराकरण कर दिया है। साहित्यिक प्रतिभा का शत्रु राजनीति में जाना नहीं, राजनीति में पड़ना होता है और राजनीति में पड़ने की बीमारी केवल उन्हें ही नहीं लगती जो संसद में जाते हैं, प्रत्युत उसके लिए विश्वविद्यालय भी यथेष्ठ है, सम्मेलनी अखाड़े भी काफी हैं, यहाँ तक कि परिवार और मित्रमण्डली में भी यह रोग लग सकता है। दिनकरजी राजनीति में गए तो, किन्तु उसमें पड़ने से उन्होंने अपने-आपको बचा लिया। इसीलिए, उनके संसदीय जीवन का काल साहित्य-सृजन का भी अद्भुत काल रहा है। सन् १९५२ ई०

से लेकर सन् १९६३ ई० के बीच उन्होंने जितने ग्रंथों की रचना की उतने ग्रंथों की रचना इतनी छोटी अवधि में पहले कभी नहीं की थी। 'रश्मिरथी' और 'अर्द्धनारीश्वर', ये दो ग्रन्थ भी स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त ही रचे गए थे, किन्तु, इनका रचना काल वह है जब दिनकरजी मुजफ्फरपुर के लंगटसिंह कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे। संसत्सदस्य होने के बाद उन्होंने काव्य के क्षेत्र में 'नीम के पत्ते', 'धूप और धुँआ', 'नील कुसुम', 'सीपी और शंख', नये सुभाषित', 'उर्वशी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'कोयला और कवित्व' तथा 'आत्मा की आँखें', इन नौ पुस्तकों की रचना की। यदि गद्य को लें तो दिल्ली रहते हुए दिनकरजी ने गद्य-ग्रन्थों का छोटा-मोटा अम्बार-सा लगा दिया। 'वेणुवन', 'रेती के फूल', 'उजली आग', 'चक्रवाल की भूमिका', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण', 'वटपीपल', 'देश-विदेश', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता', 'भारत की सांस्कृतिक एकता' तथा सबसे बढ़कर आठ सौ पृष्ठों का 'संस्कृति के चार अध्याय' ये सारे ग्रंथ उन्हीं दिनों रचे गए जब दिनकरजी संसद के सदस्य थे। इन्हीं के साथ हमें कुछ बाल-साहित्य की भी गणना करनी चाहिए जिनमें 'मिर्च का मजा', और 'सूरज का व्याह' ये दो छोटी पुस्तकें बच्चों के लिए अत्यन्त रोचक सिद्ध हुई हैं। स्वराज्य के बाद दिनकरजी की दो पुस्तकें और प्रकाशित हुईं। एक तो 'बापू' जिनके भाग की एक रचना स्वराज्य के पूर्व की है और दूसरी उसके परे की, तथा दूसरी 'इतिहास के आँसू' जिसकी प्रथम रचना 'मगध-महिमा' दिनकरजी की भारत-विषयक भावना के समझने में यथेष्ठ सहायता देती है।

(२)

दिनकरजो के भाव और कल्पना गिनती की दो-चार दिशाओं में सीमित नहीं हैं। उनका परिचय अनेक दिशाओं से है, उनकी सहानुभूति भी अनेक दिशाओं में दौड़ती है। यही कारण है कि दिनकरजी आलोचकों के आगे समस्यापुंज के रूप में विद्यमान हैं। जितनी पुस्तकें दिनकरजो पर लिखी गई हैं, जीवन-काल में उतनी पुस्तकें कम ही कवियों पर लिखी जाती हैं। किन्तु दिनकरजी आज भी सम्पूर्ण रूप से विश्लिष्ट नहीं हैं। उनके कई पहलू ऐसे हैं जिन पर अभी लेखनी उठाई ही नहीं गयी।

स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व तक दिनकरजी ने जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर बल नहीं दिया था। किन्तु स्वाधीनता के बाद वे जीवन को अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देखने का अभ्यास करने लगे। उनके किसी निबन्ध-संग्रह में जननी-जन्मभूमिश्च नामक लेख जिसमें वे यह सोचने का प्रयास करते हैं कि अपने देश को अन्य देशों से श्रेष्ठ समझने का नैतिक आधार क्या है। 'नील कुसुम' में भी दो कविताएँ ऐसी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दिनकरजी राष्ट्रीयता का बन्धन तोड़ कर महामावनता का आलिंगन करना चाहते हैं। एक कविता का तो शीर्षक ही 'राष्ट्रदेवता का विसर्जन' है। किन्तु जिस कवि ने आजीवन राष्ट्रीयता की आराधना की हो, उसे राष्ट्रीयता से छूटने का मार्ग कठिनाई से मिलेगा। फिर भी दिनकरजी ने तर्कों के जो सोपान गढ़े हैं वे बिलकुल असंगत नहीं लगते। उनका चिन्तन कुछ इस प्रकार का है कि पराधीन जातियों के लिए राष्ट्रीयता ही मोक्ष का साधन है क्योंकि जब तक राष्ट्रीयता का आश्रय ये जातियाँ नहीं लेतीं तब तक वे स्वाधीन नहीं हो सकेंगी। किन्तु सभी देश स्वाधीन हो जाएँ और तब भी अपनी

जातीय सीमाओं में बंधे रहें तो इससे विश्व की एकता असम्भव हो जाएगी। अतएव, दिनकरजी कहते हैं कि राह चलते पाँव में यदि काँटा चुभ जाए तो उसे निकालने के लिए दूसरे कांटे की आवश्यकता होती है। किन्तु कांटा निकल जाने पर दोनों ही काँटों को फेंक देना चाहिए। इस तर्क से जैसे दासता एक प्रकार का शूल है, वैसे ही राष्ट्रीयता भी शूल है। भारत ने एक शूल का उपयोग करके दूसरे शूल को निकाल दिया है। अब उचित है कि वह इस उद्धारक शूल को भी फेंक दे। इसीलिए दिनकरजी यह नहीं कहते कि राष्ट्रीयता दूषित तत्व है, अतएव उसका त्याग करना चाहिए, प्रत्युत यह कि राष्ट्रीयता का उपयोग समाप्त हो गया। अब कल्याण इसी में है कि राष्ट्रीयता को विदा दे दें।

खण्ड-प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता ! सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रवाह जग का धोने दो।
महानाग फण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।

(राष्ट्रदेवता का विसर्जन)

अर्थात् राष्ट्रीय भावों का विस्फोट विषधर नाग है तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाव विष्णु का प्रतीक है। विष्णु की शैया शेषनाग का शरीर है। इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता के आधार पर खड़ी रहेगी।

'नील कुसुम' में संकलित 'हिमालय का सन्देश' नाम्नी कविता में राष्ट्रीयता त्याज्य बताई गई है क्योंकि युद्ध अपने को राष्ट्रवाद का सखा समझता है।

जब तक ये झण्डे फहर रहे, अभिमान नहीं यह सोता है,
देखें, तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है ?
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन ?

(हिमालय का संदेश)

निष्कर्ष यह कि जब तक राष्ट्रीयता के प्राचीर नहीं टूटते, तब तक युद्ध का भी शमन नहीं होगा। राष्ट्रीय भावों के उभार से युद्ध की सम्भावना जोर पकड़ती है। मनुष्य ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ेगा, युद्ध की सम्भावना न्यून और शान्ति की प्रगति अधिक होती जाएगी।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान दातव्य है कि स्वाधीनता के आगमन के उपरान्त दिनकरजी ने भारत की कल्पना जिस रूप में की है वह ऐसा देश नहीं है जो सामरिक शक्ति बढ़ा कर संसार में अपना आतंक जमाने की चेष्टा करे। वह भारत त्यागी है, तपस्वी है, शान्ति का प्रेमी और निष्कलंक है।

निज से विरत, सकल मानवता के हित में अनुरत-से,
भारत ! राजभवन में आओ सचमुच आज भरत-से।
हवन-पूत कर में सुदण्ड नव 'जटाजूट पर ताज,
जगत् देखने को आयेगा सन्यासी का राज।

(भारत का आगमन, मृत्ति-तिलक)

एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान
लेकर उठने वाला है धरती पर हिन्दुस्तान ।
(राजर्षि-अभिनन्दन, मृत्ति-तिलक)

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत ! स्वर तेरा है ।
धर्मदीप हो जिसके भी कर में, वह नर तेरा है ।
तेरा है वह वीर सत्य पर जो अड़ने आता है ।
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पण करने जाता है ।
(किसको नमन-करूँ मैं ?)

'नीलकुसुम' में संकलित 'किसको नमन करूँ मैं ?' शीर्षक कविता में आगामी भारत का जो रूप उभरा है वह चन्द्रगुप्त नहीं, अशोक का भारत है, खड्गधर वशिष्ट का नहीं,ऋचाओं के स्रष्टा ब्रह्मर्षि वशिष्ट का भारत है । गांधी और रवीन्द्र ने जिस भारत की कल्पना की थी उसका रूप इस कविता में जितना सुस्पष्ट हुआ है उतना सुस्पष्ट वह और किसी भी काव्य में नहीं हुआ था ।

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमण्डलभर का है ।
जहाँ कहीं एकता अखण्डित जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित,भास्वर है ।

भारत विषयक यह धारणा दिनकरजी की एक और कविता में पल्लवित हुई है ।

भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जानेवाला,
भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लानेवाला ।
भारत एक भाव जिसको पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज जिस पर जल का न दाग लगता है ।
भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की ।
जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वही भारत को करो प्रणाम ।
(हिमालय का संदेश)

एक स्थान पर भारत के इस रूप का स्मरण कवि ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी किया है ।

गांधी, बुद्ध, अशोक नाम हैं बहुत बड़ी महिमा के ।
भारत स्वयं मनुष्यजाति की बहुत बड़ी कविता है ।
(इतिहास का न्याय)

किन्तु, जिस कवि ने शान्तिकामी भारत का ऐसा पवित्र चित्र अंकित किया, उसने 'परशुराम की प्रतीक्षा' कैसे लिखी, यही वह प्रश्न है जिसके कारण दिनकरजी को मैं समस्यापुंज कहता हूँ । और तब भी इससे कौन इन्कार कर सकता है कि सारे देश में दिनकर ही वह प्राणवान कवि है जो ऐसी ज्वलन्त कविता लिख सकता था ? इस

कविता के पक्ष या विपक्ष में बोलनेवाले लोग तनिक सावधानी से जीभ खोलें तो सत्य के प्रति अन्याय कुछ कम होगा, क्योंकि वे एक ऐसी कविता की आलोचना कर रहे हैं जो किसी के जिलाये नहीं, प्रत्युत अपनी आयु के कारण जियेगी और जिसकी निन्दा इस देश की जनता सुनने को तैयार नहीं है। कवि बादल होता है जो बरसने के समय यह नहीं सोचता कि इस खेत में बरसना चाहिए और उस खेत मेंनहीं बरसना चाहिए। गांधीवादी विद्वान यदि खड्ग का सामना खड्ग से करने को बिलकुल ही प्रस्तुत नहीं हों तो इस कविता की निन्दा वे कर सकते हैं। जनसंघी पंडित यदि हजरत अली की जय पुकारने में भारतीय संस्कृति का अपमान नहीं समझते तो इस कविता को वे अवश्य अपना लें क्योंकि तब वे साम्प्रदायिक नहीं समझे जाएँगे। और साम्यवादियों का विचार यदि यह हो कि तलवार केवल उन शत्रुओं के विरुद्ध उठेगी जो साम्यवादी नहीं हैं तो फिर यह उचित ही है कि वे इस कविता का बहिष्कार करें। किन्तु, ये सभी लोग देश के एक शीर्षस्थ कवि और बलिदान की जीती जागती मूर्ति, देशभक्त पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की इस उक्ति को याद रखें कि हिन्दी संसार का अगर मुझमें विश्वास है तो वे दिनकर की इस कृति को पढ़ें।

तार्किक पण्डित का प्रयत्न यह होता है कि वह कोई ऐसी उक्ति मुँह से न निकाले जिससे उसकी किसी अन्य उक्ति का खण्डन होता हो। कलाकार को लोभ इस बात का होता है कि वह आनन्ददायी अधिक, उपदेशकार बहुत कम हो। विशेषतः कलाकारों में सौन्दर्य के प्रति पक्षपात होता है। वे गुलाब और कमल के वर्णन में रस लेते हैं तथा जो कवि भूख और अभाव से पीड़ित लोगों की बातें करता है, उसे लगभग अकवि बनाना चाहते हैं। किन्तु, वास्तविकता सौन्दर्यबोध के इन काल्पनिक नियमों का सदैव आदर नहीं करती। जब क्षुधा, दुर्भिक्ष, अभाव और हाहाकार की सेना हुंकार भर कर खड़ी हो जाती है, तब कलाकार भी उस आतंक की उपेक्षा नहीं कर सकता। चीनी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति भी वास्तविकता के गर्जन से पूर्ण थी। उस समय भारत, आबालवनितावृद्ध, जिस क्रोध से फुंकार उठा था, उस क्रोध को इतिहास के भीतर कहीं स्थान चाहिए था। सौभाग्य की बात है कि यह स्थान उसे भारत के सबसे समर्थ कवि के हाथों प्राप्त हुआ। काल ने देश के कवियों को एक चुनौती भेजी थी। उसका उत्तर सबसे आगे बढ़कर दिनकर ने दिया। इस कविता से विचारक दिनकरजी को भले कुछ आघात पहुँचा हो, किन्तु, कवि दिनकर और समग्र राष्ट्र के लिए यह कविता गौरव की कृति है।

(३)

'परशुराम की प्रतीक्षा' से दिनकरजी के किस रूप को आघात पहुँचा है, यह विषय भी विचारणीय है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हिंसा को मुक्त उत्तेजना दी है क्योंकि यह काव्य एक ऐसी घड़ी में रचा गया जब धर्म नहीं, आपद्धर्म ही ग्राह्य धर्म था। किन्तु, जहाँ तक हिंसा के आंशिक समर्थन का प्रश्न है, वह दिनकरकाव्य में आरम्भ से ही विद्यमान था। 'रेणुका', 'हुँकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। 'रश्मिरथि' में कवि की मुद्रा अहिंसा पर आने की मुद्रा है। वह एक स्थान पर इस

विचिकित्सा में भी पड़ा है कि महाभारत करके राज्य भोगने की अपेक्षा यह कहीं श्रेष्ठ होता यदि पाण्डव कौरवों को राज्य देकर स्वयं पुनः बनवास में चले जाते। किन्तु, अपने इस विचार को वह स्वयं यह कहकर काट देता है कि नहीं, यदि यह मार्ग पकड़ा गया तो संसार से अन्याय का उच्छेद नहीं होगा।

युद्ध को दिनकर एक अनिवार्य पाप मानते हैं, जिसे पुण्यवान को भी अनिच्छा-पूर्वक ओढ़ना पड़ता है। रश्मिरथि में उन्होंने कहा था,

है वृथा धर्म का किसी समय
करना विग्रह के साथ ग्रथन,
करुणा से कढ़ता धर्म विमल,
हैं मलिन पुत्र हिंसा का रण

और इसी बात को उन्होंने परशुराम की प्रतीक्षा में भी दुहराया है।

समर पाप साकार, समर क्रीड़ा है पागलपन की,
सभी द्विधाएँ व्यर्थ समर में साध्य और साधन की।

(आपद्धर्म)

मेरा विचार है, हिंसा-अहिंसा विषयक चिन्तन के क्रम में 'परशुराम की प्रतीक्षा ने दिनकरजी के व्यक्तित्व पर कोई आघात नहीं किया है। दिनकर जी के व्यक्तित्व को आघात यहाँ नहीं, कहीं अन्यत्र लगा है। बात यह है कि इधर कई वर्षों से दिनकरजी के भीतर हम निरुद्देश्यता के प्रति इषत् आकर्षण देखते रहे थे। इस आकर्षण की झलक हमें 'चक्रवाल की भूमिका' में ही मिली थी। इस भूमिका में दिनकर जी ने जहाँ यह कहा है कि राष्ट्रीयता उनके स्वभाव में नहीं अर्जित संस्कार से जनमी थी, वहीं उन्होंने नई कविता की प्रशंसा भी की है और असंदिग्ध रूप से यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि सोद्देश्य काव्य की अपेक्षा वह काव्य अधिक श्रेष्ठ है जिसके आगे समाज-सुधार या जन-कल्याण का कोई ध्येय नहीं हो। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्हें इस मान्यता से अलग कर दिया और विस्मय की बात यह है कि जनमत दिनकर जी के निबन्ध नहीं, उनकी कविता के साथ गया।

निरुद्देश्य काव्य की कुछ थोड़ी गन्ध 'नील कुसुम' में भी है और 'नील कुसुम' से अधिक 'कोयला और कवित्व' में। जहाँ तक उर्वशी का प्रश्न है, यह काव्य अन्त तक जाते-जाते सोद्देश्यता के वृत में पड़ जाता है। अन्यथा उसका कलेवर अधिकाँश में निरुद्देश्यता के सौरभ से सुरभित है।

दिनकर जी उन थोड़े से कवियों में से हैं जिनका काव्य शताब्दियों तक जीवित रहेगा, किन्तु, काल के प्रांगण में अधिक दूर तक उन्हें 'उर्वशी' ले जाएगी या 'कुरुक्षेत्र' ले जाएगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। तब भी 'उर्वशी' अत्यन्त विलक्षण कार्य है। एक घिसे-पिटे प्राचीन विषय पर इतना अछूता और नवीन काव्य ,ऐसी प्रखरता से लिखा जा सकता है, यह आश्चर्य का विषय है। किन्तु जिस कृति पर आश्चर्य नहीं होता, वह चिरायु भी नहीं होती है। 'उर्वशी' को लेकर हिन्दी में पिछले तीन वर्षों से बड़ा भारी कोलाहल रहा है। इस काव्य के पक्ष और विपक्ष में बातें जिस उत्कटता से कही गई हैं उस

उत्कटता से आलोचक अपना मत बहुत कम दिया करते हैं। किन्तु, कहने योग्य जो सूक्ष्म बातें हैं वे अभी नहीं कही गई हैं। उदाहरणार्थ, जैसे तुलसीदास की रामायण पढ़ते समय हमें बहुधा संस्कृत के काव्यों, शास्त्रों और पुराणों की स्मृति हो आती है, उसी प्रकार समधीत पाठक जब उर्वशी पढने लगता है तब उसके भीतर अधुनातन मनोविज्ञान के सिद्धान्त करवट बदलने लगते हैं। उचित है कि नवयुवक विद्वान इस युग के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य और मनोविज्ञान की अथाह गहराई में प्रवेश करें और उन सभी पुष्टियों और पेयों का पता लगाएँ जिन्हें आत्मसात् करके यह काव्य इतना विलक्षण और बलवान् हो पड़ा है—

> **अतल, अनादि, अनन्त, पूर्ण, बृंहित, अपार अम्बर में**
> **सीमा खींचे कहाँ ? निमिष, पल, दिवस, मास संवत्सर**
> **महाकाश में टंगे काल के लक्तक-से लगते हैं।**
> **किस समाधि का शिखर, चेतना जिस पर ठहर गई है ?**
> **उड़ता हुआ विशिख अम्बर में स्थिर-समान लगता है।**
> (उर्वशी, तृतीय अंक)

यह उर्वशी की उक्ति है। किन्तु, पुरुरवा के उद्गारों में भी कई ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो आइंस्टीन के देश, काल, सातस्य (टाइम-स्पेस-कंटीनुअम) के सिद्धान्त की व्याख्या के बिना पूर्णरूप से समझी नहीं जा सकतीं।

> **कहाँ देश, हम नहीं व्योम में जिसके गूँज रहे हैं ?**
> **कौन कल्प, हम नहीं तैरते हैं जिसके सागर में ?**
> **महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है।**
> **बहती है चेतना काल के आदि-मूल को छू कर।**

अथवा काल को सम्बोधित करते हुए पुरूरवा जब यह कहता है कि

> **कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का,**
> **काल-पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है।**
> **रुको, पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की,**
> **एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,**
> **एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूंघ लेने दो।**

तब इन पंक्तियों का रहस्य उद्घाटित करने के लिए काल की दार्शनिक और वैज्ञानिक व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

इसी प्रकार सुख की तरंग पर चढ़ी हुई उर्वशी जब यह पूछती है कि—

> **रोम-रोम में वृक्ष, तरंगित-फेनिल हरियाली पर**
> **चढ़ी हुई आकाश-ओर मैं कहाँ उड़ी जाती हूँ ?**

अथवा अतिशय-सुखाक्रान्त होकर जब वह यह कहती है कि

> **जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में**
> **निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।**

तब इन अनुभूतियों के समझने के लिए आवश्यकता अध्यात्म-शास्त्र की नहीं,

प्रत्युत अधुनातन गम्भीर मनोविज्ञान की प्रतीत होती है। उर्वशी का तृतीय सर्ग आलोचकों से गम्भीर ज्ञान एवं भावाकुल हृदय की माँग करता है। यह एक चुनौती है जिसके साथ भारतीय मनीषा को संघर्ष करना चाहिए।

'उर्वशी' की महिमा एक-दो सन्दर्भों में बखानने की वस्तु नहीं है, न इसका आख्यान मैं किसी ऐसे स्थान से कर सकता हूँ जहाँ से मेरा पुस्तकालय काफी दूर है। यह एक ऐसा काव्य है जिसकी पंक्ति-पंक्ति ठोस है और प्रत्येक शब्द अपने सही स्थान पर ठुका हुआ है। इस काव्य के जो श्रेष्ठतम स्थल हैं वे शीघ्रता से पढ़े नहीं जा सकते। 'उर्वशी' साधारण पाठकों के लिए है या नहीं, इसे भी मैं संदिग्ध मानता हूँ यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी का प्रत्येक पाठक एक बार इस काव्य को पढ़ना चाहता है। 'उर्वशी' वैसे तो पारंपरीण काव्य है, किन्तु जहाँ-जहाँ उसके भीतर से नवीनता उभरती है, वहाँ-वहाँ यह काव्य पाठकों से भी सर्जनात्मक सहयोग की अपेक्षा रखता है।

(४)

दिनकरजी की स्वराज्योत्तर कृतियों में गद्य की महिमा जितनी प्रखरता से निखरी है उतनी प्रखरता से वह 'मिट्टी की ओर' में भी नहीं निखरी थी। स्वराज्य के बाद दिनकरजी के अनेक गद्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिसमें से कम-से-कम तीन ग्रंथों का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ।

'उजली आग' को किस कोटि में रखना ठीक है, इसका निर्णय हिन्दी के आलोचक अब तक नहीं कर पाये हैं। वास्तव में इस छोटी-सी पुस्तक में प्रधानता बोधकथाओं की है। इन कथाओं के कथानक कभी तो यूरोप में प्रचलित पुराणों से लिए गए हैं और कभी चीन के दर्शनाचार्यों से। किन्तु, कितने ही कथानक बिलकुल मौलिक हैं। इसके अतिरक्त इस ग्रंथ में कुछ विचारोत्तेजक काव्य-गंधी निबन्ध भी हैं। सबसे विलक्षण निबन्ध 'नूतन काव्यशास्त्र' है जिसकी शैली गद्यकाव्य की है, किन्तु चिन्तन काव्यशास्त्रीय है।

दिनकरजी ने इधर आलोचनाएँ भी यथेष्ठ लिखी हैं किन्तु वे उनके नाना निबंध-संग्रहों में विकीर्ण हैं। शुद्ध आलोचना के ग्रंथ दो ही हैं, एक 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' तथा दूसरा 'काव्य की भूमिका'। 'काव्य की भूमिका' मुख्यतः सैद्धान्तिक ग्रंथ है और उसमें काव्य तत्त्व विषयक जो चिन्तन हुआ है उससे हिन्दी आलोचना को शक्ति प्राप्त हुई है।

किन्तु, दिनकरजी का बहुचर्चित विशाल ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' है। इसके तृतीय संस्करण में इतना अधिक संशोधन और परिमार्जन हुआ है कि इसके समक्ष पहले के दो संस्करण फीके हो गए हैं।

दिनकर-विरचित ग्रंथों पर हिन्दी संसार की दृष्टि केन्द्रित हो कर पड़ती है। वह दृष्टि 'संस्कृति के चार अध्याय' पर भी पड़ी तथा इस ग्रंथ पर भी पक्ष और विपक्ष में सम्मतियाँ उत्कटता के साथ ही प्रकट की गई। किन्तु प्रायः सभी आलोचकों ने यह स्वीकार किया कि 'संस्कृति के चार अध्याय' अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है और उसकी रचना में लेखक ने अद्भुत अध्यवसाय का परिचय दिया है। यह ग्रंथ हिन्दी में जम गया है। जो ग्रंथ पाठ्य-

क्रम में लग जाते हैं उनका प्रचार बहुत अधिक होता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' की विशेषता यह है कि वह पाठ्यक्रम में नहीं रहने पर भी दिनोंदिन स्वयमेव प्रचार पा रहा है। दिनकरजी की कृतियों में 'उर्वशी', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'नील कुसुम' के ही समान 'संस्कृति के चार अध्याय' का भी गौरवपूर्ण स्थान है।

(५)

स्वराज्योत्तर हिन्दी-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृति अनुवाद की है। श्री बालकृष्ण राव, श्री बच्चन, श्री भारती आदि कवियों ने विदेशी कविताओं के बहुत ही सुपाठ्य अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इस दिशा में दिनकरजी की दो पुस्तकें प्रत्येक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'सीपी और शंख' में जो कविताएँ हैं वे यूरोप, अमरीका और चीन के कुछ बड़े कवियों की कविताओं के अनुवाद हैं। इधर हाल में 'आत्मा की आँखें' नाम से दिनकरजी ने डी० एच० लारेंस की सत्तर कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया है।

स्वराज्य के उपरान्त ही दिनकरजी अन्य भाषाओं में प्रवेश करने लगे। उनके 'कुरुक्षेत्र' के पद्यबद्ध अनुवाद कन्नड़ और तेलुगू भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। तथा तमिल में यह अनुवाद अभी धारावाहिक रूप से निकल रहा है। संक्षिप्त रश्मिरथि का अनुवाद उड़िया में निकला है। दिनकरजी की चालीस कविताओं का स्पैनिश अनुवाद दक्षिण अमरीका के चिले देश में कोई विश्वविद्यालय प्रकाशित कर रहा है और साठ कविताओं का एक संग्रह अभी-अभी छपा है। इसे भी हमें हिन्दी स्वराज्योत्तर उपलब्धि मानना चाहिए।

दिनकर की राष्ट्रीयता

तारकनाथ बाली

दिल्ली ! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा ?
बाट जोहती खंडहर में हम कंगालों की रानी ।

('हुंकार-दिल्ली' पृ० ५०)

राष्ट्रीयता सामाजिकता का ही व्यक्त-सीमित रूप है । इसलिए जब कवि अपने मन की गहराइयों से बाहर निकल कर चारों ओर देखता है, जो देखता है उससे प्रभावित होता है, और जिससे प्रभावित होता है उसे कहता है, उसमें परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रीयता का भाव अपने आप आ जाता है । इस राष्ट्रीयता को और इससे मिली हुई सामाजिकता को सफल काव्य के रूप में व्यक्त करने की बुनियादी शर्त यह है कि कवि की आस्था सच्ची हो, सामाजिकता या राष्ट्रीयता बाहर से आरोपित न हो, भीतर से जनमी हो । यदि ऐसा न हुआ तो राष्ट्रीयता सामयिकता की पुकार बन कर रह जाएगी और कारीगरी होने पर भी उसमें सहज स्थायित्व नहीं आ पाएगा। इस प्रकार की राष्ट्रीयता सामयिकता का चित्रण बनकर सामने आएगी और जरा सी परिस्थिति की नवीनता उसे कुन्द कर देगी ।

इतना ही नहीं ऐसे लेखक में सामयिकता की माँग की रक्षा का भाव इतना बढ़ जाएगा कि उसकी कविता परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ उतरने चढ़ने लगेगी । इससे परिस्थितियों की अनुकूलता की रक्षा से लेखन में विवधिता तो आ जाएगी मगर इस विविधता में से कितना अंश स्थाई बन सकेगा, यह कहना मुश्किल होगा ।

वैसे सामायिकता का होना, अपने आप में कोई बुरायी या हीनता की निशानी नहीं है । व्यक्ति जिस परिवेश में रहता है, उसका बोध उसे प्रभावित करता रहता है । व्यक्तित्व में परिवेश से विचारों और भावों का संप्रेष होता रहता है। लेकिन इस सप्रेषण-व्यापार के दो छोर हैं—एक परिवेश, दूसरा व्यक्ति । इसलिए परिवेश जो भेजता है, उसे ग्रहण करने की ताकत भी व्यक्ति में है या नहीं यह देखना होगा । परिवेश तो एक ट्रान्ससिटर है । केवल ट्रान्ससिटर का होना या उसमें शक्ति का होना ही काफी नहीं है , रेडियो भी ठीक हालत में होना चाहिए । ट्रान्ससिटर से बीसों प्रोग्राम चलते रहते हैं। रेडियो में ताकत होगी तो उन्हें पकड़ेगा । व्यक्तित्व में कुशाग्रता और ग्राहकता

होगी तो परिवेश से प्रेषित संवेदनों को वह पकड़ पाएगा और नहीं तो अंधेरे में हाथ-पाँव मारता रहेगा। कुछ रेडियो इस तरह बिगड़ते हैं कि उनपर सिर्फ स्वदेशी ट्रान्स-सिटर की धुनें ही आती हैं। इधर कुछ रेडियो ऐसे भी बिगड़े हैं कि उनपर स्वदेशी ट्रान्स-सिटर की आवाजें तो नहीं आतीं, हाँ विदेशों को वह खूब कैच करता है। मगर वह इस निबन्ध की सीमा से बाहर की बात है।

एक बात साफ है। कविता की सार्थकता का आधार कवि की वह शक्ति है जो उसे परिवेश से संप्रेषित, संवेदनों का साक्षात्कार कराती है, उनके इशारे समझाती है, उनको कला के साँचों में ढालती है। वैसे तो यह साँचे भी परिवेश से ही आते हैं लेकिन उन साँचों के आविष्कार के लिए भी कुशाग्रता की अपेक्षा होती है। वस्तु का होना, उसका ज्ञान और उसकी उपलब्धि तीन अलग-अलग बातें हैं। जहाँ तक पहली बात का सवाल है, उसमें तो किसी का दखल है नहीं। रही दूसरी और तीसरी बात, सो इनके लिए सजगता और साधना दोनों का होना जरूरी है। परिवेश की शक्ति स आक्रान्त व्यक्ति का कर्म इन्हीं दोनों तत्त्वों पर निर्भर करता है। इसलिए राष्ट्रीय कविता के सन्दर्भ में सिर्फ परिवेश की शक्ति पर ही विचार करना काफी नहीं होता। कलाकार की सजगता और साधना भी अनिवार्य बुनियादी तत्त्व होते हैं।

जहाँ तक दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं का सवाल है, उसके बारे में उन्होंने स्वयं साफ-साफ कहा है—

''संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो।···और सुयश तो मुझे हुंकार से ही मिला, किन्तु आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है···राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया है।

(चक्रवाल-भूमिका, पृ० ३३)

और भी—

'राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी होने का सुयश मुझे हुंकार के प्रकाशन के बाद मिला, किन्तु हुंकार की पहली ही पंक्ति में (यह कविता शायद दूरे संस्करण में सम्मलित की गई थी)

संदेशवहन और आनन्दवाद-विषयक मेरी द्विधा अत्यन्त मुखर है।

(चक्रवाल-भूमिका, पृ० ३२)

जब कवि स्वयं यह कहता है कि उसका हृदय तो प्रेम की कविताओं में ही लीन हो पाता है और राष्ट्रीयता बाहर से आरोपित भाव है, तो स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में कवि के समग्र कृतित्व के अध्ययन में बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है न सिर्फ समग्र व्यक्तित्व के अध्ययन में ही वरन् राष्ट्रीयता का अध्ययन भी बहुत सावधानी के साथ होना चाहिए। ऐसी स्थिति में उचित यह है कि राष्ट्रीय भावना का अध्ययन समग्र कृतित्व के आलोक से ही किया जाए।

दिनकर मूल रूप से छायावादी संस्कारों के कवि हैं। और उनकी प्रेम विषयक

रचनाओं को देखने से इस बात की सच्चाई में कोई शक नहीं रह जाता है। वैसे उन्होंने स्वयं भी लिखा है—

'अनुभूतियाँ और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते थे, किन्तु अभिव्यक्ति की सफाई मैं भी चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में निखरी थी।'

(चक्रवाल-भूमिका, पृ० ३५)

वैसे तो यहाँ यह भी एक सवाल उठता है कि क्या छायावादियों की अनुभूतियों को मैथिलीशरण गुप्त या रामनरेश त्रिपाठी की भाषा में कहा जा सकता है। यदि स्वयं दिनकर की ही प्रेम विषयक रचनाएँ देखीं जाएँ तो इस प्रश्न का उत्तर होगा 'नहीं।' और इसका सबसे बड़ा प्रमाण 'उर्वशी' में देखा जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में यह भी आवश्यक हो जाता है कि छायावादी कवियों की 'अनुभूति' के राष्ट्रीय तत्व का भी परीक्षण किया जाए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना भी छाया-वादी कवियों की राष्ट्रीय चेतना का ही एक विकसित रूप है?

कुल मिलाकर दिनकर के व्यक्तित्व की योजना में तीन तत्वों का प्रधान हाथ है—भारत की अतीत परम्परा, सामयिक परिस्थितियों की माँग और छायावादी कोमल अनुभूतियाँ। वैसे तो सभी कवियों के सामने किसी न किसी रूप में ये तीनों तत्व वर्तमान रहते ही हैं, देश की अतीत परम्परा सजग या सहज ढंग से व्यक्ति को प्रभावित करती ही है और कवि भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। तत्कालीन परिस्थितियों की माँग भी हर सामाजिक क्षेत्र से होती है। कुछ कवि उसे न सुनें, यह बात दूसरी है। और छायावादी अनुभूति दरअसल निजी सुख-दुख की अनुभूति है जिसका प्रसार बहुत कुछ प्रणय के भीतर ही दिखाई देता है। दिनकरजी की खासियत यह है कि उन्होंने उन सभी तत्वों को समग्र रूप से स्वकारा है, कवि के रूप में युग की माँगों को भी पूरा करने की कोशिश की है और उनकी वेदना को भी विस्मृत नहीं किया। और साथ ही कवि अपने अतीत के प्रति भी ईमानदार रहा है। देखना यह है कि इन तीनों आयामों के बीच राष्ट्रीयता का जो रूप उभरा है उसका स्वरूप क्या है?

सामान्य दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि युग की मांग—राष्ट्रीयता—और प्रणय दोनों का समन्वय असम्भव है और इसलिए ऐसा लगता है कि दिनकर के काव्य में दो समानान्तर धाराएँ प्रवाहित होती हैं जो कहीं मिलती नहीं और कभी-कभी कवि-चेतना के स्तर पर विरोध और दुविधा को भी जन्म देती हैं। यदि कवि की उक्ति उसके काव्य के बारे में कोई प्रमाण है, तो पहले दिये गए उद्धरणों के आधार पर यह बात सिद्ध की जा सकती है।

यहाँ एक बुनियादी सवाल पैदा होता है जो कला की सृजन-प्रक्रिया के स्तर पर परखा जाना चाहिए। क्या कवि उस भाव की सफल और सार्थक अभिव्यक्ति कर सकता है जिसने बाहर-आकर उसे 'आक्रान्त' किया हो और जो उसकी रुचि के विपरीत हो? सामान्य रूप से देखने पर यही उत्तर दिया जाएगा कि ऐसे भाव की अभिव्यक्ति में रचना कार को विशेष सफलता नहीं मिल सकती। कारण यह है कि जब तक कोई भाव कवि

के व्यक्तित्व का अंग न बन जाए तब तक उसकी अभिव्यक्ति निश्छल और सशक्त नहीं होगी। और यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसी स्थिति में कवि की वे ही रचनाएँ श्रेष्ठ होंगी जो उसकी निजी रुचि को व्यक्त करती हैं। बाहर से 'आक्रान्त' करने वाले भावों की रचनाएँ दूसरी श्रेणी में ही आएँगी लेकिन दिनकर के प्रसंग में स्थिति भिन्न प्रतीत होती है। आज तक दिनकर का जो विवेचन हुआ है उसमें उनकी राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व मिला है जो कि उनकी दृष्टि से बाहर से आई है, और उनकी प्रेम की रचनाओं को दूसरा स्थान ही दिया गया है। कभी-कभी यह सवाल पैदा होता है कि 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' दोनों में से कौन-सा काव्य श्रेष्ठ है। अभी तक की जो समीक्षा हुई है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'कुरुक्षेत्र' को 'उर्वशी', से अधिक सम्मान मिला है। इस मान्यता के दो ऐसे कारण भी हो सकते हैं जिनका इन काव्यों के अन्तरंग से वस्तुगत सम्बन्ध नहीं है। पहला कारण तो यह है कि आज का युग 'कुरुक्षेत्र' की भावधारा को स्वीकार करने में अधिक तत्पर है तथा दूसरा कारण यह है कि 'उर्वशी' की भावभूमि हिन्दी पाठकों के लिए नई नहीं है और उस भावभूमि के आधार पर निर्मित काव्यधारा की एक उज्ज्वल परम्परा आधुनिक युग में ही विद्यमान है।

कारण जो भी हो, यह स्पष्ट है कि दिनकर के काव्य में उस धारा को अधिक महत्त्व मिला है जो उनकी निजी रुचि के विरुद्ध सामयिकता के प्रभाव से पैदा हुई है। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि जो प्रवृति सामयिकता के प्रभाव से उत्पन्न होती है वह भी व्यक्तित्व का अंग बन सकती है। ऐसा होने पर व्यक्तित्व के माध्यम में उसका महत्त्व तथाकथित निजी रुचि के समान हो सकता है। यद्यपि दिनकर यह मानते हैं कि राष्ट्रीयता ने उन्हें बाहर से आकर 'आक्रान्त' किया है और राष्ट्रीयकविता की ख्याति के कारण उनकी इस प्रवृति के विकास में प्रेरणा मिलती है, फिर भी उनके काव्य की सच्चाई और शक्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता दिनकर के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में तथा दिनकर के व्यक्तित्व के तत्वों के आधार पर उनकी राष्ट्रीयता पर इन तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—

१—हिन्दी के राष्ट्रीय काव्य की परम्परा में दिनकर

२—दिनकर की राष्ट्रीय भावना की विशिष्टता, और

३—दिनकर के काव्य के समग्र व्यक्तित्व में राष्ट्रीयता का स्थान।

(१) प्राचीन भारतीय दृष्टि जब निजी चेतना में सीमित हुई तो उसने आत्मभाव की उपलब्धि में सारी सृष्टि को समेट लिया। वह आत्मवादी दृष्टि भौतिक धरातल पर लोकवादी-मानवतावादी भावना के रूप में व्यक्त हुई। इसलिए पुराने भारतीय कवियों में प्राय: सीमित-संकुचित राष्ट्रीयता का गान नहीं मिलता। सभी महान रचनाकारों ने समूची मानवसृष्टि के लिए कल्याणकारी अहिंसा और प्रेम की भावनाओं को ही महत्त्व दिया है। हिन्दी काव्य की परम्परा की इस विशेषता का विवेचन करते हुए मैंने बहुत पहले लिखा था :

'आप कबीर से लेकर निराला तक सारे कवियों को देख जाइए। उनमें से कोई

भी कवि ऐसा न मिलेगा जो संकुचित रूप में राष्ट्रीयता का पोषक हो और विश्व-द्रोह का बीज बोता हो। हाँ, जिन्होंने इस समस्या को उठाया ही नहीं, उनकी बात दूसरी है।'

हिन्दी के कवियों की राष्ट्रीयता उनके विश्वप्रेम और विश्वमंगल की कामना में है। उनकी इस विशेषता का एक कारण है। और वह कारण है—भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा का सतत प्रवाह। आज की बात नहीं, आज से सहस्रों वर्ष पूर्व का चिन्तन भी लोक-कल्याण को लेकर चलता था। हमारे प्राचीन चिन्तक केवल भारत को एक परिवार नहीं मानते थे, वरन् सारे विश्व को परिवार मानते थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की यह भावना हमारी संस्कृति की मूल भावना है। यह कोई आज की चीज नहीं है। हमारे लिए यह बात बहुत पुरानी हो चुकी है।

संसार के अन्य देशों के लिए मानवतावाद का आन्दोलन आज का आन्दोलन है। लेकिन एक भारतीय के लिए यह कोई आज की बात नहीं है। यह भारतीयों के खून में मिल चुकी है। सभी महान चिन्तकों में यह बात मिलेगी। एक ओर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ हैं और दूसरी ओर स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द हैं।[1]

लेकिन यह एक अजीब बात-सी लगती है। तुलसी, सूर, भारतेन्दु, हरिऔध, गुप्त, टैगोर और छायावादी काव्य पराधीन जाति की निधियाँ हैं। मगर भारतेन्दु के अलावा इन सभी कवियों में आदर्श और सार्वभौम मूल्यों की प्रतिष्ठा ही मिलती है। इस प्रतिष्ठा से भी भारतीय संस्कृति को आत्मरक्षा के लिए बल मिला है लेकिन आज यह स्पष्ट है कि यह बल पर्याप्त नहीं है। इन सब कवियों ने प्रत्यक्ष रूप से खुलकर अपने सामाजिक-राजनैतिक, जीवन की चुनौती का सामना क्यों नहीं किया ? आदर्शों की प्रतिष्ठा के बाद भी यह चुनौती ही रहती है। सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता। प्राचीन भारतीय आदर्शों ने एक ऐसा आधार प्रस्तुत कर दिया था जो व्यक्ति की चेतना को प्रत्यक्ष-प्रस्तुत से दूर ले जाकर अन्तर्राष्ट्रीय मानवता के अंचल से बाँध देता था। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय दृष्टि से यह आधार बड़ा हानिकर रहा। इसने आत्मरक्षा में सहयोग तो दिया मगर साथ ही विदेशियों के शोषण और अत्याचार के विरुद्ध कोई शक्तिशाली आवाज़ नहीं उठाई। तुलसीदास रामभक्ति में लीन रहे, प्रसाद शैव दर्शन में आसक्त रहे और टैगोर रहस्यानुभूति के गीत गाते रहे। भारतीय जन-जीवन की जो गंभीर समस्याएँ थीं उनकी चुनौती को किसी ने स्वीकार नहीं किया। यथार्थ से विमुख करने वाली भारतीय अध्यात्मवादी धारा से देश की कितनी हानि हुई है, इसका निष्पक्ष अध्ययन बहुत कठिन है। इस कठिनाई का कारण इस धारा की गहराई और व्यापकता ही नहीं, वे प्रबल पूर्वाग्रह भी हैं जिनका मूल अन्धविश्वास और झूठे अहंकार में है।

भारतेन्दु ने पुरानी परम्परा को स्वीकारने के साथ-साथ यथार्थ विषमता की ओर भी ध्यान दिया और तत्कालीन भारतीय जीवन को व्यक्त करने का प्रयास भी

---

१. रामधारीसिंह दिनकर और उनका कुरुक्षेत्र, पृ० ५८

किया। इसी प्रयास में उनकी राष्ट्रीयता मुखर हुई। मगर यह राष्ट्रीयता भी एक अजीब राष्ट्रीयता थी। एक ओर तो अंग्रेज़ों के राज और उसके सुख साज की भारी तारीफ की गई मगर साथ ही इस बात पर दुख भी प्रकट किया गया कि अपना धन विदेश चला जा रहा है। यह दुविधा भी कभी-कभी भारतीय परम्परा का एक अंग बन जाती है। इस दुविधा से बड़ी हानि हुई है। और इस यथार्थबोध को भारतेन्दु ने पुरानी भक्ति-भावना से समन्वित करने का प्रयास किया और राम की दुहाई देकर जनता के संगठन की बातें करने लगे। भगवान से यह प्रार्थना की जाने लगी कि वह भारत पर कृपा करें, जिससे जीवन में संगठन और जागृति का सूत्रपात हो। इस प्रकार अपने ढंग से आधुनिक कविता में राष्ट्रीयता का सूत्रपात भारतेन्दु में मिलता है। इस आधार पर यह सोचा जा सकता है कि आगे इस राष्ट्रीयता का यथार्थ विकास होगा। मगर भारतीय परम्परा बाधा बनी और छायावादी कवि वेदान्त, रहस्यवाद और शैव-दर्शन के सिद्धान्तों की दुनिया में खो गए। उधर 'भारत भारती' और माखनलाल चतुर्वेदी आदि के काव्यों में जो भारतीय जागरण की आवाज़ सुनाई दी उस पर भी पुरानी परम्परा का गहरा असर रहा। लेकिन राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से उनका महत्व छायावाद से अधिक है।

(२) दिनकर के काव्य ने सब से पहले सामयिक जीवन की चुनौती को स्वीकार किया और उसका एक प्रभावशाली उत्तर देने का प्रयास किया। खुलकर क्रान्ति का नाद दिनकर की कविताओं में मिलता है। दिनकर की राष्ट्रीय भावना को उनके समूचे व्यक्तित्व के संदर्भ में समझने के लिए 'हुँकार' की 'आमुख' कविता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह कविता एक ओर तो दिनकर के समूचे काव्य-विकास को दर्शाती है और दूसरी ओर हिन्दी काव्यधारा के स्वभाव का संकेत भी देती है। जब वर्तमान के क्षण कवि को बुलाने के लिए आए तो वह शाश्वत-सनातन आदर्शों में खोया हुआ था और यह ज्ञात भी नहीं था कि धरती पर—भारतभूमि पर—कैसा भयानक युद्ध चल रहा था। वर्तमान ने ही उसे जलने की, क्रान्ति के गीत गाने की और अपना बलिदान करने की प्रेरणा दी—

समय-ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये।
शैल-शृंग चढ़ समय-सिन्धु के आर-पार तुम हेर रहे,
किन्तु-ज्ञात क्या तुम्हें, भूमि का कौन दनुज पथ घेर रहे ?
दो वज्रों का घोष, विकट संघात धरा पर जारी है,
वह्नि-रेणु सुन स्वप्न सजा लो, छिटक रही चिनगारी है।
रण की घड़ी, जलन की वेला, रुधिर पंक में गान करो,
अपना साकल धरो कुण्ड में, कुछ तुम भी बलिदान करो।

(हुँकार—आमुख)

इस उद्धरण की तीसरी पंक्ति हिन्दी के अधिकांश कवियों के लिए सत्य है। वह धरती से दूर पर्वत की चोटी पर खड़े सनातन मूल्यों की खोज में लीन दिखाई देते हैं—इतने लीन कि तत्कालीन सामाजिक संघर्ष की यथार्थ-व्यापक सत्ता उन्हें प्रभावित ही नहीं कर सकती। लेकिन दिनकर ने वर्तमान की इस आवाज़ को सुना और अपना सब कुछ

बलिदान करने के लिए तैयार हो गए। लेकिन जैसे ही कुछ कहना चाहा, अपनी पराधीनता और बेबसी की वास्तविकता का ज्ञान हुआ—

शृंग छोड़ मिट्टी पर आया, किन्तु, कहो क्या गाऊँ मैं
जहाँ बोलना पाप, वहाँ क्या गीतों में समझाऊँ मैं।
विधि का शाप, सुरभि साँसों पर लिखूँ चरित मैं क्यारी का,
चौराहे पर बँधी जीभ से मोल करूँ चिनगारी का ?

—(हुंकार-आमुख)

लेकिन कवि विद्रोह करता है। वह कब तक इस पराधीनता की बेबसी को सह सकता है, इसलिए वह निर्भीक होकर क्रान्ति के मार्ग पर चल निकलता है—

वर्तमान की जय अभीत हो खुलकर मन की पीर बजे,
एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।
नई किरण की सखी, बाँसुरी के छिद्रों से लूक उठे,
साँस-साँस पर, खड्ग-धार पर नाच हृदय की हूक उठे।
नये प्रात के अरुण। तिमिर-उर में मरीचि-सन्धान करो,
युग के मूक शैल ! उठ जागो, हुँकारो, कुछ गान करो।
किसकी आहट ? कौन पधारा ? पहचानो टुक ध्यान करो
जगो भूमि ! अति निकट अनागत का स्वागत-सम्मान करो।

—(हुँकार-आमुख)

कवि नए युग को लाने के लिए क्रान्ति करता है। उसे नये युग की आहट सुनाई देती है। उसे क्रान्ति पर, अपनी शक्ति पर, देश की सफलता पर पूर्ण विश्वास है। यहाँ तक तो कवि की आरम्भिक आदर्शवादी मानसिक अवस्था, वर्तमान की आवाज, उसकी प्रतिक्रिया और क्रान्ति का संकेत है। क्रान्ति की सफलता भी व्यंजित है और नए युग के आगमन की सूचना है, उसके स्वागत की तैयारी है। तब देखना यह है कि नया युग कैसा है और उसका कवि के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है—

जय हो, युग के देव पधारो ! विकट, रुद्र, हे अभिमानी
मुक्त केशिनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी।
अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि। बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का मैं चारण, मैं वैताली !!

—(हुँकार-आमुख)

इसमें तीसरी पंक्ति सहसा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। कवि की भाववादी दृष्टि दूसरी पंक्ति में स्पष्ट है। लेकिन चन्द्रमा फिर से 'अमृत गीत' लिखने लगता है और 'कल्पना की जाली' बुनने लगता है। नए युग के आने के बाद कवि की भावना फिर से उसी छायावादी भावभूमि में खो जाना चाहती है। कविता 'शैल-शृंग' से उतर कर 'कल्पना की जाली' में खो जाती है। मैं समझता हूँ कि दिनकर का सारा काव्य इस एक गीत में सूक्ष्म रूप से अन्तर्भूत है। एक ओर तो 'कुरुक्षेत्र' के युद्धवादी क्रान्तिवादी दर्शन का अन्त 'सत्य अहिंसा' आदि पुराने आदर्श मूल्यों की आस्था में होता है, (अमृत गीत)

और दूसरी ओर 'उर्वशी' में 'कल्पना की जाली' बुनी जाती है। इस प्रकार 'हुँकार' के 'आमुख' के बिम्बों में दिनकर की समस्त काव्य-चेतना समाहित है।

दिनकर की काव्य-चेतना वर्तमान की पुकार से सजग होती है, क्रान्ति का नारा लगाती है और नए युग के आगमन की आस्था के साथ प्राचीन आध्यात्मिक आदर्श और आध्यात्मिक प्रणय में विश्राम लेने को आतुर होती है। इस कविता में यह पूरा क्रम व्यंजित है।

दिनकर को शक्ति पर अगाध आस्था है और आरम्भ से अन्त तक के विविध काव्यसंग्रहों में शक्ति के महत्व का गुणगान है—

बल के सम्मुख विनत भेड़-सा
अम्बर सीस झुकाता है,
इससे बढ़ सौंदर्य दूसरा
तुम को कौन सुहाता है?
है सौंदर्य शक्ति का अनुचर
जो है बली वही सुन्दर,
सुन्दरता निस्सार वस्तु है
हो न साथ में शक्ति अगर?

—(धूपछाँह-शक्ति या सौंदर्य, पृ० ६)

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने प्रतिशोध और शक्ति के महत्व का वर्णन किया है—

प्रतिशोध से है होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है
छोड़ प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वह्नि-ताप है
चोट खा सहिष्णु वह, रहेगा किस भाँति, तीर
जिसके निषङ्ग में, करों में दृढ़ चाप है;

'चाँद और कवि' में कवि की रागिनी उत्तर देती है—

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की, जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

अनेक कविताओं में कवि ने क्रान्ति का आह्वान किया है। इसीलिए उसमें अराजकता के तत्त्व भी दिखाई देते हैं—

उठ भूषण की भाव-रंगिणी।
लेनिन के दिल की चिनगारी।
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला।
जाग-जाग, री क्रान्ति कुमारी।

यह तो हुई शक्ति, क्रान्ति, विद्रोह और विनाश की बात। लेकिन दिनकर की राष्ट्रीयता का एक अन्य पहलू भी है जो उसे जटिल बनाता है। और वह पहलू है आध्या-

त्मिक ग्रादर्शों का सत्य ग्रौर ग्रहिंसा का, गंभीर प्रभाव। सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के इस प्रभाव के दो स्रोत हैं—एक तो ग्रतीत परम्परा ग्रौर दूसरा गांधी का प्रभाव। ग्रौर वह स्पष्ट है कि कवि ने दोनों ही प्रभाव ग्रहरण किये हैं।

पहले गांधीजी की विचारधारा के एक पहलू का संकेत ग्रनिवार्य प्रतीत होता है।

गांधी में पुरानी भारतीय परंपरा व्यक्त होती है। उनके सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के ग्रादर्श न भारत के लिए नए हैं, न विश्व के लिए। हाँ, उनका एक नया प्रयोग दिखाई देता है जिसकी मूल प्रवृति भारतेन्दु की दृष्टि के ग्रनुकूल है। भारतेन्दु ने धर्म की दुहाई देकर, भगवान की प्रार्थना के द्वारा लोक के संगठन ग्रौर जागरण को प्रेरित करना चाहा था। महात्मा गांधी ने भी धर्म-प्राण भारतीय जनता के मर्म को छूने का प्रयास किया ग्रौर राम तथा रहीम दोनों को स्वीकार कर राम राज्य का ग्रादर्श देश के सामने रखा। यह स्वप्न सत्य ग्रौर ग्रहिंसा पर ग्राधारित था। दिनकर पर भी इसका प्रभाव पड़ा लेकिन इसका रूप विलक्षरण था।

एक ग्रोर तो दिनकर के मन ने इस ग्रहिंसावादी नीति का विरोध किया ग्रौर उसके विरुद्ध शक्ति ग्रौर क्रान्ति के महत्व का वर्णन किया। लेकिन उनका काव्य सत्य ग्रौर ग्रहिंसा के प्रभाव से ग्रपने रूप को बचा नहीं सका। कुरुक्षेत्र में भी ग्रन्त में इन्हीं ग्रादर्शों की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए एक ग्रोर तो दिनकर में क्रान्ति की प्रशस्तियाँ मिलती हैं, दूसरी ग्रोर ग्रहिंसा ग्रौर सत्य का तथा गांधी का स्तवन मिलता है। उसे देखकर यह सवाल पैदा होता है—क्या दिनकर की राष्ट्रीय चेतना ग्रन्तर्विरोध से ग्रस्त है, लगता है जैसे दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का विचार पक्ष स्पष्ट संगत ग्रौर स्थिर नहीं है। इसका कारण चाहे सामयिक्ता का प्रभाव हो, चाहे गहराई की कमी, लेकिन यह ग्रन्तर्विरोध तो दिनकर में मिलता ही है।

वह कवि जो प्रतिशोध ग्रौर क्रान्ति की प्रशंसा करता है वही कहता है——

व्योम से पाताल तक सब कुछ उसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव की ग्रसीमित मानवों से प्रीत;
... ...
श्रेय होगा मनुज का समता–विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव-विश्व का निर्माण।
एक नर में ग्रन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास

(कुरुक्षेत्र, पृ० ११६, १८)

ग्रौर कुरुक्षेत्र के ग्रन्त में भीष्म स्नेह के प्रदीप को जलाए रखने का उपदेश देते हैं। यदि यह सत्य है, तो फिर यह कैसे सत्य हो सकता है—

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं;

शीतल करते हैं अनल, प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का,

जब तक प्रसन्न यह अनल, सुगुण हँसते हैं
है जहाँ खड्ग, सब पुण्य वही बसते हैं ।
वीरता जहाँ पर नहीं, पुण्य का क्षय है।
वीरता जहाँ पर नही, स्वार्थ की जय है।

वास्तविक मर्म जीवन का जान गये हैं
हम भली भाँति अघ को पहाचान गये हैं।
हम समझ गये हैं खूब धर्म के छल को,
बम की महिमा को और विनय केवल को।

(परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १०३, १०४, १०)

स्पष्ट है कि कुछ प्रसंगों में तो दया, धर्म आदि की प्रशंसा है और कहीं सारे गुण तलवार में ही दिखाये गए हैं। उस प्रकार की दुविधा क्यों है ?

उत्तर स्पष्ट है। आज जरूरत है बौद्धिक चिन्तन की। जो मूल्य है वह है, जो नहीं है, वह नहीं है। यदि अहिंसा को मानना है तो तलवार फेंकनी होगी यदि तलवार को लेना है तो अहिंसा को त्यागना होगा। तलवार और अहिंसा दोनों साथ रहते हैं सिर्फ राजनीतिक छल-छन्द मे जहाँ एक ही साँस में युद्ध की घोषणा की जाती है और शान्ति की दुहाई भी, दी जाती है। या तो गांधी महान है, या वह आज के युग के लिए अनुपयोगी और मिथ्या है। 'भविष्य में अहिंसा की स्थापना करने का प्रयास करते चलो मगर आज खून बहाते जाओ' यह जो दिनकर की राष्ट्रीयता का सन्देश है यह आश्वस्त नहीं करता और उसमें अपने आप में संगति नहीं है। भारतवर्ष बुद्ध और गांधी को बिना स्वीकार किए भी जी सकता है विकास कर सकता है। अगर कहीं राजनीतिक कारणों से उनकी दुहाई दी जाती है तो आज के सजग व्यक्ति को इस दुविधा का विरोध करना चाहिए। अस्पष्टता, अन्तर्विरोध, संदेह और अनिश्चय से कोई प्रगति नहीं हो सकती। युद्ध, शान्ति या शक्ति और अहिंसा के सापेक्षिक महत्व के बारे में चिन्तन की अस्पष्टता और संशय इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से व्यक्त है—

उदासी में भरे भगवान बोल,
न भूलें आप केवल जीत को ले।
नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है,
विभा का सार शीत पुनीत में है।
विजय, क्या जानिये, बसती कहाँ है ?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है ?
भरी वह जीत के हुँकार में है
छिपी अथवा लहू की धार में है ?
... ...

समस्या शील की, सचमुच गहन है,
समझ पाता नहीं कुछ क्लान्त मन है।
न हो निश्चिन्त कुछ अवधानता है,
जिसे तजता उसी को मानता है।
मगर जो हो, मनुज सुवरिष्ट था वह,
धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह—

—(रश्मिरथी पृष्ठ, १८३, १८४)

लगता है कृष्ण की इस वाणी में जैसे कवि का संदेह ही बोल रहा है।

दिनकर की राष्ट्रीयता वास्तव में भाववादी राष्ट्रीयता है। उसमें चिन्तन की संगति की अपेक्षा आवेग और आवेश ही प्रधान है। पराधीन वातावरण में अंग्रेजों के शोषण और अत्याचारों की प्रतिक्रिया का शक्तिशाली रूप दिनकर में दिखाई देता है जिसमें उत्साह है, उमंग है, प्रेरणा है और आस्था है। इस वातावरण के संदर्भ में ही दिनकर की राष्ट्रीयता को समझा जा सकता है। उनकी राष्ट्रीयता का दूसरा दौर चीनी हमले से शुरू होता है और उसमें भी प्रधानता आवेश की ही है। लगता है जैसे पुरानी भावनाएँ फिर से जाग उठी हैं और नए पात्रों के माध्यम से अपने आप को दुहारा रही हैं। जैसे क्रान्ति के इस दूसरे चरण पर यह सवाल भी किया जा सकता है—जो हार हुई उसका उत्तरदायित्व मूल नीतियों पर है या मूल नीतियों के अपूर्ण पालन पर? यह तीव्र विवाद का विषय हो सकता है।

दिनकर को समकालीन भावबोध ने जिस उग्र भाववादी राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित किया उसने अपने अनुकूल नए बिम्बों की योजना भी की—तलवार, रक्त, क्रान्ति, अग्नि, जलन, विष, तूफान, आदि के रूपों के प्रयोग द्वारा उग्र—कठोर—भावों की अभिव्यक्ति हुई है। हिमालय, गंगा और प्राचीन महापुरुषों के आख्यान भी इसी राष्ट्रीयता के ही अंश हैं।

प्रत्येक परिस्थिति की राष्ट्रीयता के दो पहलू हुआ करते हैं। एक तो परिस्थिति के विशेष तत्व होते है जो देश और काल में व्यक्त होते हैं। जैसे इस प्रसंग में एक ओर भारतीय जनता थी और दूसरी ओर साम्राज्यवादी शक्ति। उसका दूसरा पहलू होता है सामान्य और सार्वभौम जो बुनियादी मूल्यों के संघर्ष के रूप में व्यक्त होता है। उदाहरण के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध की समस्या के चित्रण में इन दोनों पक्षों का विवेचन है। एक तो उस युद्ध-विशेष के कारणों आदि की व्याख्या की गई है, और दूसरी कुछ बुनियादी समस्याओं पर जैसे युद्ध और शान्ति की समस्या का विज्ञान के शस्त्रास्त्रों की समस्या पर भी विचार किया गया है। कहना न होगा कि काव्य का स्थायी महत्व इसी दूसरे पक्ष पर निर्भर करता है। देखना यह है कि कवि ने बुनियादी मूल्यों के स्तर पर क्या कहा है और उन मूल्यों के संघर्ष को किस प्रकार व्यक्त किया।

(३) अब हम अन्तिम सवाल पर आते हैं। दिनकर की राष्ट्रीयता का उसकी समग्र काव्य साधना में क्या स्थान है? यह प्रश्न जटिल एवं विवादास्पद है। कारण

यह है कि राष्ट्रीयता के संदर्भ में कवि ने हिंसा, क्रान्ति आदि पर विशेष बल दिया है। क्रान्ति का मोह कवि के अतीत के मोह और प्रणय-करुणा के भावों के साथ कैसे सम्बद्ध है ?

यहाँ एक बात दोबारा कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कवि ने हिंसा आदि की प्रशस्ति के साथ-साथ अहिंसा और विश्वप्रेम का वर्णन भी किया है। इसलिए आदर्श रूप में कवि की राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता या मानवतावाद में परिणत होने का प्रयास करती है। जैसाकि पहले कहा गया है यह परिणति विचार के धरातल पर संगत नहीं प्रतीत होती। कवि की दृष्टि दुविधा से ग्रस्त है और चिन्तन में अपेक्षित गहराई के अभाव से यह अन्तर्विरोध प्रतीत होता है। दूसरी ओर सामयिकता की माँग ने भी एक क्रमिक संगत विचार क्रम के विकास में बाधा डाली है। लेकिन इस असंगति के बावजूद भी यह स्पष्ट है कि कवि की वाणी ने सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि के महत्व का गान किया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक राष्ट्रीय भावना के व्यापक रूप और आधार सामाजिक भावना का सवाल है कवि प्राचीन भारतीय आदर्शवाद को ही प्रतिष्ठत करना चाहता है। भीष्म पितामह, युधिष्ठिर, कर्ण और परशुराम सभी के चरित्र शक्ति का प्रयोग करते हुए भी आदर्शवादी ही हैं। इसलिए इस सन्दर्भ में कवि की राष्ट्रीय चेतना की परिणति भारतीय आदर्शवाद में ही होती है, जो कि अतीत परम्परा का ही एक रूप है।

दूसरी ओर प्रणय को लीजिए। जहाँ तक व्यक्तिगत सुख-दुख की अभिव्यक्ति का सवाल है उसका सबसे अधिक मुखर रूप प्रणय में ही मिलता है। इस की दो परिणतियाँ दिनकर में हुईं। निराश होने पर वह समाज के दर्द से तादात्म्य स्थापित करता है और संभोग का चरम रूप एक कल्पित अतीन्द्रिय आध्यात्मिक किस्म के प्रेम में होता है जो 'उर्वशी' में व्यक्त है। इसमें स्पष्ट है कि कवि के निर्जी जीवन का अंश भी अन्त में भारतीय आदर्शवादी परम्परा से ही संयुक्त होता है जो लौकिक जीवन के अनुभवों को आध्यात्मिक सार्वभौम और सार्वकालिक अनुभूतियों का रूप प्रदान करती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि दिनकर के कवि-जीवन के दोनों अंश-सामाजिक या राष्ट्रीय और व्यक्तिगत या प्रणयगत—अन्त में आदर्शवादी-अध्यात्मवादी स्तर तक पहुँचते हैं। आदर्शवाद-अध्यात्मवाद के माध्यम में दिनकर की विविध और विरोधी अनुभूतियों का सम्मिलन होता है।

जब इस समग्र रूप में दिनकर को देखने का प्रयास करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर उस पुनरुत्थानवादी धारा के ही कवि हैं जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होकर द्विवेदी युग से होती हुई छायावादी काव्य में व्यक्त हुई। छायावादी काव्य मूल रूप में तथा व्यक्त व्यापक रूप में भी पुनरुत्थानवादी काव्य है जिसका मूल स्वर वेदान्त का है। अंग्रेज़ी के रोमाँटिसिज्म के आधार पर छायावाद को स्वच्छन्दतावादी मानने की प्रवृति में वह अज्ञान है जो भारतीय परंपरा से अनभिज्ञ है और वह दंभ है जो अंग्रेज़ी की जानकारी से उपजा है। जिस प्रकार प्रसाद ने चन्द्रगुप्त मौर्य आदि के माध्यम से प्राचीन पात्रों में कर्म और शक्ति का सौन्दर्य दिखाया है उसी प्रकार दिनकर ने भीष्म आदि

प्राचीन पात्रों के माध्यम से कर्म और क्रान्ति का प्रेरक वर्णन किया है। प्रसाद में जो कर्म का वेग है वही दिनकर में आकर क्रान्ति का नाद बन गया है। लेकिन इस विकास को समझने के लिए दिनकर को उन परिस्थितियों के बीच रखकर देखना होगा जो स्वाधीनता आन्दोलन ने पैदा की थीं। शक्ति और क्रान्ति का जो वेग खुलकर दिनकर में व्यक्त हुआ है वह अन्य कवियों में कम दिखाई देता है। उसी में ही दिनकर की विशेषता है। लेकिन भारतीय आदर्शवादी परम्परा दिनकर के काव्य में पूरी शक्ति के साथ व्यक्त हुई है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

दिनकर की काव्य साधना वस्तुतः एक मुक्तककार की साधना है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' जैसे काव्यों को चाहे जो भी नाम दिया जाए उनकी मूल चेतना मुक्तक की है और इसलिए उन में जो चित्रण हुआ है वह अधिकांश रूप में बुनियादी भावात्मक या विचारात्मक सतह पर हुआ है। यदि दिनकर ने किसी आधुनिक पात्र के आधार पर महाकाव्य की रचना की होती, जो परिस्थितियों और घटनाओं की स्थूलता, विविधता और व्यापकता को व्यक्त करता, तो न सिर्फ वे महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित होते वरन् उनके समग्र जीवन दर्शन को पूर्ण अभिव्यक्ति का एक माध्यम भी मिल जाता। वैसे ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के माध्यम से व्यक्त होने वाला सामयिक चिन्तन भी महत्वपूर्ण हो जाता है। मगर ऐतिहासिक माध्यम होने के कारण सामयिक भाव-बोध की निर्बाध और पूर्ण अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती है। इसलिए दिनकर का चिन्तन सामयिक और विस्तृत कथा की अपेक्षा रखता है। दिनकर की अब तक की काव्य साधना को देखते हुए ऐसी आशा करना निराधार नहीं है।

राष्ट्रीयता केवल आक्रमक और विनाशक ही नहीं होती। यह जरूरी नहीं होता है कि विदेशी गुलामी या आक्रमण के समय ही क्रान्तिमयी राष्ट्रीयता व्यक्त हो। दिनकर में ऐसा ही मिलता है। उनकी राष्ट्रीयता आपद्धर्म रूप में आई है। इसीलिए जब आपति या खतरा टल जाता है तो कवि का मन-प्रेम और आनन्द की ओर अग्रसर होता है। लेकिन इसके विपरीत शान्तिकाल की भी एक राष्ट्रीयता होती है, जिसका सम्बन्ध नवनिर्माण से होता है, नए विकास से होता है। इस शान्तिकाल की राष्ट्रीयता का काव्य में निर्वाह करना कठिन होता है। क्योंकि यदि ऐसे काल में यथार्थ के धरातल पर नवनिर्माण की रचनाएँ की जाएँ तो वे प्रचार के स्तर पर कार्यशील होने लगती हैं। ऐसी परिस्थिति में जीवन का अनेक रूप स्थूल यथार्थ चित्रण अपेक्षित होता है जो अपने आप बोलता है, अपनी कहानी सुनाता है और भविष्य की प्रेरणा देता है। दिनकर में ऐसी राष्ट्रीयता का अभाव मिलता है।

दिनकर की राष्ट्रीयता युद्धकाल की राष्ट्रीयता है और इसी सन्दर्भ में उसका बुनियादी मूल्यांकन होना चाहिए। शान्ति और निर्माण के काल में जिस राष्ट्रीयता की अपेक्षा होती है वह प्रणय और उसकी आध्यात्मिक परिणति से पूरी नहीं हो सकती। युद्ध काल की राष्ट्रीयता में शक्ति और क्रान्ति का महत्व सहज ही मान्य हो सकता है। लेकिन दिनकर की विशेषता इस बात में है कि शक्ति और क्रान्ति के आख्यान में

अहिंसा और शान्ति के मूल्य विस्मृत नहीं हुए। अनेक स्थलों पर कवि सामयिक घटनाओं के बीहड़ को चीर कर बुनियादी समस्याओं पर पहुँचता है, बुनियादी मूल्यों के संघर्ष का अविष्कार करता है। ये ही वे स्थल हैं जहाँ दिनकर का भावात्मक चिन्तन सूत्र रूप में व्यक्त हुआ है जिसमें शोषण और वैषम्य से रहित सन्तुलित और समत्वपूर्ण समाज के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया गया है। दिनकर की समग्र राष्ट्रीयता सामयिक परिस्थितियों की माँगों की पूर्ति करती हुई भी अतीत भारतीय परंपरा की शान्तिवादी धारा से कटी हुई नहीं है। यही इसकी मूल विशेषता है।

दिनकर का युद्ध-दर्शन

सावित्री सिन्हा

दिनकर हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होंने 'युद्ध' को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया, उसके मूल कारणों तथा पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण करके उससे उत्पन्न समस्याओं के समाधानों की ओर इंगित किया। 'रेणुका', 'हुँकार' और सामधेनी में जहाँ उनके हृदय के अँगार समय के झोंको से प्रज्ज्वलित होकर भयानक लपटों के रूप में व्यक्त हुए, 'कलिंग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' में उनका मस्तिष्क मानव-जीवन के युग-युग से चले आते उस अभिशाप के शमन का मार्ग खोजने को अग्रसर हुआ, जिससे छुटकारा प्राप्त करने का आकाँक्षी होते हुए भी मनुष्य उसी में भुनकर रह जाता है। युद्ध मानव-सम्यता का एक अभिन्न अँग बन गया है।

द्वितीय महायुद्ध में भीषण संहार, हाहाकार और त्रास ने दिनकर को इस विषय पर सोचने को बाध्य किया। अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं से लड़ने में ही मनुष्य सबसे निरीह होता है। पारिवारिक परिस्थितियों की विषमताओं के दबाव से उन्हें युद्ध प्रचार विभाग में कार्य करना पड़ा। नियति का व्यंग्य देखिए कि जिस युवा कवि की कृतियाँ देश के लिए जेल जाने वाले नवयुवकों की जेबों में रहती थीं, जिसके सशक्त और ओज-पूर्ण स्वर जनता में क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर रहे थे, वही कवि परिस्थितियों के हाथ का खिलौना बनकर युद्ध-प्रचार में योग देने को अपना गला साफ कर रहा था। 'कुरुक्षेत्र की रचना ही इस बात का प्रमाण है कि दिनकर का मन उन दिनों कितना द्वन्द्वग्रस्त रहा होगा। जो भी हो, उन्हीं बाह्य परिस्थितियों और मानसिक संघर्षों के फलस्वरूप हिन्दी में विचारात्मक काव्य की नींव पड़ी और हिन्दी का प्रथम युद्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' लिखा गया।

'कुरुक्षेत्र' के पहले कलिंग-विजय नामक कविता में दिनकर युद्ध की समस्या पर विचार कर चुके थे, लेकिन उसमें युद्ध के प्रति चली आती हुई भारतीय अहिंसावादी परम्परागत दृष्टि की पुनर्स्थापना मात्र थी। अशोक की करुणा, गांधी की अहिंसा के प्रभाव से दिनकरजी की वाणी में मुखरित हुई थी, जिसमें असहाय, अकर्मण्यता, करुणा, निर्वेद और क्रियात्मक विवशता ही प्रधान थी। कलिंग-विजय को युद्ध की बौद्ध और गांधीवादी व्याख्या ही माना जा सकता है।

'कुरुक्षेत्र' में दिनकर जी युद्ध के विषय में एक नया दृष्टिकोण लेकर आए।

भले ही भारतीय और पाश्चात्य धारणाएँ पार्श्वभूमि और पृष्ठभूमि के रूप में रही हों, लेकिन स्थापनाएँ और संदेश उनके अपने हैं और वे इतने व्यावहारिक, सार्वभौम और पूर्ण हैं कि आज जब हमारे देश में युद्ध के बादल घिरे हुए हैं, 'कुरुक्षेत्र' की एक-एक उक्ति सार्थक जान पड़ती है।

कलिंग-विजय में व्यक्त दृष्टि अर्जित है, उनकी अपनी नहीं, क्योंकि दिनकर जी अहिंसा को साध्य मानते हुए भी हिंसा को कभी नहीं छोड़ सके हैं। गांधी युग के कवि होने के नाते गांधी के प्रति आस्था रखते हुए भी आततायी और अत्याचारी का सामना करने के लिए उन्होंने सदैव आग और अंगारों को ही स्वीकार किया है।

वर्तमान समस्या : पुराना माध्यम

वर्तमान समस्या के व्याख्यान और समाधान के लिए उन्होंने महाभारत का माध्यम क्यों चुना ? इसके कुछ मुख्य कारण दिखाई देते हैं।

सबसे पहली बात तो यह है, कि द्वितीय महायुद्ध के समय पराधीन देश होने के कारण, भारतीय जनता में युद्ध के प्रति न तो भावात्मक सहानुभूति थी न बौद्धिक। अंग्रेजों की प्रवंचक दमन-नीति ने तानाशाही शक्तियों से लड़नेवाली प्रजातन्त्रवादी शक्तियों के विरुद्ध भारत में विरोधी और विद्रोही वातावरण उत्पन्न कर दिया था। अंग्रेज हमारे पहले शत्रु थे। उनकी विजय हमारे मन में आत्म गौरव का भाव नहीं भर सकती थी, हाँ उनकी हार से हमें प्रच्छन्न सुख अवश्य मिलता था। हम एक सबल प्रजातन्त्रवादी देश की तानाशाही भोग रहे थे। ऐसी स्थिति में, युद्ध काव्य की रचना में वर्तमान युद्ध की प्रेरणा परोक्ष ही रह सकती थी। दूसरी बात यह है कि दोनों ही विश्व-युद्ध भारत से बाहर सुदूर देशों में लड़े गए। आग की लपटों की आँच भारत तक पहुँची तो, लेकिन युद्ध की विभीषिका आँखों के सामने आती—ऐसी नौबत नहीं आयी। आकाश में मंडराते हुए हवाई जहाज़, बम-प्रहारों से ढहते हुए गगनचुम्बी प्रासाद, अरअराती हुई दीवारें, छतरियों से उतरते हुए हवाबाज़, मशीनगनों और तोपों की गड़गड़ाहटों को कवि ने स्वयं नहीं देखा-सुना था—समाचार-पत्र और रेडियो के विवरणों द्वारा ही उनके विषय में अनुमान और कल्पना की जा सकती थी यह परोक्ष सम्पर्क कवि को अभिव्यक्ति का सबल माध्यम प्रदान करने के लिए काफी नहीं था। इसके विपरीत, लंकाकाण्ड और महाभारत के युद्ध-वर्णन उनके मानस में संस्कार रूप में जमे हुए थे। यही कारण है कि दिनकर जी ने निकट वर्तमान की समस्या को सुदूर अतीत के माध्यम से व्यक्त किया। युद्ध-नायकों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। कैसर, हिटलर, मुसोलिनी प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों में विश्व-संसार के लिए चाहे जितनी बड़ी सीमा तक उत्तर-दायी रहे हो, लेकिन भारतीय जनता तथा कवि के मानस में बने, दुर्वृत्तियों के प्रतीक दुर्योधन और रावण के व्यक्तित्वों से अधिक निकट नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार युद्ध के सद्पक्ष के उद्घाटन में राम और युधिष्ठिर के समकक्ष प्रजातन्त्रवादी सत्ताओं के अग्रणी लायड जार्ज, विलसन, चर्चिल अथवा रूजवेल्ट को भी नहीं रखा जा सकता था। इन युद्धों में सद्-असद् का निर्णय भी कठिन था, क्योंकि दोनों ही महायुद्धों का मूल कारण राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की खींच-तान मात्र था।

युद्ध एक अनिवार्य विकार

'कुरुक्षेत्र' का आरम्भ युद्धांत पर युधिष्ठिर के हृदय की ग्लानि के चित्रण के साथ होता है। प्रस्तुत प्रसंग में युधिष्ठिर के निर्वेद का केवल इतना महत्व है कि उसके व्याज से ही भीष्म पितामह द्वारा शौर्य की महिमा का व्याख्यान किया गया है तथा युद्ध के अनघत्व की स्थापना की गई है। युद्ध एक तूफान है। जिस प्रकार तूफान अनायास ही नहीं टूट पड़ता, प्रकृति में जो प्रचंड निदाघ धीरे-धीरे एकत्र होता रहता है वही एक आवेगमय विस्फोट के रूप में एक दिन फूट पड़ता है। उसी प्रकार, मानव-समाज में व्यक्तिगत, राजनीतिक और राष्ट्रीय स्तर पर जो विकारों की शिखाएँ धीरे-धीरे सुलगती रहती हैं, क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या और द्वेष उनको प्रज्वलित करते रहते हैं। वही आग देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम के व्याज से युद्धाग्नि के रूप में फैल जाती है। युद्ध का आरम्भ अनय ही करता है। फिर धर्म, नीति तथा न्याय के मार्ग पर चलने वालों के लिए उसकी चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प रह नहीं जाता। शांति प्रेमियों को भी युद्ध की ज्वाला में कूदना पड़ता है तत्व-चिन्तन, गम्भीर विचार पीछे पड़ जाते हैं। युद्ध एक अनिवार्य विकार है और उसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है, क्योंकि विषम रोग का उपचार मिष्ठान्न नहीं, तिक्त औषधि है—

> **रुग्ण होना चाहता कोई नहीं**
> **रोग लेकिन आ गया जब पास हो'**
> **तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या ?**
> **शमित होगा वह नहीं मिष्ठान से।**

युद्ध आपद्धर्म

भीष्म द्वारा हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन कराने के कारण दिनकर जी पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया गया था, लेकिन उन्होंने हिंसा अथवा युद्ध को जीवन के साध्य या अन्तिम लक्ष्य के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया। कोई भी कार्य चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा समष्टिगत अपने आप में पुण्य या पाप नहीं होता, पुण्य या पाप की कसौटी उस कार्य का लक्ष्य या उद्देश्य होता है। फिर युद्ध तो बिलकुल ही अपवाद है—

> **क्यों कि कोई कर्म है ऐसा नहीं**
> **जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो,**
> ... ...
> **औ' समर तो और भी अपवाद है,**
> **चाहता कोई नहीं इसको, मगर,**
> **जूझना पड़ता सभी को, शत्रु जब**
> **आ गया हो द्वार पर ललकारता।**

युद्ध के पाप-रूप का भी विश्लेषण उन्होंने किया है। युद्ध के मूल कारण हैं वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रकारों की प्रतियोगिताएँ, स्पर्धा और ईर्ष्या तथा राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण। दिनकरजी ने किसी भी राष्ट्र के लिए युद्ध को विकास अथवा विस्तार के साधन के रूप में नहीं स्वीकार किया है, परन्तु देश की

आत्मरक्षा के लिए सैन्य-शक्ति का संतुलन और उसके प्रयोग की सामर्थ्य को उन्होंने राष्ट्र का आवश्यक अंग माना है। वह कहते हैं—

सेना-साज हीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है,
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्भुत होता,
वाणिज्य के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है।
चोट खा परन्तु, जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है,
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब,
पौरुष की जागृति कहाती धर्म-युद्ध है।

स्वत्व, धर्म और सम्मान की रक्षा के लिए जो युद्ध किया जाता है वह पाप नहीं होता। अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए उठाई गई तलवार की चमक में पुण्य खिलता है। अत्याचार सहना पाप है, अन्यायी को अन्याय करने की हिम्मत करने का अवसर देना पाप है---

छीनता हो स्वत्व कोई और तू त्याग तप से काम ले,
यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ
जो हाथ है।

देह की लड़ाई देह से

त्याग, तप, करुणा, दया, क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते हैं, उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते हैं, इन्हीं की साधना मानव को अभीष्ट है, लेकिन यह केवल व्यक्ति-धर्म है, सामान्य धर्म है। युद्ध की स्थिति अपवाद है, क्योंकि आत्मबल के सामने मनोबल नहीं ठहर सकता—

कौन केवल आत्मबल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है।
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

इसी प्रकार हारी हुई जाति की अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का भी कोई अर्थ नहीं है। पराजित, शोषित और दलित की क्षमा कुलीन जाति का घोर कलंक है : पराजित का धर्म है प्रतिशोध, खोए हुए आत्मसम्मान की पुनः प्राप्ति। विवशता की स्थिति में की गई क्षमा अर्थहीन है, अभिशाप है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उस को क्या जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।

तथा—

नेता के विभूषण सहिष्णुता क्षमा हैं, किन्तु,
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।

मन तथा कर्म का तादात्म्य आवश्यक

अधर्म और अन्याय के प्रति एक ही प्रतिक्रिया उचित मानी जा सकती है—उसके निराकरण के लिए दहकते हुए अंगारों पर चलना, बिना किसी तर्क-वितर्क के आक्रमणकारी को मार भगाना। तर्क-वितर्क बुद्धि जन्य होते हैं। साधारणतः जो विवेक-बुद्धि ग्राह्य और कल्याणकारी होती है, युद्धकाल में वही विष बन जाती है। पुण्य और पाप, शान्ति और ध्वंस, मान और अपमान में कौन अभीष्ट है—अगर यह द्विधा मन में उत्पन्न हुई, अगर भुजा और मस्तिष्क अलग-अलग चले, तो युद्ध कालीन कर्त्तव्य के पालन में व्याघात पहुँचता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को समझाते हैं—

जहाँ भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का।
द्विधा मूढ़, वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो समृद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?

यद्यपि दिनकरजी ने युद्ध-कालीन कर्तव्य-कर्मों तथा युद्ध के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण 'कुरुक्षेत्र' में प्रस्तुत किया है, तथापि युद्ध को जीवन या समाज के साध्य रूप में उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया उनकी कामना यही रही—

धर्म का दीपक दया का दीप
कब जलेगा कब जलेगा, विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण?

'कुरुक्षेत्र' के बाद दिनकरजी की काव्य-चेतना में नए मोड़ आये। 'सामधेनी' में कुछ रचनाएँ अवश्य हैं, जिनमें युद्ध में लड़ मरने की प्रेरणा दी गई है। उन युद्धगीतों तथा अभियान-गीतों का उपयोग आज के संकट-काल में किया जा रहा है। 'जवानी का झण्डा उड़ा कर खड़ा हो, मेरे देश के नौजवान।' —'सामधेनी' में संकलित शायद १९४६ का लिखा हुआ अभियान-गीत है 'सरहद के पार' से कविता 'आजाद हिन्द सेना से' को लक्ष्य कर के लिखी गयी थी। 'साथी' कविता में युद्धोचित ओज भरने की पूरी शक्ति है। 'सामधेनी' के बाद की रचनाओं में जहाँ भी यह प्रसंग आया दिनकरजी 'कुरुक्षेत्र' में स्थापित अपनी मान्यताओं पर ही अड़े रहे। गांधी-दर्शन को उन्होंने आदर्श और साध्य रूप में स्वीकार किया, परन्तु स्थूल धरातल पर उसकी अव्यावहारिकता का निराकरण आपद्-धर्म के रूप में हिंसा की स्वीकृति करके ही किया। वास्तव में इसे गांधी-विरोधी दर्शन नहीं कहा जा सका, क्योंकि गांधी जी ने भी कायरता की अपेक्षा हिंसा को अधिक स्वीकार्य माना है। 'नीलकुसुम' के 'हिमालय का संदेश नामक' कविता में भी 'कुरुक्षेत्र' की स्थापनाओं की ही आवृत्ति की गई है। उनकी कल्पना का आदर्श रूप है विश्व मानव और उनके अनुसार वर्तमान संघर्षों का मूल कारण है राष्ट्रवाद। 'युद्ध देवता' की उक्ति है—

है कहाँ विश्व-मानव? जो है केवल स्वदेश के प्राणी हैं,
मानवता नहीं, मातृभू की महिमा के सब अभिमानी हैं।
जब तक ये झंडे फहर रहे अभिमान नहीं यह सोता है,

देखें तो तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है।
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन—

एक ओर दिनकर जी जहाँ भारत की शांतिप्रियता आध्यात्मिकता—दूसरे शब्दों में—पंचशील में निहित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं—

जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत, जीवित भास्वर है।

दूसरी ओर हिमालय का संदेश है—

पग पग पर हिंसा की ज्वाला, चारों ओर गरल है,
मन को बाँध शांति का पालन करना नहीं सरल है।
तब भी जो नरवीर असिव्रत दारुण पाल सकेंगे,
वसुधा को विष के विवर्त से वही निकाल सकेंगे।

अब भी पशु मत मतो

'नीलकुसुम' के बाद की रचनाओं में युद्ध का प्रसंग प्रायः नहीं आया है। 'उर्वशी' में उन्होंने विश्व पर छायी हुई एक दूसरी समस्या को ग्रहण किया, शायद वह उसी क्षेत्र में और लिखते, परन्तु चीन के आक्रमण ने 'समयपुत्र' को चुनौती दी है और दिनकरजी की वाणी फिर वही आग बरसाने लगी जिसने गांधी-युग की अहिंसा को भी चुनौती दी थी। चीनी आक्रमण पर उनकी कविता 'जौहर' सबसे पहले दृष्टि में आयी। ऐसा लगा जैसे सोता हुआ शेर जागकर अभी केवल अंगड़ाइयाँ ले रहा है। इस कविता में चीनी आक्रमण के प्रति जनता के आक्रोश और उत्तेजना तथा भारतीय सेना की प्रारम्भिक पराजयों से उत्पन्न अवसाद का चित्रण हुआ है। जनता जगी हुई है 'आज कसौटी पर गांधी की आग है';'अहिंसावादी का युद्ध गीत' और 'आपद्धर्म' में दिनकर जी का विचारक और दार्शनिक ही प्रबुद्ध हुआ है। उनका दर्शन आकाश की ऊँचाई को छूता हुआ भी पृथ्वी का आधार नहीं छोड़ता, जिस आधार के बिना दर्शन का अनुसरण करके त्रिशंकु की स्थिति ही हाथ आती है। आज कसौटी पर गांधी की आग है नामक कविता में 'राष्ट्र-अग्रणी' की पशु न बनने की आज्ञा को चुनौती दी गई है और आपद्धर्म की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया है। वास्तव में 'कलिंग-विजय' के अशोक, 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और आज के जवाहर एक ही विचार-परम्परा के तीन प्रतिनिधि हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले दो, युद्ध-जन्य ध्वंस के उत्तरदायित्व के कारण ग्लानियुक्त हैं तीसरा उनसे मिली हुई अहिंसा और क्षमा के संस्कारों से मुक्त होने में असमर्थ है। जवाहरलालजी के व्यक्तित्व में छिपे हुए अशोक, युधिष्ठिर और गांधी के संस्कारों की दिनकरजी सराहना करते हैं—

अब भी पशु मत बनो कहा है वीर जवाहरलाल ने।
अंधकार को दबी रौशनी की धीमी ललकार,
कठिन घड़ी में भी भारत के मन की धीर पुकार।
सुनती हो नागिनी। समझती हो इस स्वर को?
देखा है क्या कहीं और भू पर उस नर को—

जिसे न चढ़ता जहर न तो उन्माद कभी आता है,
समर-भूमि में भी जो पशु होने से घबराता है?

परन्तु, यह संस्कार, यह विवेक, यह शम और दम आज की समस्या के समाधान नहीं हैं। आज के उमड़ते हुए ज्वार का उत्तर है प्रतिशोध। आज जनता को हमारी पुण्य-भूमि को रौंदने वाले का मस्तक चाहिए। युद्ध के समय प्रतिकार ही पुण्य है। इसीलिए, दिनकरजी ने निर्भीक और निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्र-अग्रणी की मानव बने रहने की आज्ञा को चुनौती दी है। मन और कर्म का असामंजस्य तब तक बना रहेगा, जबतक शौर्य हमारी सांस्कृतिक चेतना का एक अंग बन कर हमारी रग-रग में समा नहीं जाता, इस द्विधा-पूर्ण स्थिति में पशु की जीत होगी, मनुष्य हार जाएगा। इसीलिए, दिनकरजी सबके सामने खुला समाधान रखते हुए राष्ट्र के सुत्रधार को जनमानस की भीष्म-प्रतिज्ञा और ज्वलित अंगारमयी भावनाओं से अवगत कराते हैं—

खडग सींचा जाता है—
नहीं युद्ध में गंगा के जल की फुहार से।
... ...

दबा पुण्य का वेग, अंखड़िया गीली मत होने दे,
कस कर पकड़ कृपाण मुट्ठियाँ ढीली मत होने दे।
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप में मिलती है,
पहरे पर जब स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं।

केवल गर्जन नहीं समर्थ है

परिस्थितियों की विवशता की दुहाई दे दे कर, अवसादग्रस्त होकर आँसू बहा कर लड़ना युद्ध का समाधान नहीं है। केवल गर्जन-तर्जन, रोष और आवेश-प्रदर्शन से भी इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती। सच्चा शूर-धर्म है आत्म-गौरव के प्रति जागरूकता, निर्भीकता और द्विधामुक्त चिन्तन। हर विजय के पीछे मन का दृढ़ संकल्प प्रधान होता है। जहाँ युद्ध शुद्ध संकल्प, आशा, साहस और विचार द्वारा प्रेरित होता है, वहीं विजय होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दिनकरजी को ये सब बातें समय की माँग के कारण ही कहनी पड़ी हैं। जिस 'अग्नि-स्नान' के लिए उन्होंने जनता का आह्वान किया था, उसके अनुकूल वातावरण उन्हें नहीं मिला। 'गांधी के शांति-सदन में आग लगाने वाले' भयानक विषधर का फण कुचल देने के लिए एक ओर जनता में उबाल था, दूसरी ओर नेताओं के वक्तव्यों में वय और संस्कार-जन्य शांति की आवाज़ बढ़ती ही जा रही थी। यहीं दिनकरजी उद्विग्न हो उठे थे। कर्म अकर्म, धर्म-अधर्म की द्विधा में ग्रस्त हो मानवीय मूल्यों की दुहाई दे-दे कर युद्ध-नीति का निर्धारण करने वालों के प्रति उनका संदेश है—

युद्ध में जीत कभी भी उसे नहीं मिलती है,
प्रज्ञा जिस की विकल, द्विधा-कुंठित कृपाण की धार है।
विजयकेतु गाड़ते वीर जिस गगन-जयी चोटी पर,
पहले वह मन की उमंग के बीच गढ़ी जाती है।

विद्युत बन छूटती समर में जो कृपाण लोहे की,
भट्ठी में पीछे, विचार में प्रथम गढ़ी जाती है।

आवेश यदि विवेक और कर्म-संपुष्ट न हो तो निरर्थक है, इसीलिए जनता को सम्बोधित करके वह कहते हैं—

किन्तु, बुलाने को जिस के तू गरज रहा है
उसे, पास लाने में केवल गर्जन नहीं समर्थ है।
रोष, घोष, स्वर नहीं, मौन शूरता मनुज का धन है
और शूरता मात्र नहीं अंगार,
शूरता, नहीं मात्र रण में प्रकोप से धुंधुआती तलवार
शूरता, स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र, जाग्रत स्वभाव,
शूरत्व, त्याग, शूरता बुद्धि की प्रखर आग।

'पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?' यह उक्ति 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म ने युधिष्ठिर की ग्लानि का समाधान करने के लिए कही थी। वर्तमान महाभारत में कर्म और शांति के नाम पर उठती हुई द्विविधाओं का निराकरण करने के लिए कवि ने फिर भीष्मनाद किया है—

पापी कोई और, चित्त क्यों म्लान करें हम ?
भारत में जो निधि मनुष्यता की संचित है,
क्यों पशुत्व-भय से उसका बलिदान करें हम
किसे लीलने को आई यह लाल लपट है,
गांधी पर यदि नहीं और किस पर संकट है ?

गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।

'परशुराम की प्रतीक्षा' के पहले लिखे गए इन गीतों में 'कुरुक्षेत्र' का भीष्म ही मस्तिष्क के स्तर पर बोल रहा था, लेकिन अब तो जैसे दिनकरजी पर हिंसा और प्रतिशोध का जुनून चढ़ गया है। ऐसा लगता है कि वे फिर 'रेणुका' और 'हुंकार' के युग में पहुँच कर आग बरसा रहे हैं। उनका विचार है, गांधी और गौतम की रक्षा करने के लिए 'परशुराम' को अवतार लेना होगा, जिसे चीन से पराजय का कलंक 'लोहित' कुंड में धोना पडेगा।

आज का समाधान अध्यात्म-दर्शन नहीं

निवृत्ति-मूलक अथवा कोमल मधुर भावनाओं का पोषण करने वाले दर्शन से आज हमारे राष्ट्र की समस्या नहीं सुलझ सकती। आध्यात्मिकता प्रधान राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है—

उपशम को ही जो, जाति धर्म कहती है,
शम, दम, विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है।
दो उन्हें राम तो मात्र नाम ले लेगी,
विक्रमी शरासन से न काम वे लेंगी।

नवनीत बना देती भट अवतारी को,
मोहन मुरलीधर पांचजन्य धारी को।

समय की माँग को न पहचान कर जीवन के उदात्त गुणों और मानवीय मूल्यों का झण्डा उठा कर जनता का उत्साह ठंडा करने वालों के प्रति दिनकरजी कहीं-कहीं बहुत ही कटु हो गए हैं—

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते है
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं,
सारी वसुन्धरा में गुरुपद पाने को
प्यासी धरती के लिए अमृत लाने को,
जो संत लोग सीधे पाताल चले हैं
अच्छे हैं अब (पहले भी बहुत भले हैं)

देश की पराजय का कारण उनकी दृष्टि में यही आध्यात्मिकताजन्य पलायनवादी जीवन-दर्शन है। जनता के प्रति उनका सन्देश है—

जो पुण्य-पुण्य बक रहे उन्हें बकने दो,
जैसे सदियाँ थक चुकीं उन्हें थकने दो।
पर देख चुके हम तो सब पुण्य कमा कर
सौभाग्य, मान, गौरव अभिमान गँवा कर।
वे पिएँ शीत तुम आतप धाम पियो रे।
वे जपें राम तुम बनकर राम जियो रे।

दिनकर ने भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसके पूर्ण सैन्यीकरण में ही की है, उनके लिए राष्ट्र के सम्मान तथा संस्कृति की रक्षा का यही एक मार्ग है। एक हाथ में परशु और दूसरे में वेद लेकर ही भारतीयता की रक्षा की जा सकती है। उद्दाम ध्वंसक शक्ति के द्वारा ही भारत पर ललचाई नज़र डालने वालों को उचित शिक्षा दी जा सकती है इसीलिए उन्होंने शंकर, गौतम और अशोक का इन शब्दों में आह्वान किया है—

पर्वतपति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा।
गौतम को जयजयकार बोलना होगा।

आज 'कुरुक्षेत्र' का भीष्म फिर 'हुँकार' कर कृशानु-उद्दीपक 'सामधेनी' का उच्चार कर रहा है—

एक वस्तु है ग्राह्य युद्ध में,
और सभी कुछ देय है,
पुण्य हो कि हो पाप,
जीत केवल दोनों का ध्येय है।

दिनकर की काव्य-भाषा और छन्दोविधान

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

हिन्दी-काव्य-साहित्य में भाषा-क्रान्ति के लिए द्विवेदी-युग अपना प्रमुख एवं शाश्वत अस्तित्व बनाये हुए रहेगा। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली ने काव्य के प्रांगण में जिस रूप से पदार्पण किया था उसका दृढ़तापूर्ण अस्तित्व भगवान् के विराट् रूप की भांति शनैः शनैः बढ़ता चला गया और आगे चलते-चलते उसमें व्याकरणिक परिमार्जन को लेकर ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों की मनोहारिणी शैली में भावाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता भी आ गई, क्योंकि उसे अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और दिनकर जैसे कुशल कवियों की लेखनी का बल प्राप्त हो चुका था। उसी उत्कृष्ट, प्रांजल तथा विभिन्न भावोद्भावक रूप में आज हमारी खड़ी बोली कविवर दिनकर की काव्य-धारा में भी आनन्द-विहार कर रही है। रसोद्रेक अथवा भावोद्बोधन में भाषा तथा छन्द का बहुत बड़ा योगदान होता है, कविवर दिनकर की भाषा अपने इस योगदान में सफल सिद्ध हुई है अथवा नहीं, यहाँ यही हमें देखना है क्योंकि भाषा काव्य का कला-पक्ष है या कहिए कि भाव का प्रेषक तत्व है।

भाषा वाक्यों से, वाक्य पदों से, पद शब्दों से और शब्द मूल प्रकृति तथा प्रत्ययों के योग से अपने वास्तविक अस्तित्व को अभिव्यक्त किया करते हैं। इन सभी के अन्तराल में कवि की भावरूपिणी सृष्टि समाविष्ट रहती है। भाषा तो भावों की संवाहिका है ही। अतः शब्द-शक्ति का सच्चा पारखी कवि ही अपने हृदयस्थ भावों की प्रेषणीयता में साफल्य प्राप्त कर सकता है। कोई भाव सरलता के सहज रूप में अभिव्यक्त हो सकेगा अथवा उसे वक्रोक्ति[1] का चमत्कार प्रदान करना पड़ेगा अथवा उसकी छटा लोकोक्ति-मुहावरे के माध्यम से ही अधिक मनोहर प्रतीत होगी, इसे भाषा की आत्मा और प्राण-शक्ति को पहचानने वाला कलाविज्ञ कवि ही ठीक तरह समझ सकता है। अपनी अनुभूति में वही कवि पाठकों का आत्मरमण करा सकता है जिसे शब्द की शक्ति तथा उसकी परिधि का पूरा-पूरा ज्ञान है। भाषा और भाव दोनों मिलकर ही तो काव्य

---

१. **वाग्वैदग्ध्यपूर्ण विचित्र उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं—(आचार्य कुन्तक के मतानुसार)**

कहाते हैं--'शब्दार्थौ काव्यम्'। वास्तव में भाषा काव्य की शरीरयष्टि है।

रूप-सौन्दर्य और गुण-सौन्दर्य की अनुभूति तो संसार के अन्य मानवों को भी होती है। किन्तु उन मानवों से काव्यस्रष्टा कवि में विशेषता यह है कि रूप सौन्दर्य और गुण-सौन्दर्य के प्रति काव्यकार अधिकतम रूप में संवेदनशील होता है और उस दुहरे सौन्दर्य को वह अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति के माध्यम से संसार के समक्ष प्रस्तुत करके तिहरा बना देता है। शब्द, वृत्ति,[1] अलंकार,[2] वक्रोक्ति,[3] ध्वनि, छन्द आदि के रूप में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही तो प्रकट होता है। भाषा का सौन्दर्य इन्हीं में निहित है। अतः दिनकर के काव्य की भाषा की विवेचना वास्तव में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की विवेचना है।

दिनकर प्रमुखतः गीतिकाव्य के कवि हैं। वैसे उन्होंने 'कुरुक्षेत्र, 'रश्मिरथी' आदि प्रबन्ध-काव्य भी लिखे हैं। जब कवि के हृदय की घनीभूत वेदना स्वच्छन्दता-पूर्वक कोमलकान्तपदावली में संगीतात्मकता की स्वरलहरी के साथ एक दम फूट पड़ती है तभी गीति-काव्य का जन्म होता है। अतः गीतिकाव्य की भाषा में भावोद्-बोधन एवं रसोद्रेक की शक्ति अधिक घनीभूत तथा वेगवती होती है। जब बहिर्मुखी कवि किसी विश्वविश्रुत चरितनायक के प्रेरणादायी वृत्त या घटना को काव्य-सूत्र में गूंथना चाहता है तब प्रबन्धकाव्य की सृष्टि होती है। ऐसे काव्यों की भाषा में निहित शक्ति अधिक तो होती है किन्तु अपना स्थायी प्रभाव मन्थर गति से चलकर ही उत्पन्न करती है। हमारा विवेच्य विषय यही है कि हम कविवर श्री दिनकरजी के गीतिकाव्यों तथा प्रबन्धकाव्यों की भाषा का विवेचन प्रस्तुत करें और उनका छन्दोविधान भी।

उपर्युक्त अनुच्छेद में जो बात अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में हमने कही है, उससे दिनकरजी के अन्तस् का विवेकी कवि पूर्णतः परिचित है। 'रश्मिरथी' की भूमिका में वह स्वयं लिखते हैं—

'कविता केवल चित्र, चिन्तन और विरल संगीत के धरातल पर जा अटकी है और जहाँ भी स्थूलता एवं वर्णन के संकट में फँसने का भय है, उस ओर कवि कल्पना जाना नहीं चाहती। लेकिन स्थूलता और वर्णन के संकट का मुकाबिला किये बिना कथाकाव्य लिखने वाले का काम नहीं चल सकता। कथा कहने में, अक्सर, ऐसी परि-स्थितियाँ आकर मौजूद हो जाती हैं जिनका वर्णन करना तो जरूरी होता है, मगर वर्णन काव्यात्मकता में व्याघात डाले बिना निभ नहीं सकता। मर्मज्ञ कवि के इस कथन से आचार्य भामह के मत की पुष्टि होती है जिन्होंने वार्ता को अकाव्य माना है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते।

—(भामह, काव्यालंकार २।८७)

---

१. **शब्दतत्वाश्रयाः कश्चित् अर्थतत्वयुजोत्परा**—(ध्वन्यालोक ३।४८)
२. **सौन्दर्यमलङ्कारः**—(बामन)
३. **वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीमणितिरुच्यते**—(कुन्तक)

गीतकार कवि दिनकर की काव्य-भाषा की प्रस्तुत विवेचना के आधार हमारे लिए 'रेणुका,' 'रसवन्ती,' 'सामधेनी' और 'इतिहास के आँसू' हैं और प्रबन्ध-काव्यकार कवि दिनकर की भाषा का स्वरूप यहाँ प्रमुखतः 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के आधार पर किया गया है।

कवि की भाषा लेखक या व्याख्यानदाता की भाषा से पृथक् हुआ करती है। काव्यस्रष्टा कवि सूचना नहीं देता, यह कार्य तो इतिहासकार का है। कवि कोरा तथ्य-निरूपण नहीं करता, यह काम गणित शास्त्री का है। कवि वस्तु-विश्लेषण नहीं करता, यह काम वैज्ञानिक का है। कवि उपदेश नहीं देता, यह काम धर्म प्रचारकों का है। कवि अक्षुण्ण अनुकृति नहीं करता, यह काम फोटोग्राफर का है। वह तो वास्तव में अपनी अनुभूति को कल्पना, बुद्धि और राग के संयोग-सहित समुचित शब्दों के माध्यम से सर्वानुभूति बना देता है जिसमें सत्य शिवत्व एवं सौन्दर्य का स्वरूप प्राप्त करता है। इसके लिए उसे उपमान-विधान अर्थात् अप्रस्तुतयोजना का भी सहारा लेना पड़ता है। उपमानों के माध्यम से व्यक्त होने वाला शब्द-चित्र संश्लिष्ट होने के साथ-साथ संवेदनात्मक अधिक होता है। यही कवि की भाषा की अद्भुत शक्ति है। कवि का 'कमल' और कवि का 'इन्द्र' यदि कहीं उपमान के रूप में आता है तो वहाँ वह कोरा 'कमल' या 'इन्द्र' ही नहीं है अपितु अपनी दसों दिशाओं के वातावरण, वस्तु-सामग्री और वैभव से विभूषित महान् रसाद्बोधक प्रतीक प्रतिनिधि है। यदि कवि ने किसी के लिए 'इन्द्र' शब्द को उपमान के रूप में अभिव्यक्त किया है तो निश्चय ही वह व्यक्ति कवि की अनुभूति में पुरुषत्व से ऊँचे देवत्व को प्राप्त कर चुका है। उसका राजसी वैभव स्वर्गीय आभा से आभासित है। उसमें देवत्व और राजत्व स्वर्गीय विभूतियों को समेट-कर समाविष्ट हुए हैं। रूपसाम्य और गुणसाम्य से पृथक् केवल होकर प्रभावसाम्य को लेकर उपस्थित होने वाले अनेक प्रतीक कवि के काव्य में पाठकों की संवेदना जगाते हैं और साधारणीकृत रूप में भावोद्बोधन करके रस की धारा में हमें अवगाहन कराते हैं। कारण यह है कि कवि अर्थात् सच्चा कलाकार योगी की भांति समाधिगत होकर अतीन्द्रिय जगत् को देखता है। उसकी भाव-भूमि संप्रज्ञात् समाधि में बनती है। यही वास्तविक प्रेरणा भूमि है। वितर्क को पार करके विचार और आनन्द की रम्यस्थलियों में ही वह आत्म-रमण करता रहता है और आनन्द की लहरें लेता रहता है। तभी तो उससे स्वतः निःसृत वाणी अखिल सृष्टि को रस प्रदान करती है। 'रेणुका' में हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता को पढ़ने पर ऐसा कौन भारतवासी होगा जो स्वाभिमान और आत्मगौरव की अनुभूति न करे। कविवर दिनकरजी का हिमालय हिमशिलाओं तथा प्रस्तरों का पुंज मात्र नहीं, अपितु वह एक धीर, वीर, गम्भीर तथा अप्रतिम समाधिस्थ साधक है जिसे अब तक नव जागरण करना है नवयुग की चेतना से अपने को चेतन बनाना है—

हिमालय के सम्बोधन से कवि को भारतवासियों का जगाना अभीष्ट है और नये ढंग से तथा नये वेग से—

ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद।
तू शैलराट्। हुँकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

—('रेणुका' से)

दिनकर की कविता की भाषा सरल है। उसमें प्रसाद गुण पूरी तरह से पाया जाता है। किसी कवि ने उन कवियों के लिए ठीक ही कहा है जो बहुत कठिन भाषा में बारीक बात कहते हैं—

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मजा कहने का तब है एक कहे और दूसरा समझे।

काव्य में चाहे लक्ष्यार्थ प्रधान हो और चाहे व्यंग्यार्थ, वह आनन्द तभी देगा जब उसका अभिधेयार्थ स्पष्ट होगा। मूलतः अभिधा ही तो लक्षणा और व्यंजना की आधार-भूमिका है। इसीलिए सरल और सहज बोधगम्य शब्दावली कविता का असली प्राणतत्व है। 'रेणुका', 'हुंकार' और 'रसवन्ती' की काव्य भाषा इसका पूर्ण समर्थन करती है। इसका यह अर्थ नहीं कि दिनकरजी ने अपने काव्य-ग्रन्थों में ऐसे शब्दों का प्रयोग ही नहीं किया जिनके लिए पाठकों को कोष देखने की आवश्यकता पड़ती हो। यदि कवि ऐसा न करें तो साहित्यिक अल्पप्रचलित शब्द जीवित् कैसे रह सकते हैं? इसीलिए वैदर्भी और पांचाली रीतियों के माध्यम से कवि दिनकर ने जहाँ माधुर्य और प्रसाद गुण की छटा छिटकाई है, वहाँ आँख की बरौनियों के लिए 'पपनी' और गन्ध देने के अर्थ में 'मंह-मंहकर' जैसे स्थानीय प्रयोग भी किये हैं—

पपनी पर आँसू की बूँदे, मोती-सी शबनम-सी।

—(रसवन्ती, बालिका से बधू, पृ० १५)

महं-मंहकर मंजरी गले से मिल किसको चूमेगी ?

—(रसवन्ती, बालिका से बधू—पृ० १७)

'कुरुक्षेत्र' के प्रथम सर्ग के प्रथम छन्द में श्वेत के अर्थ में प्रयुक्त 'वलक्ष' भी ऐसा ही है जिसका अर्थ जानने के लिए शब्द-कोष देखना पड़ेगा और उन पंक्तियों का अन्वय समझाने के लिए भी चतुर पाठक को उन्हें दो-तीन बार पढ़ना भी पड़ेगा—

वह कौन रोता है वहाँ—
इतिहास के अध्याय पर,
जिसने लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है,

प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का,
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष बलक्ष है।[1]
—(कुरुक्षेत्र, प्रथम सर्ग, पृष्ठ १)

भाषा की दृष्टि से कविवर दिनकर हमें 'कुरुक्षेत्र' में जितने अधिक विलष्ट प्रतीत होते हैं, उतने 'रश्मिरथी' में नहीं। 'रश्मिरथी' जैसे कथाकाव्य में तो वे पूर्णतः प्रसाद-गुण के पुजारी सिद्ध होते हैं। आचार्य मम्मट ने लिखा है कि जो सूखे ईंधन में आग की भाँति तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भांति मन में शीघ्र व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है[2]।

मुहावरेदार सरल और प्रभावशालिनी भाषा लिखने में दिनकरजी सफल सिद्ध हुए हैं। प्रश्नवाचक वाक्यों के द्वारा सरस सन्देश देकर हमें नवीन रागिनी सुनाते हुए राष्ट्र को प्राणवान् इसी कवि ने बनाया है—

गीत, अगीत कौन सुन्दर है?
गाकर गीत विरह के तटिनी, बेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को, उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—देते स्वर यदिमुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का मैं भी जग को गीत सुनाता।
गा-गाकर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?
—(रसवन्ती, गीत-अगीत, पृ० १३)

'गीत-अगीत' शीर्षक से इस कविता में सिद्ध कर दिया है कि अगीत (मौन) का सौन्दर्य 'गीत' के सौन्दर्य से कहीं अधिक है। तटिनी के तट पर मूक खड़े हुए पाटल की आँखों की मौन-भावनाएँ जितना आकर्षण रखती हैं, उतना आकर्षण गा-गाकर बहने वाली निर्झरी में नहीं। लज्जा, शील और प्रेम से परिपूर्ण नेत्र तथा उनसे निकलकर कपोलों पर बहने वाले शान्त एवं मूक आँसू मन पर जो प्रभाव डाल सकते हैं, वह प्रभाव

---

१. बड़े-बड़े कवि जब बुद्धितत्वमय स्वरूप में कुछ विचित्र शब्दावली देना चाहते हैं तब 'वलक्ष' जैसे उपयुक्त शब्द भी लिख देते हैं। सूर ने 'रोली' के लिए 'बन्दन' और तुलसी ने 'जल' के लिए 'वन' शब्द का प्रयोग किया है——

'गौरे भाल बिन्दु बन्दन, मनुइंदु प्रात-रवि क्रांति'—(सूरसागर, ना० प्रा० स० १०।७०४)

'पाइन है वनवाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है' —(कवितावली, अयो० छन्द ७)

२. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।'
—(आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश, अष्टम, उ० ७० का०)

वाणी नहीं डाल सकती । निः सन्देह इस अगीत के सौन्दय को गीत त्रिकाल में भी नहीं पा सकता ।

'रश्मिरथी' में कर्ण गंगा के तट पर कुन्ती से भी अपनी बात कह रहा है, उसमें भी प्रश्नवाचक वाक्य के द्वारा अद्भुत प्रभाव उत्पन्न हो गया है । यह दिनकरजी की भाषा-शैली की अपनी अद्वितीय विशेषता है—

तुमने जनकर भी नहीं पुत्र कर जाना,
उसने पाकर भी मुझे तनय निज माना ।
अब तुम्हीं कहो कैसे आत्मा को मारूँ ।
माता कह उसके बदले तुम्हें पुकारूँ ?

—(रश्मिरथी, पंचम सर्ग, पृ० ८५)

साहित्यदर्पणकार पंडित विश्वनाथ के मतानुसार रसात्मक वाक्य का नाम ही 'काव्य' है । परन्तु यह रसात्मकता केवल विभावानुभावों और संचारियों से ही उत्पन्न नहीं होती अपितु पदविन्यास और छन्दों से भी फूटती है । काव्य के लिए 'रागतत्व' जितना आवश्यक है, उतना ही भाषा-सौन्दर्य के लिए 'छन्द' । कविता की भाषा छन्द पर आरूढ़ होकर जिस गति एवं आरोहावरोह से चलती है, उसका प्रभाव ही निराला होता है । रीति,[1] गुण, अलंकार आदि की भांति छन्द भी कविता की शरीर-यष्टि के लिए आवश्यक हैं । छन्द की लय कविता के माधुर्य में योग देती है । आचार्यों ने विशिष्ट रसों के लिए विशिष्ट छन्दों का विधान किया है । छन्दोमयी कविता का आनन्द दुहरा होता है । उसमें काव्यकला और संगीतकला दोनों ही एकरस होकर आत्मसात् हो जाती हैं । अतएव छन्दोमय काव्य अकेली कला नहीं अपितु ऐसी दुहरी कला है जिसमें शब्द-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य का रस मिला रहता है ।

कविवर दिनकर जी की पूर्व कालीन कृतियों में गीतों का प्राधान्य है । वास्तव में गीत कई छन्दों के समन्वयात्मक स्वरूप हैं । गीत की टेक में यदि कोई एक छन्द होता है तो उसके अन्तरे में किसी अन्य छन्द के लक्षण घटते हैं । इसलिए छन्दःशस्त्र के अनुसार गीतों में छन्दों का विश्लेषण करना हम यहाँ उचित नहींसमझते । हाँ, 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' आदि प्रबन्ध-काव्यों के छन्दों का विवरण देना ही अधिक उचित एवं उपयुक्त रहेगा । साथ में गीतेतर मुक्त कविताओं के छन्दोविधान पर भी हम प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

सफल कवि की लेखनी शब्दों और छन्दों पर पूरा अधिकार रखती है । शब्द उसकी नोक पर थिरकते हैं और छन्द उसकी गति पर ताल देते हैं । कवि की भावधारा और प्रसंग-वर्णन के परिवेश में प्रयुक्त शब्द भी अपना विशिष्ट अर्थ देने लगते हैं । निम्नांकित छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में आये हुए अंगार और श्रृंगार' शब्दों के अर्थ-

---

१—पद-संघटना रीति :—(विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)
वचनविन्यासक्रमो रीतिः (राजशेखर)
विशिष्टपद रचना रीतिः विशेषोगुणात्मा—(बामन)

क्षितिज का विस्तार द्रष्टव्य है। बलिदान, उल्लास और राष्ट्र-प्रेम की भाव-धारा जिस गति के साथ निम्नांकित दिग्पाल छन्द में वही है, उसमें कवि के छन्दो-ज्ञान का अद्भुत परिचय निहित है। बारह-बारह मात्राओं की यति वाले इस चौबीस मात्राओं के छन्द-रूपी रथ पर चढ़कर कवि की शब्दावली जिस गति में चरणन्यास करती है, उसी गति में राष्ट्र-प्रेम से परिपूर्ण बलिदान का वेगवान् आह्वान भी सुनाई पड़ता है—

४ ३ ५ ४ ३ ५
धुंधली हुई दिशाएँ छाने लगा कुहासा।
४ ३ ५ ४ ३ ५
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुआँ-सा ॥
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है ?
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है ?
दाता पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे।
बुझती हुई शिखा को, संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित, अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का, शृंगार मांगता हूँ॥—दिग्पाल छंद[1]
—(सामधेनी, आग की भीख, पृ० ५६)

'रसवन्ती', 'सामधेनी', 'इतिहास के आँसू', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' काव्य पर एक दृष्टि डालने से विदित होता है कि कवि को 'सार' नामक मात्रिक छन्द अधिक प्रिय है। आचार्यों ने बताया है कि सार छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं किन्तु चरणान्त में दो गुरु होते है। उदाहरण कवि के शब्दों में ही देखिए:

४ ३ ३ ४ ४ ४ ऽ ४ ऽ
पीला चीर कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली।
३ ३ २ ३ ३ २ ४ ८ऽऽ॥ —सार छन्द[2]
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलोंवाली
—(रसवन्ती, बालिका से बधू, पृ० १५)

२ ४ ५ ३ २ ३ ३ २ऽ२ ऽ२
ओ अशेष। निःशेष बीन का एक तार था मैं ही।
४ २ ५ ३ २ ३ ३ २ २ २
स्वभू की सम्मिलित गिरा का एक द्वारा था मैं ही।—सार छन्द
—(सामधेनी, गीत तृतीय, पृ० ७)

---

१. उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल की निम्नाँकित कविता 'दिग्पाल' छंद में गाई जा सकती है—

सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें है इसकी, यह गुलिस्ताँ हमारा॥

२. कुछ छन्दः-शास्त्री इसे 'ललितपद' नाम भी देते हैं।

२ ४ २ ३ ५ २ १०
ओ भारत की भूमि वन्दिनी। ओ जंजीरोंवाली।
तेरी ही क्या कुक्षि फाड़कर जन्मी थी वैशाली ?
वैशाली। इतिहास-पृष्ठ पर अंकन अंगारों का।
वैशाली। अतीत गहवर में गुंजन तलवारों का। —सार छंद
—(इतिहास के आँसू, वैशाली, पृ०४५)

६ २ २ २ २ २ ३ ३ ३ ऽ४ऽ
ब्रह्मचर्य के प्राण के दिन जो रूद्ध हुई थी धारा।
कुरुक्षेत्र में फूट उसी ने बनकर प्रेम पुकारा।।
बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला।
पत्तों की झूरमुट[1] में छिपकर विहग न कोई बोला।।
चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का मान न मैं कर पाया।
एक बार भी अपने को था दान न मैं कर पाया।। ''—सार छन्द
—(कुरुक्षेत्र, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५९,६०)

४ २ ५ ७ २ ४ ऽ४ऽ
दीनों का संतोष भाग्यहीनों की गद्‌गद् वाणी।
नयनकोर में भरा लबालब कृतज्ञता का पानी।।
हो जाना फिर हरा युगों से मुरझाये अधरों का।
पाना आशीर्वचन प्रेम विश्वास अनेक नरों का।। —सार छन्द
—(रश्मिरथी, चतुर्थ सर्ग, पृ० ५८)

उपर्युक्त स्थलों में सार छन्द को देखकर यह कहना पड़ता है कि कविवर दिनकरजी का विश्वास है कि श्रृंगार, करुण आदि कोमल रसों की कविताओं के लिए 'सार' छन्द अधिक उपयुक्त है। यह मात्रिक छन्द इन रसों की उद्‌बुद्धि में सहायक सिद्ध होता है। व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों ने ऐसे कोमल रसों के लिए 'सवैया' नामक छन्द को अधिक उपयुक्त समझा था। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल की कविताएँ प्रायः 'सवैया' छन्द में लिखी हुई मिलती हैं। इन बातों से हमें मानना पड़ेगा कि छन्द और रसोद्रेक का भी अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध हुआ करता है।

दिनकरजी ने 'रेणुका' में कई प्रकार के मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। उनमें पद्धति, ताटंक, सरसी, श्रृंगार, लावनी और वीर छन्द अधिक आकर्षक और प्रसिद्ध हैं।

५ ३ ४ ४
साकार दिव्य गौरव विराट,

---

१. यह शब्द वास्तव में पुंलिंग है, कवि ने स्त्रीलिंग में लिखा है।

४ २ ७ ३
पौरुष के पुँजीभूत ज्वाल।
मेरी जननी के हिम-किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल। पद्धरि छन्द
—(रेणुका, हिमालय के प्रति, पृ० ४)
... ...

तीस मात्राओं का एक छन्द 'ताटंक' कहलाता है। इसके चरणांत में मगण (ऽऽऽ) होता है यदि मगण का बन्धन समाप्त कर दिया जाए तो यही लावनी[1] या 'ख्याल' कहलाने लगता है ताटंक और लावनी के उदाहरण—

३ ३ ४ ४ २ ३ ३ ६ ऽऽऽ २
चलो जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं।
मलयानिल भूलता, भूलकर जिधर नहीं अलि आते हैं॥
—('कविता की पुकार' में ताटंक छन्द)
... ...

३ ३ २ ६ २ ३ ३ २ ६
पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली।
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली।
—('कविता की पुकार' में लावनी[2] छन्द)
... ...

सरसी छन्द में २७ मात्राएँ होती हैं और अन्त में । (गुरु-लघु) का होना आवश्यक है—

३ ३ २ ६ २ ३ ५ ३
लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती गान।
भुवन स्वर्ग बन रहा उड़े जाते ऊपर को प्राण।।
—('कविता की पुकार, सरसी छन्द')
... ...

चरणान्त में गुरु-लघु वाला सोलह-मात्राओं का एक मात्रिक छन्द 'शृंगार' कहलाता है जिसका 'रेणुका' में प्रयोग है—

५ २ २ ३ ४
पुजारिन की बन कंठ-हिलोर।

---

१. कथावाचक पं० राधेश्याम की रामायण प्रायः 'ताटंक' और लावनी छन्दों में है।

२. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'पंचवटी' खण्डकाव्य का छन्द भी लावनी ही है, कहीं-कहीं 'ताटंक' के भी दर्शन होते हैं ?

३ ४ २ २ २ ३

भिगो दूँगी अग-जग का छोर ।।

—('कविता की पुकार, शृंगार छन्द')

कवि उस जगन्नियन्ता सृष्टिकर्ता की तो सृष्टि है ही, किन्तु साहित्य का वह स्रष्टा भी है। कवि नई कविता के साथ-साथ नये छन्दों की भी सर्जना करता है। प्रसादजी ने अपने 'आँसू' नामक काव्य में जिस १४ मात्रा वाले छन्द की सर्जना की है, उसका नाम ही 'आँसू' पड़ गया है। प्रसाद के 'आँसू' का आँसू छन्द—

२ ६ ४ २

जो घनीभूत पीड़ा थी,

४ २ ४ ४

मस्तक में स्मृति-सी छाई।

दुर्दिन में आँसू बनकर,

वह आज बरसने आई।

छन्दशास्त्र में पहले-से एक 'सखी' नामक छन्द प्रचलित था जिसमें १४ मात्राओं के साथ चरणान्त में मगण (SSS) अथवा भगण (SII) होता था। प्रसाद जी ने उसमें स्वच्छन्दता ग्रहण की और अन्तिम मगण या यगण का बन्धन समाप्त करके आँसू काव्य में एक नये छन्द की सृष्टि की। तब छन्द-शास्त्रियों ने उसका नाम 'आँसू' ही रख दिया। 'रेणुका' में 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता के छन्द को यदि हम 'दिनकर' छन्द कह दें तो असंगत न होगा, क्योंकि सोलह मात्रा वाले इस छन्द का प्रयोग कवि ने अपने काव्य-ग्रन्थों में बहुत जगह किया है—

३ ५ ३ ३ २

देख कलेजा फाड़ कृषक दे—

३ ३ ४ २ ४

रहे हृदय-शोणित की धारें।

बनती ही उन पर जाती हैं,

वैभव की ऊँची दीवारें ।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठकों को ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि दिनकरजी ने अपनी कविताएँ मात्रिक छन्दों में ही लिखी हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। 'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय सर्ग में वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग है। 'मनहर' या कवित्त' नामक अक्षरात्मक छन्द में ३१ अक्षर होते हैं और यति १६ और १५ अक्षरों पर होती है। महाभारत के उपरान्त युधिष्ठिर के मन की दशा कवि ने कविता (धनाक्षरी) छन्द में इस प्रकार वर्णित की है—

३ २ १ ४ ५ १

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का

२ २ २ २ ४ १ ३

तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता।

तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को,
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता।।
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुफरता।
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।। कवित्त

—(कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग, पृ० १०)

'कुरुक्षेत्र' के तृतीय, चतुर्थ और सप्तम सर्गों में २८ मात्राओं वाले 'ललितपद' का और पंचम सर्ग में २२ मात्राओं वाले राधिका छन्द का प्रयोग हुआ है—

३ ३ २ ६ २
समर निंद्य है धर्मराज पर,
३ ३ २ २ २
कहो शान्ति वह क्या है ?
जो अनीति पर स्थिर होकर भी,
बनी हुई सदला है।—ललितपद छन्द

—(कुरुक्षेत्र, तृतीय सर्ग, पृ० २१)

... ...

५ ३ ५ ३ २ २ २
शारदे। विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं,
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर मैं,
संतप्त विश्व के लिए खोजते छाया।
आशा में था इतिहास-लोक तक आया।।—राधिका छन्द

—(कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग, पृ० ६७)

'रश्मिरथी' के प्रथम सर्ग में 'ललित पद', द्वितीय में बावनी, तृतीय में पद्धरि, चतुर्थ में सार और ललितपद, पंचम में राधिका, और सप्तम में सुमेरु नामक छन्द है—

ıऽ ıऽ ऽ
इसी के त्रास में अन्तर पगा था।
ıऽ ıऽ ऽ
हमें वनवास में भी भय लगा था।।
ıऽ ıऽ ऽ
कभी निश्चिन्त में क्या हो सका था ?
ı ऽ ıऽ ऽ
न तेरह वर्ष सुख से सो सका था।।—सुमेरू छन्द

—(रश्मिरथी, सप्तम सर्ग, पृ० १८३)

सुमेरू छन्द में १६ मात्राएँ होती हैं और १०-९ पर यति में वर्ण लघु होता है

और चरणान्त में यगण (।ऽऽ)। उक्त उद्धरण में पूर्णतया सुमेरू छन्द का निर्वाह हुआ है।

अन्त में दिनकरजी के सम्पूर्ण कार्यों पर दृष्टि डालने के उपरान्त यह स्वीकार करना पड़ता है कि भाषालालित्य के साथ-साथ विविध छन्दों की राग-माधुरी उनकी कविताओं में पूरी तरह मिलती है। उनकी व्यंजनामयी सरल सरस वाणी में राष्ट्र का स्वर गूँजता है। उनके भाव, भाषा और छन्दों में स्वदेश की मिट्टी की वह गन्ध मिलती है जो सच्चे प्रगतिवाद को नव चेतना प्रदान करती है।

दिनकर की प्रमुख प्रबन्ध कृतियाँ : कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र के विचार स्रोत

कान्तिमोहन शर्मा

'कुरुक्षेत्र' में वर्णित युद्ध, समाज, विज्ञान, नीति आदि विषयक विचारों पर सबसे अधिक प्रभाव रसेल का पड़ा है। कवि ने स्वयं ही मुझे रसेल का साहित्य पढ़ने का संकेत दिया था, और बतलाया था कि 'कुरुक्षेत्र' के रचनाकाल में उन्होंने रसेल का विशेष अध्ययन किया था, तथा रसेल ने उन्हें बहुत प्रभावित भी किया था। बर्ट्रेण्ड रसेल बीसवीं शताब्दी के उन निर्भीक एवं स्वतन्त्र प्रकृति के दार्शनिकों में हैं जो संकीर्णता के चक्र में पड़कर उपयोगी तथा अनुपयोगी का भेद विस्मृत नहीं कर देते—अर्थात् बुद्धि-शून्य होकर अनुपयोगी वस्तुओं का समर्थन और उपयोगी वस्तुओं का तिरस्कार नहीं करते। वे गतानुगतिकता के प्रबल विरोधी हैं तथा संसार की समस्त समस्याओं के निराकरण की आशा रखते हैं। रसेल ने आज की बढ़ती हुई अन्ध विज्ञान-भक्ति पर कटु प्रहार किए हैं, और सम्यक् उन्नति के लिए सम्यक् सन्तुलन की अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनमें एक समर्थ उदारचेता दार्शनिक के गुण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यहाँ देखना यह है कि पश्चिम के इस मूर्धन्य-कोटि के दार्शनिक ने 'कुरुक्षेत्र' के कवि की विचारधारा को किस प्रकार प्रभावित किया है।

रसेल का प्रभाव

रसेल के अनुसार विज्ञान स्वयं में निरपेक्ष है—न अच्छा न बुरा, टेक्नीक के प्रयोग के आधार पर ही हम उसे अच्छा या बुरा कह सकते हैं।[1] शिवत्व की भावना से प्रेरित होने पर वह बड़े-से-बड़ा निर्माण कर सकता है और अमंगल की भावना से प्रेरित होकर बड़े-से-बड़ा विनाश भी।[2] 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में कवि इस विचार को स्वीकार करता है—

> **यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन**
> **हो, किया करता अनकों क्रूर, कर्म मलीन**

---

१. अथारिटी एण्ड इण्डिविजुअल, पृ० ५५

२. वही, पृ० ८४

देह ही लड़ती नहीं है जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान।
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते, शुभ धर्म अपना भूल।[1]

विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने बाह्य प्रकृति पर तो विजय प्राप्त कर ली है, किन्तु वह अपनी आन्तरिक प्रकृति को वश में नहीं कर सका है। वह अब भी विकृत-स्वभाव है, और बुद्धिमान होता हुआ भी पाशविक कार्यों में लिप्त रहता है।[2] उसकी बर्बर प्रवृत्तियाँ अब भी युद्ध तथा हिंसा आदि कृत्यों के माध्यम से प्रकट होती रहती हैं। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने आज की वैज्ञानिक प्रगति के अत्यन्त भव्य एवं चमत्कारपूर्ण चित्र खींचे हैं।[3] किन्तु कवि ने इस सत्य को भी विस्मृत नहीं किया है कि विज्ञान में निष्णात होने पर भी यह मानव अपने स्वभाव का परिष्कार नहीं कर सका है, और इस दृष्टि से यह अपने पूर्वजों से आगे नहीं बढ़ सका है।[4] कवि ने विज्ञान में निष्णात इस मानव

---

१. कुरुक्षेत्र, पृ०, ९३

२. अथारिटी एण्ड इण्डिविजुअल, पृ० १२२-१२५

३. (क) आज की दुनियाँ विचित्र, नवीन,
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन।
है बंधे नर के करों में वारि, विद्युत, भू,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप।
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लांघ सकता नर, सरित, गिरि, सिन्धु एक समान। कुरुक्षेत्र, पृ० ८८

(ख) यह प्रगति निस्सीम। नर का यह अपूर्व विकास।
चरण तल भूगोल, मुट्ठी में निखिल आकाश। कुरुक्षेत्र, पृ० ८९

४. (क) दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान,
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही, फुंकार भरता नाग। कुरुक्षेत्र, पृ० ८७-८८

(ख) पर, सको सुन तो सुनो, मंगल जगत् के लोग।
तुम्हें छूने का रहा जो जीवन कर उद्योग—
वह अभी पशु है, निरा पशु, हिंस्र, रक्त-पिपासु
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु।
कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
फूंकने लगते सभी, हो मत्त, मृत्यु-विषाण। कुरुक्षेत्र, पृ० ९२

की अत्यन्त कठोर भर्त्सना का है, इसे शृंगालों एवं कुक्कुरों से भी हीन बतलाया है। केवल मानव का शरीर एवं नाम धारण कर लेने से ही कोई मानव नहीं हो जाता, बल्कि उसे मानवोचित उदात्त कार्यों का सम्पादन करना ही चाहिए, अन्यथा वह मानव कहलाने का अधिकारी नहीं बन सकता। कवि ने आज के तथा-कथित सभ्य, स्वार्थी एवं विज्ञान की सहायता द्वारा मानवीय संहार के आयोजन में निरत मानव की घोर निन्दा की है।[1]

रसेल का कथन है कि हम व्यर्थ के कामों में अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते हैं और जीवन को उदात्त बनाने वाले भावों की अवहेलना करते हैं। हमारा ज्ञान बढ़ रहा है किन्तु हृदय का स्रोत अहर्निश सूखता जा रहा है।[2] सहृदय कवि ने षष्ठ सर्ग में मानव के श्रेय का प्रश्न उठाकर इस सत्य का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। मानव का श्रेय विज्ञान की इस अन्धी दौड़ में आगे निकलना नहीं, बल्कि प्रेम, सेवा आदि उदात्त भावनाओं द्वारा मानव-मात्र से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है[3]। कवि आज के विकास को एकांगी मानता है, क्योंकि इस प्रगति में बुद्धि हृदय को पीछे छोड़कर दौड़ी है, साथ लेकर नहीं। बुद्धि के प्रबल पवमान में मानव तिनके के सदृश उड़ता फिर रहा है, क्योंकि उसके पास मन का सम्बल नहीं है।[4]

---

१. **यह मनुज, जो ज्ञान का आगार।**
यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार।
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य।
यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११५

२. We know too much and feel too litle. At least we feel too little of those creative emotions from which a good life springs. In regard to what is important we are passive, where we are active it as over trivialities.
—Authority and Individual, p. 61-62

३. (क) **रसवती भू के मनुज का श्रेय,**
यह नहीं विज्ञान, कटु आग्नेय—कुरुक्षेत्र, पृ० ११७

(ख) **श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत,**
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत,
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान,
और मानव भी वही।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११६

४. (क) **किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,**
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;

रसेल को इस बात की आशंका है कि विध्वंस का प्रमुख सहयोगी होने के कारण किसी दिन विज्ञान के विरुद्ध कोई आन्दोलन छिड़ सकता है।[1] 'कुरुक्षेत्र' का कवि उससे एक कदम आगे बढ़कर यह आन्दोलन छेड़ देता है और मनुष्य को विज्ञान का मोह त्यागने के लिए कहता है।[2]

रसेल का यह प्रभाव कवि के विज्ञान सम्बन्धी विचारों पर ही नहीं है, बल्कि व्यक्ति और सत्ता से सम्बद्ध विचारों पर भी उसका प्रभाव है। रसेल के अनुसार ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें कानून तोड़ना अपराध नहीं कहा जा सकता। ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब क्रान्ति का औचित्य सिद्ध होता हो, और ऐसी परिस्थिति में अराजकता के भय से क्रान्ति का विरोध करना अथवा कानूनों का संरक्षण करना शोभनीय नहीं है[3]। 'कुरुक्षेत्र' का कवि रसेल से सहमत है। जहाँ अन्याय होता है, वहाँ

नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११०

(ख) बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ। —कुरुक्षेत्र, पृ० १११

१. It would not be surprising if, in the present day, a powerful anti-scientific movement were to arise as a result of the dangers to human life that are resulting from atom bomb and may result from bacteriological warfare.

—Authority and Individual, p. 54

२. सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक, तजकर मोह, स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान;
फूल-कांटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११७

३. (a) I do not deny that there are situations in which law-breaking becomes a duty. It is a duty when a man profoundly believes that it would be sin to obey.

—Authority and Individual, p. 107

(b) I think it must also be admitted that there are cases in which revolutions are justifiable. There are cases where the legal government is so bad that it is worthwhile to overthrow it by force in spite of the risk of anarchy that is involved.

—Authority and Individual, p. 119

यदि मानव अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो इसका दायित्व उनपर नहीं होता[1]। वह क्रान्ति भी अभिनन्दनीय होगी[2]।

रसेल बार-बार वैयक्तिक उत्प्रेरणा पर बल देता है। उसका तर्क यह है कि इससे योग्य व्यक्ति को अपनी गति-विधि के लिए योग्य स्थान प्राप्त कर लेने में सहायता मिलेगी[3]। एक सुन्दर संसार का निर्माण मनुष्य को भीरू और पालतू बनाकर नहीं किया जा सकता, बल्कि उसे सभी क्षेत्रों में वैयक्तिक उत्प्रेरणा की स्वतन्त्रता देकर ही संसार को सुन्दर बनाया जा सकता है[4] 'कुरुक्षेत्र' का कवि भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का

---

१. सहते-सहते अनय जहाँ मर रहा मनुज का मन हो,
समझ कापुरुष अपने को धिक्कार रहा जन-जन हो; —कुरुक्षेत्र, पृ० २८

... ...

दबे हुए आवेग वहाँ यदि,
उबल किसी दिन फूटें,
संयम छोड़, काल बन मानव,
अन्यायी पर टूटें,
कहो कौन दायी होगा,
उस दारुण जगद्दहन का ?
अहंकार या घृणा कौन
दोषी होगा उस रण का।—कुरुक्षेत्र, पृ० २९-३०

२. पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग,
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रांति है,
शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शांति,
युद्ध है, यथार्थ में वा भीषण अशांति है,
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है,
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रांति है,
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का,
ऐसा शृंखला में धर्म विप्लव है, क्राँति है।—कुरुक्षेत्र, पृ० ४०-४१

3. Freedom of enterprize, in the old laissez-faire sense, is no longer to be advocated, but it is of the utmost importance that there should still be freedom of initiative, and that able men should find scope for their activity.
—Authority and Individual, P. 124

4. But if this posibility (human will-being) is to be realised, htere must be freedom of initiative in all ways not positively harmful, and encouragement of those forms of initiative that enrich the life of man. We shall not create a good world by trying to make men tame and timid; but by encourging them

हामी है। सभी मनुष्य अपना चरम विकास चाहते हैं[1], प्राकृत-युग में यह सम्भव था भी किन्तु राजतंत्र ने इस उत्प्रेरणा का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। राजतंत्र के खण्डन का एक प्रमुख आधार यह भी है कि राजतंत्र के अधिक हस्तक्षेप से व्यक्ति का सहज विकास बाधित होता है[2]। रसेल के अनुसार आदिम-युग के वन्य और बर्बर मनुष्य को बाँधने वाले नियम इतनी प्रचुर मात्रा में नहीं थे, जितने अधिक प्रतिबंधों की आवश्यकता आज के सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव को नियंत्रित करने में पड़ती है। आदिम-मानव की अपेक्षा आज के मानव का जीवन कहीं अधिक कर्मसंकुल तथा नियंत्रित है[3]। उसका जीवन इतना अधिक नियमित है कि कल की चिंता उसकी कमर तोड़े डाल रही है[4]। दिनकर भी राज्य के इस अनावश्यक हस्तक्षेप के विरोधी हैं। 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित प्राकृत-युग के प्रतिबंधहीन जीवन को पढ़कर आज का नियमबद्ध मानव ईर्ष्या कर सकता है। प्राकृत-युग में मानव अपने चरम विकास को प्राप्त कर सकता था, किन्तु आज यह

---

to be bold and adventurous and fearless except in inflicting injuries upon their fellow-men.

—Authority and Individual, p. 124

१. उद्भिज-निभ चाहते सभी नर
बढ़ना मुक्त गगन में,
अपना चरम विकास ढूंढना
किसी प्रकार भुवन में।—कुरुक्षेत्र, पृ० १२७

२. आया था यह प्रगति रोकने को केवल दुर्गुण की,
नहीं बाँधने को सीमा उन्मुक्त पुरुष के गुण की।
सो देखो, अब दिशा विचारों की भी निर्धारित है,
राज-नियम से परे कर्म क्या चिन्तन भी वारित है।
कृष्ण हों कि हों विदुर, नियोजित सब पर एक नियम है,
सबके मन, वच और कर्म पर अनुशासन का क्रम है।
इनकी भी यदि क्रिया रही अनुकूल नहीं सत्ता के,
तो ये भी तृणवत् नगण्य हैं सम्मुख राज्य-प्रथा के।—कुरुक्षेत्र, पृ० १४५

३. The savage, in spite of his membership of a small community, lived a life in which his initiative was not too much hampered by the community...the modern man lives a very different life.

—Authority and Individual, p. 60

४. And always, in our highly regularized life, he is obsessed by thoughts of the morrow.

Ibid, p. 61

सम्भव नहीं है[1]।

रसेल व्यक्ति के लिए नैतिकता के दोनों रूपों (वैयक्तिक एवं नागरिक) की समान महत्ता स्वीकार करता है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है, तथा दोनों के समुचित सामंजस्य के बिना जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता[2]। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के मुख से धर्म का जो नवीन रहस्य उद्घाटित करवाया है, वह वैयक्तिक नीति के समक्ष नागरिक-नीति की अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयत्न ही है[3]। तप, करुणा, क्षमा, विनय और त्याग आदि वृत्तियों का जीवन में निर्विवाद महत्व एवं मूल्य है, क्योंकि व्यक्ति की नैतिकता के ये अनिवार्य अंग हैं। किन्तु जीवन में ऐसी परिस्थितियों का भी अभाव नहीं, जब समुदाय के रक्षार्थ (लोक-दृष्टि) से हमें इन गुणों की अवहेलना करनी पड़ सकती है[4]। भीष्म का उद्देश्य धर्म के इस नवीन रहस्योद्घाटन द्वारा हिंसा का समर्थन करना नहीं[5] बल्कि नागरिकता की दृष्टि से नीति का प्रतिपादन करते हुए उस युधिष्ठिर का समाधान करना है, जो अपने को वैयक्तिक नीति से पतित जानकर अपने अस्तित्व को ही निरर्थक मान बैठा है। उनका उद्देश्य व्यक्तिगत और नागरिक

---

१. (क) ऋजु था जीवन-पंथ, चतुर्दिक, थीं उन्मुक्त दिशाएँ।
पग-पग पर थीं अड़ी राज्य-नियमों की नहीं शिलाएँ।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १३८

(ख) ग्रीवा पर दुःशील तंत्र की शिला भयानक धारे,
घूम रहा है मनुज जगत् में अपना रूप बिसारे।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १४६

२. Without civic morality communities perish, without personal morality their survival has no value.
—Authority and Individual, p. 111

३. व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।—कुरुक्षेत्र, पृ० २२

४. जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही,
किन्तु, उसके पास ही समुदायगत जो भाव हैं,
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था!—कुरुक्षेत्र, पृ० २२-२३

५. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने दिनकर के इस सिद्धान्त को युद्ध के लिए निर्मित एक भूमि माना है। 'देखिए' आधुनिक साहित्य, पृ० ८४
युद्ध के लिए ये तीन भूमियाँ तैयार करने के पश्चात् कवि सहसा सामाजिक न्याय और अन्याय की समस्या को उठाता है और सत्ताधारियों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने की उत्तेजना देता है।
--आधुनिक साहित्य, पृ० ८५

(समुदायिक) नीति इन दोनों के सम्यक् सामंजस्य की ग्रावश्यकीयता को सिद्ध करना ही है। क्योंकि, इनमें से कोई एक जीवन में वांछित पूर्णता लाने में समर्थ नहीं है।

रसेल के मनोविज्ञान सम्बन्धी विचारों का प्रभाव भी 'कुरुक्षेत्र' पर लक्षित होता है। रसेल मानता है कि मानव में चिरकाल से चली ग्राती हुई पाशविक वृत्तियों के शमन के बिना न तो विश्व में एकता ही ग्रा सकती है, ग्रौर न युद्ध का ही निराकरण किया जा सकता है। मनुष्य के सामने इन जंगली ग्रौर खूंखार वृत्तियों के निष्कासन का सुन्दर एवं उपयोगी मार्ग खोज निकालना सबसे बड़ा काम है, ग्रन्यथा ये वृत्तियाँ युद्ध ग्रौर हिंसा में परिणत होकर प्रलय मचाती ही रहेंगी। ग्रतः युद्ध को रोकने के लिए इन वृत्तियों की ग्रभिव्यक्ति के निर्दोष मार्ग खोजने पड़ेंगे।[1] दिनकर भी युद्ध को प्राकृतिक विस्फोट मानते हैं, जो विकारों की शिखाग्रों के जलने के कारण होता है। जब तक विरोधी स्वार्थों का संघर्ष नहीं मिट जाता तब तक युद्ध ग्रनिवार्य है[2]। युद्ध की समाप्ति तथा शान्ति की स्थापना के लिए इन वृत्तियों का परिष्कार करना ग्रावश्यक है।[3]

रसेल युद्ध को ग्रनावश्यक मानता है। वह उन लोगों से सहमत नहीं है जो कहते हैं कि युद्ध तथा ग्रन्य विनाशात्मक कृत्य हमारी बर्बर वृत्तियों के दुर्निवार कार्य हैं। वह इसके लिए उपाय भी बतलाता है—इनके निष्कासन के लिए निर्दोष मार्गों का ग्रन्वेषण। वह इनके परिष्कार एवं उन्नयन में विश्वास रखता है ग्रौर ग्रपने परिष्कृत रूप में यह वृत्तियाँ विनाशकारी नहीं, ग्रपितु सृजनात्मक एवं ग्रभिनन्दनीय ही होंगी[4]।

---

१. (a) If the unification of mankind is ever to be realized, it will be necessary to find the ways of circumventing our largely unconscious primitive ferocity, partly by establishing a reigon of law, and partly by finding innocent outlets for our competitive instincts.

—Authority and Individual, p. 20

(b) Anyone who hopes that in time it may be possible to abolish war should give serious thought to the problem of satisfying harmlessly the instincts that we inherit from long generations of savages.

—Authority and Individual, p. 12

२. **युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ,**
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की, युद्ध तब तक विश्व में ग्रनिवार्य है।

—कुरुक्षेत्र, पृ० २१

३. **गरल-द्रोह-विस्फोट हेतु का करके सफल निवारण,**
मनुज-प्रकृति ही करती शीतल रूप शांति का धारण।—कुरुक्षेत्र, पृ० ४४

४. All this (war and other destructive activities) is unnecessary; there is nothing in human nature that makes these evils inevitable. I wish to repeat, with all possible emphasis, that

दिनकर भी युद्ध को अनिवार्य नहीं मानते। यह तभी तक अनिवार्य है जब तक मनुष्य की प्रवृत्ति सुधर नहीं जाती। इसी कारण वे शान्ति के बाह्य प्रयत्नों की ओर श्रद्धावान् नहीं अपितु, मानव के अन्तर में परिवर्तन चाहते हैं, तभी युद्ध समाप्त होगा और सच्ची शान्ति अवतीर्ण हो सकेगी[1]। वे मनुष्य के इतिहास से युद्ध नाम के क्रूर अध्याय का निष्कासन आवश्यक समझते हैं और इसे सम्भव भी मानते हैं। कुरुक्षेत्र का अन्तिम सन्देश युधिष्ठिर को युद्ध की विकटता से भयभीत न होने का ही है, क्योंकि मानव प्रेम एक महान् वस्तु है और उस के द्वारा युद्ध का निष्कासन किया जा सकता है।[2]

'प्रगतिवाद विश्व के लिए नूतन आशाएँ' (New Hopes for a Changing World) नामक पुस्तक में रसेल ने मानवीय जीवन में संघर्ष के तीन रूप माने हैं—

१. मनुष्य और प्रकृति (Man and Nature)
२. मनुष्य और मनुष्य (Man and Man)
३. मनुष्य और अन्तःकरण (Man and Himself)

प्रत्येक युद्ध का अन्त समन्वय में होना चाहिए। प्रथम रूप लगभग समाप्त हो गया है और दूसरे रूप को समाप्त करने के प्रयत्न हो रहे हैं। राजनीतिक और आर्थिक एकता में यह समाप्त किया जा सकता है, किन्तु तीसरे रूप के संघर्ष की समाप्ति के

I disagree completely with those who infer from our combative impulses that human nature demands war and other destructive forms of conflict. I firmly believe the very opposite of this; I maintain that combative impulses have an essential part to play, and in their harmful forms can be enormously lessened.

—Authority and Individual, P. 124

१. समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।
... ...
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जबकि होगी, सत्य ही, वसुधा सुधा से युक्त।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११८-११९

२. आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
हार से, मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से,
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।--कुरुक्षेत्र, पृ० १८१

पूर्व यह एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। अतः एक बात जो सर्वाधिक स्पष्ट है, वह यह कि मनुष्य जब तक स्वयं अपने में एकता स्थापित नहीं करता, संसार का संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। अतः मुख्यतः हमें ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिए जिसमें मनुष्य अपनी स्वभावगत वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सके, क्योंकि उसके बिना मानव-मानव का संघर्ष कम नहीं हो सकता, और यदि इस सामंजस्य को प्राप्त किए बिना राजनीतिक एवं आर्थिक एकता की स्थापना की भी गई तो वह चिरस्थायी नहीं हो सकती[1]। दिनकर पर रसेल की उपर्युक्त विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। उसने बार-बार शान्ति की स्थापना के लिए आभ्यंतर प्रयत्नों की विशेष आवश्यकता बतलाई है। कवि मार्क्सवाद की अपेक्षा भारतीय आत्मवाद में अधिक विश्वास रखता है, फलतः उसकी 'समता' रूस से मंगवाई गई समता न होकर भारतीय आत्मवाद की अखंडता की राजनीतिक परिणति मात्र है (हाँ, अर्थ-साम्य की बात करते समय कवि पर मार्क्सवाद का प्रभाव मानना पड़ेगा)। अनेकता में एकता तथा खंडता में अखंडता का संधान ही मानवीय एकता को लक्षित करना है, जिसके लिए बाह्य प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं। यह अपने स्वभाव को निर्मल बनाकर तथा अपने 'स्व' का संस्कार-परिष्कार करने के अनंतर ही सम्भव है। सप्तम सर्ग में भीष्म ने इस अखंडता पर ही बल दिया है जो रसेल की शब्दावली में मनुष्य और उसकी वृत्तियों का सामरस्य ही है[2]। षष्ठ सर्ग में कवि ने स्वभाव के परिष्कार को मानव-जीवन का श्रेय माना है[3]। भीष्म उस दिन के स्वप्न देखते हैं जब मानव-प्रकृति दोषों से सर्वथा

---

१. New Hopes for a Changing World, P. 19-20

२. वल्कल-मुकुट, परे दोनों के, छिपा एक जो नर है,
अन्तर्वासी एक पुरुष जो पिण्डों से ऊपर है।
जिस दिन देख उसे पायेगा मनुज ज्ञान के बल से,
रह न जायेगी उलझ दृष्टि जब मुकुट और वल्कल से।
उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित मानव की महाविजय का।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १७८

३. श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत् में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।
यजन, अर्पण, आत्मसुख का त्याग,
श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत,
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।—कुरुक्षेत्र, पृ० ११७-११८

मुक्त हो जाएगी और भू स्वर्ग बन जाएगी ।[1] सप्तम सर्ग में भीष्म इस बात से आश्वस्त हैं कि अभी इस विश्व में सद्वृत्तियों का अभाव नहीं है ।[2] कवि शस्त्र द्वारा स्थापित की गई शान्ति का प्रबल विरोधी है और उसी शान्ति का प्रशंसक है जो मनुष्य के अन्तःकरण में जन्म लेती है, क्योंकि शस्त्र द्वारा स्थापित शान्ति स्वल्प-स्थायी तथा अन्तःकरण में उत्पन्न शान्ति चिरस्थायी होती है।[3]

सारांश यह, कि कवि इस बात पर बल देता है कि जब तक मनुष्य की प्रकृति विकृति-मुक्त नहीं हो जाती, तब तक सच्ची शान्ति स्थापित नहीं हो सकती । रसेल भी संघर्ष के तीसरे रूप (मानव और उसका अन्तःकरण) के विनाश पर बल देकर यही सिद्ध करना चाहता है ।

रसेल मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग के अस्तित्व को एक ऐसा अनिवार्य तत्व मानता है जिसके बिना मानवीय प्रसन्नता सम्भव नहीं । हमारी प्रसन्नता अन्य मनुष्यों के ऐक्य पर निर्भर है ।[4] 'कुरुक्षेत्र' का कवि भी मानवीय एकता का प्रबल पक्षपाती है । वह वर्तमान सभ्यता का कटु आलोचक है, क्योंकि यह ऐक्य-विधायिका नहीं है । भीष्म के स्वप्नों में रसेल का मानव-जाति का पारस्परिक सहयोग ही बोल रहा है । कवि निवृत्ति

---

१. पृथ्वी हो साम्राज्य स्नेह का जीवन स्निग्ध, सरल हो,
मनुज-प्रकृति से विदा सदा को दाहक द्वेष गरल हो ।—कुरुक्षेत्र, पृ० ४२

२. लोभ, द्रोह, प्रतिशोध, वैर नरता के विघ्न अमित हैं,
तप, बलिदान, त्याग के संबल भी न किन्तु, परिमित हैं ।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १७९

३. (क) शिवा-शान्ति की मूर्ति नहीं बनती कुलाल के गृह में,
सदा जन्म लेती वह नर के मनःप्रांत निस्पृह में ।
(ख) जब होती अवतीर्ण शांति यह, भय न शेष रह जाता,
शंका-तिमिर-ग्रस्त फिर कोई नहीं देश रह जाता ।
—कुरुक्षेत्र, पृ० ४४-४५

४. I should do everything possible to liberate men from fear, not only conscious fears, but the old imprisoned primeval terrors that w brought with us out of the jungle. I should make it clear, not marely as an intellectual proposition, but as something that the heart spontaneously believes, that it is not by making others suffer that we shall achieve our own happiness, but that happiness and the means to happiness depend upon harmony with other men.
—New Hopes for a Changing World, p. 17

५. मैं भी हूँ सोचता जगत से
कैसे उठे जिघांसा,

की घोर भर्त्सना करता है, क्योंकि यह जीवन से उपराम कराती है। वह प्रवृत्ति-मार्ग का प्रतिपादन करता है। अन्तिम सर्ग में भीष्म ने युधिष्ठिर को समष्टि-कल्याण की भावना से प्रेरित किया है।[1] 'कुरुक्षेत्र' वास्तव में मानव-प्रेम का ही काव्य है, अतः रसेल के पारस्परिक सहयोगमय अस्तित्व के सिद्धांत से सहमत होना उसके रचयिता के लिए स्वाभाविक ही है। 'कुरुक्षेत्र' का अन्तिम संदेश मानव-प्रेम का प्रचार, एवं प्रसार ही है।

बर्ट्रेण्ड रसेल उद्योगवाद का विरोध करता है, क्योंकि विज्ञान के नवीन आविष्कारों से संयुक्त होने पर भी यह मानवीय-कल्याण का नियोजन नहीं कर सका। इसकी केवल एक देन है—तलवार।[2] दिनकर ने भी उद्योगवाद का विरोध किया है। पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि कवि ने विज्ञान के दुरुपयोग का निषेध किया है, क्योंकि विज्ञान स्वार्थ-भावना से संचालित है, कल्याण भावना से नहीं। उसने लोभ-प्रेरित व्यष्टि के समष्टि-निरोध की भर्त्सना की है।[3] उद्योगपतियों के ब्रह्मास्त्र भाग्यवाद का उसने तीव्र खंडन किया है। उद्योगवाद की विशेषता व्यक्तिगत पूंजी का भी विरोधी स्वर 'कुरुक्षेत्र'

किस प्रकार फैले पृथिवी पर
करुणा, प्रेम, अहिंसा।
जियें मनुज किस भांति परस्पर
होकर भाई-भाई,
कैसे रुके प्रवाह क्रोध का,
कैसे रुके लड़ाई।—कुरुक्षेत्र, पृ० ४१

१. (क) हरना होगा अश्रु-ताप
हृतबंधु अनेक नरों का,
लौटाना होगा सुहास
अगणित विषण्ण अधरों का।—कुरुक्षेत्र, पृ० १७५

(ख) पोंछो अश्रु, उठो द्रुत जाओ
वन में नहीं, भुवन में,
होओ खड़े असंख्य नरों की
आशा बन जीवन में।—कुरुक्षेत्र, पृ० १७४

२. And so industrialism which is technically capable of bringing peace to mankind, in fact brought not peace but a sword.
—New Hopes for a Changing World, p. 157

३. तज समष्टि को व्यष्टि चली थी निज को सुखी बनाने,
गिरी गहन दासत्व गर्त के बीच स्वयं अनजाने।—कुरुक्षेत्र, पृ० १४१

४. भाग्यवाद आवरण पाप का और शस्त्र शोषणका,
जिससे रखता दबा एक जन, भाग दूसरे जन का।—कुरुक्षेत्र, पृ० १३२

में उपलब्ध होता है। सप्तम सर्ग के निम्न बहुधा-उद्धृत पद में उद्योगवाद का ही विरोध किया गया है—

रण रोकना है तो उखाड़ विषदंत फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दांतों में कराल कालकूट-विष भर दो;
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।[1]

वर्ट्रेण्ड रसेल अत्यन्त आशावादी दार्शनिक है। विश्व की उलझनें विकट हैं, किन्तु उसका समाधान असम्भव नहीं। मानव का भविष्य उज्ज्वल है। हमें उदारचेता बनना चाहिए, ताकि हमारे दानवत्व को निकल भागने का अवसर मिल सके।[2]

आज के निराशापूर्ण युग में आशा की बड़ी आवश्यकता है।[3] सब त्रुटियों को भली प्रकार जान लेने पर भी मानव के भविष्य के विषय में निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं।[4] दिनकर ने भी यद्यपि तथाकथित प्रगतिशील एवं विज्ञान में निष्णात मानव की कड़ी आलोचना की है, किन्तु वह कहीं भी उसके भविष्य के विषय में शंकालु नहीं। कवि को पूर्ण विश्वास है कि मानव का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यह आश्वासन का प्रबल आधार है कि अनेक जघन्य कर्मों में लिप्त रहकर भी मानव ने अपनी उन्नतिप्रियता का ही परिचय दिया है। कवि को मानव के साधारण कार्य-कलापों से भी आशा मिलती

---

१. कुरुक्षेत्र, पृ० १२५-१२६

२. It is only necessary to open the doors of our heart and mind to let the imprisoned demons escape and the beauty of the world take their place.
—New Hopes for a Changing World, p. 17

३. This will engender a hopeful spirit, and a hopeful spirit is what is most needed if a way is to be found of dealing successfully with the larger problems.
—Authority and Individual, p. 120

४. And after the evils we have acknowledged, to hold out nevertheless, as resulting from our survey, certain high hopes for the not too distant future of mankind, which I, for my part, believe to be justified on a sober estimate of possibilities.
—Authority and Individual, P. 107

५. उठता-गिरता शिखर-गर्त दोनों से पूरित पथ पर,
कभी विरथ चलता मिट्टी पर, कभी पुण्य के रथ पर,
करता हुआ विकट रण तम से पापी पश्चात्तापी
किरण-देश की ओर चला जा रहा मनुष्य प्रतापी।—कुरुक्षेत्र, पृ० १२१

है। युधिष्ठिर (विजेता) की प्रायश्चित की भावना से भीष्म मानव के भविष्य के विषय में बड़े आश्वस्त हैं।[1] मिट्टी के जीवन की जो परिभाषा भीष्म ने दी है उसके प्रत्येक शब्द से कवि की मानव भविष्य के औज्ज्वल्य में गहन एवं अटूट आस्था लक्षित होती है।[2] सारांश यह कि 'कुरुक्षेत्र' में आशा का सूत्र आद्यान्त अनुस्यूत है और इस आशा पर रसेल जैसे आशावादी दार्शनिकों का निश्चित प्रभाव है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित विचारधारा पर रसेल का बड़ा प्रभाव है। दिनकर किसी संकीर्ण मतवाद से ग्रस्त नहीं अपितु उनका दृष्टिकोण मानवतावादी है जो मानवता की प्रगति के प्रत्येक सहायक सिद्धान्त का समर्थक है। कवि मानव का शुभाशंसी और मानव-जीवन के संघर्ष में सद्वृत्तियों की विजय का इच्छुक है।

'कुरुक्षेत्र' की विचार-भूमि पर रसेल का पर्याप्त प्रभाव निरुपित किया जा चुका, किन्तु इस प्रभाव के विषय में एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करना शेष रह जाता है। यह प्रभाव मानव के शुभचिन्तक रसेल का है, तार्किक रसेल का नहीं। रसेल ने जिस तार्किक आधिभौतिकतावाद का आश्रय लेकर गहन दार्शनिक सत्यों की अन्वेषणा की है उससे दिनकर की भाव-भूमि का मेल नहीं बैठता। रसेल जहाँ एक ओर प्रबल भावुक तथा पक्षपातपूर्ण व्यक्ति हैं वहीं एक निर्मम तथा शुद्ध तार्किक भी हैं।[3] दिनकर ने भावुक रसेल की चिन्ता को ही प्रधानतः स्वीकार किया है।

रसेल ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। वह अध्यात्म-शास्त्र में भी विश्वास नहीं करता, क्योंकि ईश्वर यदि है भी तो इन्द्रियों की पहुँच के परे है। अतः उसके स्वभाव आदि का निर्धारण करने वाले अध्यात्मशास्त्र सत्य कैसे हो सकते हैं? वस्तुतः वे न केवल असत्य हैं बल्कि अर्थहीन भी हैं, क्योंकि वे एक अगोचर तथा इन्द्रियातीत विश्व की बात करते हैं।[4]

---

१. यह क्रन्दन, यह अश्रु मनुज की आशा बहुत बड़ी है,
बतलाता है यह, मनुष्यता अब तक नहीं मरी है।—कुरुक्षेत्र, पृ० १८०

२. फूलों पर आँसू के मोती और अश्रु में आशा —
मिट्टी के जीवन की छोटी नपी-तुली परिभाषा।—कुरुक्षेत्र, पृ १८०

३. (a) In the first place Russel is a man full of violent emotions, but these are isolated from his philosophy, which he endeavours to keep in an entirely non-emotional logical compartment.

—Introduction to Philosophy : John Lewis p. 213

(b) Russel is pure logic; it is his strength and weakness.

—Ibid, p. 213

४. There is no meaning in theological or metaphysical statements because these are not made about the world which is experienced by the senses. There can be no meaning in statements about then ature of God, because His existence cannot be verified by the sense-experience.
—Encyclopaedia of Everyman, Vol. 10. 3rd Edition, p. 602.

दिनकर उपर्युक्त निष्कर्षों से सहमत नहीं। वे न अनीश्वरवादी है और न धर्म तथा अध्यात्म को व्यर्थ ही समझते हैं। अतः रसेल के तार्किक आधिभौतिकतावाद की संगति उनके विचारों से नहीं बैठती। वे रसेल के उन उदार विचारों से ही प्रभावित हुए हैं जो रसेल के मस्तिष्क से तर्क रूप में नहीं, अपितु हृदय से भाव रूप में उद्गीर्ण हुए हैं।

तिलक का प्रभाव

कुरुक्षेत्र को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला साधन 'श्रीमद्भागवद्गीता' का वह रहस्य है जो 'गीता-रहस्य' अथवा 'कर्मयोग-शास्त्र' नामक ग्रन्थ के यशस्वी रचयिता एवं अपने समय के सर्वप्रमुख राजनीतिज्ञ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने उद्घाटित किया है। 'गीता' और 'कुरुक्षेत्र' में एक विचित्र साम्य भी है। 'गीता' में अर्जुन को युद्ध में होने वाले स्वजन-संहार की कल्पना से मोह हुआ था, और वह मोह इतना प्रगाढ़ था कि स्वयं भगवान् कृष्ण को उसका निराकरण करने के लिए अठारह अध्यायों में वर्णित अपने उपदेश उन्हें देने पड़े थे। 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर का मोह भी बहुत कुछ अर्जुन जैसा ही है और भीष्म को कृष्ण का स्थानापन्न बनना पड़ा है। कवि इस साम्य से अवगत है।[2] अतः 'कुरुक्षेत्र' के रचयिता का श्रीमद्भगवद्गीता से प्रभावित होना स्वभाविक ही है। इस प्रभाव की विशेषता यह है कि यह प्रत्यक्ष न पड़ कर तिलक जैसे सशक्त विद्वान् के माध्यम से पड़ा है, जिस पर उनके राजनीतिक विचारों की भी स्पष्ट छाप लगी हुई है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि तिलक के प्रति दिनकर के मन में अगाध श्रद्धा विद्यमान है, तथा वे उनके कर्मयोग के सच्चे समर्थक एवं प्रशंसक हैं।[3]

---

१. दिनकर जी ने ही लेखक को तिलक का उपर्युक्त ग्रन्थ पढ़ने का निर्देश किया था। उन्होंने विनम्रतापूर्वक स्वीकार किया था कि तिलक की ही विचारधारा को पद्यबद्ध कर देने मात्र का श्रेय मुझे मिलना चाहिए। स्पष्ट ही, महात्मा तिलक के प्रति उनकी यह विनत श्रद्धांजलि थी, किन्तु फिर भी यह सच है कि उन पर तिलक की राजनीतिक विचारधारा एवं गीता की व्याख्या का अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा है, जो 'कुरुक्षेत्र' पर इतस्ततः ही नहीं अपितु आद्यन्त दृष्टिगत होता है।

२. यह (कुरुक्षेत्र की) कथा युद्धान्त की है। युद्ध के आरम्भ में स्वयं भगवान् ने अर्जुन से जो कुछ कहा था, उसका सारांश भी अन्याय के विरोध में तपस्या के प्रदर्शन का निवारण ही था।—कुरुक्षेत्र, निवेदन, पृ० १

३. यह कार्य (बौद्धों तथा शंकर द्वारा पहुँचाये गए निवृत्ति के विष का निराकरण) विवेकानन्द और उनसे भी अधिक लोकमान्य तिलक के लिए

गीता में कर्म की अनिवार्यता स्वीकार की गई है ।[1] 'कुरुक्षेत्र' में भी कर्म को अपरिहार्य माना गया है ।[2] 'गीता' को प्रायः साम्प्रदायिक भाष्यकारों ने निवृत्तिपरक ग्रंथ बतलाया है, किन्तु तिलक ने अत्यन्त तर्कपूर्ण एवं सबल शब्दों में निवृत्ति का खंडन करते हुए गीता को कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ सिद्ध किया है।[3] इस क्रांतिकारी

रुका हुआ था, तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ट जिस कालकूट को किसी भी तत्व चिन्तक की दृष्टि नहीं देख सकी थी, उसे तिलक की आँखों ने देख लिया। तिलक जी ने केवल उसे देखा ही नहीं, प्रत्युत अपनी प्रखर बुद्धि से उसे उन्होंने दूर भी कर दिया। इसीलिए हमारा मत है कि 'गीता' एक बार तो भगवान् कृष्ण के मुख से कही गई, किन्तु दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने ही किया है। इन दोनों के बीच की अन्य सारी टीकाएँ और व्याख्याएँ 'गीता' के सत्य पर बादल बन कर छाती रही हैं।

—संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर पृ० ५१५

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥—गीता, ३।५

२. कर्मभूमि है निखिल महीतल,
जब तक नर की काया,
तब तक है जीवन के अणु-अणु
में कर्त्तव्य समाया।
क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज
कैसे निज सुख पायेगा ?
कर्म रहेगा साथ, भाग वह
जहाँ कहीं जायेगा।—कुरुक्षेत्र, पृ० १५७

३. गीता के पाँचवें अध्याय के आरम्भ में यह प्रश्न कर चुकने पर कि संन्यास अथवा कर्म दोनों में से कौन श्रेष्ठ है ? अगले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है, कि यद्यपि संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग निःश्रेयस् अर्थात् मोक्षदायक हैं अथवा मोक्ष दृष्टि से एकसी योग्यता के हैं, तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते) (गी० ५।२) और यही श्लोक हमने इस प्रकरण के आरम्भ में (गीता रहस्य, पृ० ३०१) में लिखा है। कर्मयोग की श्रेष्ठता पर यही एक वचन गीता में नहीं है, किन्तु अनेक वचन हैं, जैसे 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' (गी० २।४७)- इसीलिए तू कर्मयोग को ही स्वीकार कर 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' (गी० २।४७) कर्म न करने का आग्रह मत कर।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

स्थापना के द्वारा तिलक ने जहाँ एक ओर पूर्ववर्त्ती व्याख्याताओं का खंडन किया है, वहीं भारत के राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता-प्राप्ति के हेतु 'युद्धं देहि' की नीति का भी समर्थन किया है। 'कुरुक्षेत्र' के राष्ट्रीय-तत्व तथा दार्शनिक तत्व (कर्मयोग) पर तिलक की उपर्युक्त राजनीतिक-दार्शनिक विचारधारा का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। तिलक की यह स्थापना आजकल अनेक विद्वानों द्वारा समर्थित हो चुकी है कि श्रीमद्भगवद्गीता निवृत्तिपरक ग्रंथ नहीं, अपितु कर्मयोग की श्रेष्ठता बतलाने वाला ग्रंथ है।[1] दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों का वर्णन करते हुए तिलक की ही भांति निवृत्ति का घोर खंडन एवं प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है।[2] उनका यह प्रवृत्ति-मार्ग कर्मयोग ही है और निवृत्ति मार्ग के व्याज से दिनकर ने संन्यास पर बड़ी

कर्मों को छोड़ने के झगड़े में न पड़कर इन्द्रियों को रोक कर अनासक्त बुद्धि के द्वारा कर्म करने वाले की योग्यता 'विशिष्यते' अर्थात् विशेष है (गी० ३।७), क्योंकि, कभी क्यों न हो, 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है (गी० ३।८)। इससे तू कर्म ही कर (गी० ४।१५) अथवा 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' (गी० ४।४२) कर्मयोग को अंगीकार कर युद्ध के लिए खड़ा हो, (योगी) ज्ञानिभ्यो पि मतोऽधिकः' ज्ञानमार्ग वाले (संन्यासी) की अपेक्षा कर्मयोगी की योग्यता अधिक है, तस्माद्योगी भवार्जुन (गी०-६।४६)—इसलिए हे अर्जुन-तू कर्मयोगी हो, अथवा 'मामनुस्मर युद्ध च' (गी० ८।७)—मन में मेरा स्मरण रखकर युद्ध कर, इत्यादि अनेक वचनों से गीता में अर्जुन को जो उपदेश स्थान-स्थान पर दिया गया है, उसमें भी संन्यास या अकर्म की अपेक्षा कर्मयोगी की अधिक योग्यता दिखलाने के लिए, 'ज्यायः' अधिकः और 'विशिष्यते' आदि पद स्पष्ट हैं। अठारहवें अध्याय के उपसंहार में भी भगवान ने फिर कहा है, कि नियत कर्मों का संन्यास करना उचित नहीं है, आसक्ति विरहित सब काम करने चाहिए, यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है (गी० १८।६,७)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि गीता में संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता दी गई है।—गीता, पृ० ३०७-०३८,

१. अतः 'गीता' हमें यही सिखाती है कि हम वही करें, जो अर्जुन ने किया था। हम ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्य का, अपने निःशेष कर्त्तव्य का पालन करें—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'।

—डा० गंगानाथ झा,

कल्याण (गीतातत्व विशेषांक) पृ० ५८

२. एक पंथ है, छोड़ जगत को अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ।
अपर पंथ है, औरों को भी निज विवेक-बल देकर,
पहुँचो स्वर्ग लोक में जग से साथ बहुत को लेकर।—कुरुक्षेत्र, पृ० १४८

करारी चोटें की हैं ।[1] इस स्थल पर दिनकर पर तिलक का गम्भीर प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है ।

कर्म अपने-आप में निरपेक्ष है । उसके शुभाशुभ का निर्णय कर्ता की भावना पर निर्भर है । इसी कारण बुद्धि में समरसता का समावेश कर लेने से (स्थितप्रज्ञ हो जाने पर) व्यक्ति पाप और पुण्य से ऊँचा उठ जाता है । तिलक ने कई स्थलों पर कर्म की निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार किया है, तथा कर्त्ता की भावना (बुद्धि) पर बल दिया है । कर्म अपने-आप में न पाप है, और न पुण्य । शुभ बुद्धि से किया गया कर्म (चाहे वह युद्ध ही क्यों न हो) शुभ है ।[2] दिनकर ने भी 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के मुख से ठीक यही बात कहलाकर युधिष्ठिर की युद्ध विषयक जिज्ञासा का समाधान कराया है ।[3] गीता

---

१. (क) जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो निकल भागना वन में,
धर्मराज, है घोर पराजय नर की जीवन-रण में ।
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है,
निश्रेयस् यह श्रमित, पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है,
—कुरुक्षेत्र, पृ० १५४

(ख) भ्रमा रही तुमको विरक्ति जो, वह अस्वस्थ, अबल है,
अकर्मण्यता की छाया, वह निरे ज्ञान का छल है ।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १५८

२. (क) मनुष्य के भी कर्म-अकर्म की भलाई-बुराई ठहराने के लिए, सबसे पहले उसकी बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है—अर्थात् यह विचार करना पड़ता है कि उसने उस कर्म को किस उद्देश्य भाव या हेतु से किया है और क्या उसको उस कर्म के परिणाम का ज्ञान था या नहीं ।—गीता रहस्य, पृ० ४७३

(ख) कर्म छोटे-बड़े हों या बराबर हों उनमें नैतिक दृष्टि से जो भेद हो जाता है वह कर्त्ता के हेतु कारण हुआ करता है । इस हेतु को ही उद्देश्य, वासना या बुद्धि कहते हैं ।—गीता रहस्य, पृ० ४७६

३. है मृषा तेरे हृदय की जल्पना,
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो ।
सत्य हो भगवान् ने उस दिन कहा,
मुख्य है कर्त्ता-हृदय की भावना,
मुख्य है यह भाव जीवन-युद्ध में
भिन्न हम कितना रहें निज कर्म से ।—कुरुक्षेत्र, पृ० १९-२०

कर्म को त्याज्य नहीं मानती क्योंकि वह तो अनिवार्य है, किन्तु इन कर्मों का सम्पादन सम-बुद्धि से ही करना चाहिए। लोक-संग्रह की भावना भी कर्मयोगी के लिए अभिनन्दनीय है।[1] 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म ने युधिष्ठिर को जिस कर्मयोग का संदेश दिया है उसमें लोक-संग्रह के महत्व की भी स्पष्ट स्वीकृति है।[2]

तिलक का यह भाष्य किसी साधारण टीकाकार द्वारा विरचित 'गीता' की टीका मात्र नहीं है, अपितु प्रारम्भ के ५६४ पृष्ठों में इसके विद्वान् लेखक ने अनेक विवादास्पद नैतिक प्रश्नों को उठाकर शास्त्रों के प्रमाण देते हुए अपने मत की अवधारणा की है। तिलक जैसे विद्वान् पर कोई भी देश अभिमान कर सकता है। उन्हें न केवल पौरस्त्य दर्शन का सांगोपांग ज्ञान था, बल्कि पाश्चात्य दर्शन का भी उनका गम्भीर अध्ययन था। दिनकर 'गीता' की व्याख्या के सम्बन्ध में तो उनसे प्रभावित हुए हैं, उनके नैतिक सिद्धान्तों का प्रभाव भी 'कुरुक्षेत्र' पर पाया जाता है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि जैसे हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, दिनकर की राष्ट्रीय भावनाओं को भारत की क्रान्तिकारी विचारधारा विरासत में मिली है, और यह विचारधारा तिलक से अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध है।

तिलक ने पहले प्रश्न उठाया है कि सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि गुण मान्य तो हैं, अतः ग्राह्य भी हैं, किन्तु इस छल और कपट से भरे हुए संसार में इनका उपयोग कहाँ तक किया जा सकता है? विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जबकि कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर किसी सज्जन पुरुष के प्राण अथवा प्राणाधिक सम्मान पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध हो जाए। ऐसे अवसर पर सज्जन व्यक्ति 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर उस आततायी की उपेक्षा करे अथवा 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के अनुसार उसका दमन करे? तिलक का अपना मत मनु के साथ है, जिन्होंने मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से लिखा है[3]—

> गुरुं वा बाल-वृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥[4]

उपर्युक्त विचार के कई महत्वपूर्ण पक्ष हैं जिनकी अभिव्यक्ति हमें 'कुरुक्षेत्र' में

---

१. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥—गीता ३।२०

२. (क) निज को ही देखो न युधिष्ठिर! देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में निरत व्यग्र जन-जन को।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १४६

(ख) जाओ, शमित करो निज तप से नर के रागानल को,
बरसाओ पीयूष, करो अभिसिक्त दग्ध भूतल को।
—कुरुक्षेत्र, पृ० १७३

३. गीता रहस्य, पृ० ३१

४. मनुस्मृति, ८-३५०

मिलती है—

१—सज्जनों का कर्तव्य 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर दुष्टों का अन्याय सहन करना नहीं, अपितु आपत्काल में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के अनुसार उनका शासन करना है[1]

२—अहिंसा, तपस्या, त्याग आदि सद्वृत्तियों की भी एक सीमा है।[2]

३—आततायी स्वयं ही नष्ट होता है, आततायी को मारने वाले सज्जन पुरुष को इसका कलंक नहीं लगता, क्योंकि वह अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए ही उसका वध करता है। वस्तुतः आततायी स्वयं ही सज्जन पुरुष के स्वत्व को छीनने के दुष्कर्म के कारण बध्य होता है।[3]

तिलक ने धर्म के बाह्य उपयोग के साथ-साथ उसके परम उद्देश्य आत्म-कल्याण या मोक्ष की ओर भी ध्यान रखा है और इस प्रकार न तो वे नितान्त आध्यात्मिकता को मान्यता देते हैं, और न आधिभौतिकता को ही। इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए तिलक ने लिखा है—"धर्म अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुनकर कोई यह प्रश्न करे कि यदि तुम्हें 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरण के सत्यानृत-विवेक में कथित 'सर्वभूत-हित' यह दोनों तत्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक दृष्टि में भेद ही क्या है···।"

यद्यपि हमको यह तत्व मान्य है कि समाज-धारणा ही धर्म का मुख्य बाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मत की विशेषता यह है कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो

---

१. छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।—कुरुक्षेत्र, पृ० २१

२. (क) त्याग, तप, करुणा, क्षमा से भींग कर,
व्यक्ति का मन तो बली होता, मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।—कुरुक्षेत्र, पृ० २४

(ख) कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।—कुरुक्षेत्र, पृ० २४

३. (क) कुरुक्षेत्र में जली चिता जिनकी, वह शान्ति नहीं थी,
अर्जुन की धन्वा चढ़ बोली, वह दुष्क्रान्ति नहीं थी।
थी परस्वग्रासिनि भुंजगिनी, वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था, जो जल उठा पार्थ के शर में।
—कुरुक्षेत्र, पृ० ४६

परम उद्देश्य आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उसपर भी हमारी दृष्टि बनी है।[1] दिनकर पर भी इस समन्वय सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में भीष्म के मुख से जो उपदेश दिलवाया है, वह उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का समन्वय ही है।[2]

महात्मा बालगंगाधर तिलक का मत संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है। उन्हें 'समाज-धारणा' का तत्व मान्य है।। अर्थात् वे यह मानते हैं कि व्यक्ति के सम्मुख कर्म-सम्पादन के समय यह विचार अवश्य रहना चाहिए कि उसके उस कृत्य का समग्र समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि यह प्रभाव उत्तम है तो कर्म भी उत्तम है किन्तु यदि यह प्रभाव अधम है तो कर्म भी अधम होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि एक व्यक्ति क्षमा, दया और करुण आदि उदात्त वृत्तियों का अनन्त भण्डार भी है, तो भी अपने स्वत्वों के अपहर्ता को दण्ड देना उसका धर्म हो जाता है, अन्यथा उसकी क्षमा का समाज पर कुप्रभाव पड़ेगा—आततायियों की वृद्धि होगी और समाज में क्षमा आदि की वीरोचित भावनाएँ क्लीबता की परिचायक मात्र बनकर रह जाएँगी। तिलक-दर्शन का दूसरा तत्व 'सर्वभूतहित' है। स्पष्ट ही यह तत्व उन्होंने भारतीय संस्कृति से लिया है। सर्वभूतहित की प्रार्थना करने के हमारे पूर्वज भली-भाँति अभ्यस्त थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत् ॥

(ख) पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?
—कुरुक्षेत्र, पृ० ४६

(ग) चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।—कुरुक्षेत्र, पृ० ४८

१. गीता रहस्य, पृ० ६७

२. (क) भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को
दाग़ नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही
तुम में विलिन हो जाये।
और सिखाओ भोगवाद की
यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन में
नहीं देह में मन को।—कुरुक्षेत्र, पृ० १७७

(ख) पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ,
वन में नहीं भुवन में,
होओ खड़े असंख्य नरों की
आशा बन जीवन में।—कुरुक्षेत्र, पृ० १७४

तीसरा तत्व 'ग्रात्म-कल्याण' या मोक्ष है। यही उनके मत की वह महत्वपूर्ण विशेषता है जो उन्हें भौतिकतावादियों से पृथक् करती है। उनका मत विभिन्न एवं विविध तत्वों से समन्वित होने के कारण अधिक व्यापक तथा व्यावहारिक है। 'कुरुक्षेत्र पर तिलक के इस दर्शन का नितान्त गम्भीर प्रभाव पड़ा है। तिलक-दर्शन की यही विशेषता मानवतावादी दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है—सभी प्रतीयमान विरोधी मत वादों का शुभ-बुद्धि से समन्वय।

'कुरुक्षेत्र' की विचार-भूमि पर तिलक जी के बीज ही लहलहा रहे हैं। तिलक के इस प्रभाव की खण्डशः अभिव्यक्ति की अपेक्षा कवि के समग्र चिन्तन पर ही उसकी प्रभावान्विति विशेष रूप से द्रष्टव्य है 'अन्याय का दमन अन्याय से भी' तथा, 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' आदि प्रमुख सिद्धान्त दिनकर की विचारधारा की पृष्ठ-भूमि के विधायक तत्व हैं, और कवि इस अविस्मरणीय प्रभाव के कारण तिलक का अत्यधिक ऋणी है।

कुरुक्षेत्र

नलिनविलोचन शर्मा

'कुरुक्षेत्र' की प्रेरणा के बारे में पाठक को कल्पनाशील होना आवश्यक नहीं। कवि ने अपने 'निवेदन' में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'निवेदन' नेतिमूलक विश्लेषण से प्रारम्भ होता है। "कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था। किन्तु, तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतर कर मुक्तक बन कर रह गई होती। तो भी, यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।"

'दिनकर' ने कुरुक्षेत्र के बारे में इन पंक्तियों में जो कुछ कहा है उससे दो बातें स्पष्ट हैं—वे 'हिन्दी महाभारत' जैसी कोई चीज़ लिखने नहीं चले हैं, इसके विपरीत और यह दूसरी बात है, उनका उद्देश्य है 'कुछ कहना'-- स्पष्टतः युद्ध और शांति सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त करना—जिसके लिए महाभारत के शांति और अनुशासन पूर्व में उन्हें बना-बनाया, सुपरिचित आधार प्राप्त हो गया। 'दिनकर' को अशोक की कलिंग-विजय में भी इस विषय के लिए उपयुक्त प्रसंग मिला था और उन्होंने वस्तुतः उसका उपयोग भी कुरुक्षेत्र की रचना के पूर्व किया था, जैसा 'निवेदन' में आगे उल्लेख है। हिंसा और अहिंसा, युद्ध और शांति की समस्याओं और समाधानों, वास्तविकताओं और आदर्शों के बीच दोलाचल चित्तवृत्ति वाले युग में रचित दिनकर के दोनों ही काव्य वर्तमान को अपने से दूर से दूरतर हटा कर देखने-समझने के प्रयत्न हैं—'कलिंग-विजय' में यदि ऐतिहासिक आधार है तो कुरुक्षेत्र में प्रागैतिहासिक-पौराणिक। यदि कुछ ऐसे बारीक काम वाले चित्र होते हैं जिन्हें आँखों के ज्यादा-से-ज्यादा पास लाकर देखना पड़ता है, तो ऐसे भी होते हैं जिन्हें समीप से देखकर नहीं देखा जा सकता, उनके लिए, दूर हटने पर ही, दृष्टिकोण प्राप्त हो सकता है। युद्ध और शांति की समस्या और समाधान इस दूसरे प्रकार का ही चित्र उपस्थित करते हैं। प्रश्न यह नहीं, हालांकि स्वयं 'दिनकर' उद्धृत पंक्तियों में कहते यही हैं, कि महाभारत का आधार नहीं लिया गया होता तो काव्य का स्वरूप कुछ दूसरे प्रकार का होता—यानि, प्रबंध न होकर वह मुक्तक बन कर रह जाता। यदि रचना मुक्तक बन कर रह गई होती तो भी वह

कोई दुर्घटना अवश्य नहीं होती। दूसरी ओर प्रबंध के स्वरूप की कोई निश्चित योजना भी कवि के सामने नहीं, यह उसका अपना कहना है। 'दिनकर' कुरुक्षेत्र की प्रेरणा के बारे में उद्धृत पंक्तियों में अथवा उनके बाद भी जो नहीं बता पाए वह यह कि वर्तमान जगत की एक अत्यन्त जटिल समस्या पर विचार करने के लिए उन्हें जिस परिदृश्य या दृष्टिकोण की आवश्यकता थी वह उन्हें अन्यथा अप्राप्त रह जाता। एकमात्र दूसरा उपाय वह भी था जिसका अवलंब 'उन्मुक्त' में सियारामशरण गुप्त ने लिया है और वह है रूपक का अवलंब, जो तनिक नवीन होने पर भी अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतीकात्मक है, जो प्रतीकात्मकता का बहुत बड़ा दोष है, और, फिर, जो पाश्चात्य भाषाओं के आधुनिक नाटककारों-उपन्यासकारों द्वारा कुछ इतना सस्ता साहित्यिक विधान बना दिया गया है कि उससे तो कहीं अच्छा है कि वर्तमान समस्याओं पर यदि कवि को कुछ कहना ही है तो, वह इतिहास-पुराण से ही उसका उपबृंहण करे।

'कुरुक्षेत्र' के आधार की प्रागैतिहासिकता, इस प्रकार, असंगत या असामयिक होने के बदले सार्थक हो सकती है (वह सार्थक है या नहीं इस पर विचार करना पड़ेगा, आगे किया भी गया है), किन्तु यहाँ प्रसंगवश, यह भी निर्देश करना अनावश्यक नहीं कि प्राचीन कथा नवीन काव्य में दुहराई जा सकती है और फिर भी उत्कृष्ट काव्य का निर्माण संभव है, जिस तथ्य को, जैसे, दिनकर 'निवेदन' की उद्धृत प्रथम दो-तीन पंक्तियों में अस्वीकार-सा करते दीखते हैं। संगमर्मर के अनगढ़ ठोंके में, पत्थर के अवगुंठन में छिपी आकृति को मूर्तिकार कभी भी आविष्कृत कर सकता है। यह काव्य पौराणिक कथा के आधार पर अभिज्ञानशाकुंतल की रचना करने वाले कालिदास ने, भागवत के रूपातंरकार सूरदास ने कर दिखाया है। यही काम नवीनचंद्र ने बँगला में लिखे अपने काव्य 'कुरुक्षेत्र' में पर्याप्त सफलता के साथ किया है। दिनकर ने यह नहीं किया है और, अवश्य, उन्होंने जो नहीं किया है उस पर यहाँ बहस नहीं हो सकती। किन्तु उन्होंने जो किया है उसमें, जहाँ वह लाभ है जिसका शुरू में ही उल्लेख किया जा चुका है, वहीं एक खतरा भी रहता है, जिसकी ओर भी, जब सैद्धांतिक स्तर पर विवेचन हो रहा है, हमें ध्यान देना पड़ेगा। यदि वर्तमान के लिए अतीत को इसलिए घसीटा जाता है कि दूसरा पहले को उदाहृत, समर्थित, करे, तो ऐसा प्रयास तो पहले के साथ नहीं दूसरे के साथ ही न्याय कर पाता है।

नवीन काव्य में प्राचीन कथा के उपयोग के हानि-लाभ पर सैद्धांतिक दृष्टि से, कुछ विस्तार के साथ, यह सब लिखना इसलिए आवश्यक था कि 'कुरुक्षेत्र' के विद्वान आलोचकों ने—वे नगेन्द्र, देवराज, नंददुलारे वाजपेयी और उमानाथ जैसे अनुकूल आलोचक हों या रामविलास शर्मा और नागार्जुन जैसे प्रतिकूल आलोचक—निरपवाद रूप से उस समस्या पर अधिक विचार किया है जिस समस्या को लेकर इस काव्य की रचना हुई है। स्वयं उस समस्या पर, 'कुरुक्षेत्र' के विवेचन के प्रसंग में, कुछ भी कहना मैं निष्प्रयोजन और असंगत मानता हूँ।

मैं इस सम्बन्ध में परीक्षण इस बात का करना आवश्यक मानता हूँ कि 'दिनकर' ने जिस किसी समस्या पर भी जो कुछ कहना चाहा है वह, वर्तमान को अतीत पर

प्रलंबित करने वाली प्रणाली के द्वारा, क्या काव्य बन सका है। हिंसा-अहिंसा और युद्ध-शांति पर इस देश में और बाहर, बहुत पहले भी और आज भी महान् चिंतकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। क्या 'दिनकर' ने समस्या के दोनों पक्षों को पद्य-बद्ध मात्र कर दिया है और अपनी सम्मति दे डाली है ? क्या रचना भर करने के लिए ही, काव्य के बहिरंग के निर्वाह के उद्देश्य से, महाभारत का प्रसंग-विशेष चुनना पड़ा है ? यदि इन प्रश्नों के उत्तर में हमें हाँ कहना पड़ता है तो इसका तात्पर्य है हम कुरुक्षेत्र को काव्य के रूप में बर्खास्त कर देते हैं। इसके विपरीत यदि कवि को जो कुछ कहना है, अर्थात् काव्य का विचार-तत्व, रसत्व के स्तर पर आरूढ़ हो सका है तो 'कुरुक्षेत्र' काव्य की संज्ञा का अवश्य ही अधिकारी है।

'दिनकर' को एक जलती हुई समस्या पर 'कुछ कहना' है, यह उनकी स्वीकारोक्ति है। वे चाहेंगे, उनके कहने की मीमांसा हो। मनुष्य के अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रश्न पर कोई भी सोचने वाला व्यक्ति विचार-विनिमय करना चाहेगा, किन्तु यह भी निश्चित है कि यह काव्यालोचन का विषय नहीं हो सकता। काव्यालोचन के अन्तर्गत यह अवश्य आता है कि कवि के विचार किस प्रकार, कितनी दूर तक काव्य में रूपान्तरित हो पाए हैं। हम सीधे इस पर विचार कर लें।

विचार की प्रक्रिया का बड़ा पुराना और अनिवार्य-सा रूप है पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष का युगवत् निरूपण। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, व्यक्ति की विचार प्रक्रिया के रूप को आभ्यंतर स्वालाप कहा जाता है और ठीक ही कहा जाता है। हम बिना बोले भी सोचते हैं और हमारे दो व्यक्तित्व एक दूसरे के साथ आभ्यंतर स्वालाप करते रहते हैं। अधुनातन नाटक में इस आभ्यंतर स्वलाप को रंगमंच पर दृश्य और श्रव्य बनाने के लिए स्वगत-भाषण का प्रत्यागमन ही नहीं हुआ है, इसे पहले से भी अधिक महत्व दिया जा रहा है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की 'चेतना का प्रवाह' वाली पद्धति (Stream of Consciousness) इसी आभ्यंतर स्वालाप को भी प्रस्तुत करती है 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर 'दिनकर' के आभ्यंतर स्वालाप के दोनों पक्षों के प्रतीक ही तो हैं।

महाभारत के लक्षाधिक श्लोकों के बहुलांश में वर्णित और शताब्दियों से भारतीय पाठकों के लिए सुपरिचित इन सजीव मनुष्यों से भी अधिक, वास्तविक पात्रों को प्रतीकों के रूप में देना एक असम्भव कार्य है। भीष्म और युधिष्ठिर कवि के लिए उन कठपुतलियों का काम नहीं दे सकते जिनके सहारे छद्मालापक विश्वासोत्पादक वातावरण तैयार कर लेता है। इसीलिए 'काव्यस्यैक देशानुसारि' खंड-काव्य में वृत्त ख्यात होने के बदले कल्पित ही होता है। इस प्रकार के काव्य में रस को छोड़कर वस्तु या पात्रों के विकास के लिए, महाकाव्य की तरह, अवसर ही कहाँ रहता है।

कल्पित वृत्त का लाभ यह है कि कवि पात्रों या घटनाओं का जितना भी संकेत कर देता हैवह पर्याप्त होता है। खंडकाव्यों की मुकुट-मणि 'मेघदूत' में मेघ का कालिदास द्वारा दिया गया परिचय कितना स्वल्प है और फिर भी विश्वास्य। सच तो यह है कि कालिदास ने मेघ का परिचय देते हुए उसके विचित्र आचरण की सफाई में 'धूमज्योतिः

सलिलमरुतां सन्निपातः कमेघः' वाला श्लोक लिखकर अपने निर्दोष काव्य को लांछन-मुक्त बना डाला है। किसी भी टीकाकार या आलोचक ने इस श्लोक को प्रक्षिप्त नहीं ठहराया है किन्तु कितना सुन्दर होता यदि प्रमाणित हो सकता कि वह कालिदास का लिखा नहीं है। कामार्त्त जन चेतनाचेतनों का भेद समझने में प्रकृति-कृपण होते हैं—जिस पाठक को यह समझाना पड़ेगा वह क्या मेघदूत समझने की क्षमता रख सकता है।

इसके विपरीत 'कुरुक्षेत्र' ख्यातवृत काव्य है। इसके पात्र पाठकों के लिए पूर्व-परिचित हैं कन्तु कवि को उनका पुनः परिचय कराना पड़ता है क्योंकि यहाँ वे महाभारत जैसे विशाल काव्य के प्रधान पात्र नहीं है, अपितु 'दिनकर' के लिए ध्वनि-विस्तारक यंत्र के स्थानापन्न हैं।

'दिनकर' ने इन पात्रों का जो पुनः परिचय दिया है वह दो कारणों से उनके विचारों के अनुरूप नहीं है, अतः विश्वास्य भी नहीं हो पाते। यदि भीष्म या युधिष्ठिर का परिचय ऐसा है जो कवि के विचारों का भार-हारी हो सके तो उनके अविस्मरणीय पौराणिक रूप से उसका विरोध होने लगता है, दूसरी ओर, यदि उनका परंपरागत रूप ही हमारे सामने रखा जाता है तो उनके मुख में कुछ गांधीवादी, कुछ समाजवादी आदर्श और विचार ऐसे लगते हैं जैसे सिनेमा के 'प्ले-बैक'—और वह भी जब दृश्य अभिनेता के होंठ दूसरी तरह चलते हैं और श्रव्य-ध्वनि कुछ और ही तरह की होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'कुरुक्षेत्र' में अभिव्यक्त भावना उपयुक्त 'संपृक्त आधार' के अभाव में कविता नहीं बन पाती।

'संपृक्त आधार' की कसौटी के लिए ये पंक्तियाँ ले लीजिये, जिनमें प्रगतिवादी शब्दावली में कहा जा सकता है, भीष्म के द्वारा प्रस्तुत अधिनायकवादी विचार-धारा का आधार निर्मित किया गया है।

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज-जैसे,
थके, टूटे गरुड़-से, स्रस्त पन्नगराज-जैसे,

उपमाएँ अपने-आप में अत्यन्त ओजपूर्ण हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते, किन्तु गजराज या गरुड़ या पन्नगराज के चित्र हमें अवश्य ही उस वाग्मितापूर्ण 'अनुशासन' के लिए तैयार नहीं कर पाते हैं जो आगे भीष्म के मुँह से फूट पड़ता है।

'कुरुक्षेत्र' जैसी बनावट वाले काव्य का यह अंतर्निहित, अपरिहार्य दोष है। इसीलिए आज इस प्रकार के काव्य लिखे ही नहीं जाते। लिखे ही जाएँ तो 'कुरुक्षेत्र' से उत्कृष्ट नहीं होंगे।

कुरुक्षेत्र

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

कला की चाहे कितनी ही परिभाषाएँ, क्यों न की जाएँ, किन्तु उन सबके अन्दर एक बात अवश्य आती है कि कला में हम मानव-मन का विश्लेषण, उसके रहस्यमय मनोराज्य के गुप्त प्रदेश का उद्‌घाटन पाते हैं। मनुष्य स्वयं भी अपने इस मनोराज्य के गुप्त प्रदेश का—अपने चेतन मन का मालिक नहीं है। उसके चेतन मन के अन्तराल में जो सब घटनाएँ घटित होती रहती हैं, उनमें वहुत कम ही को उसका चेतन मन जान पाता है। आर्टिस्ट या शिल्पी का काम होता है अपनी सूक्ष्म दृष्टि को मानव-मन के उस अतल गह्वर तक ले जाना और उस पर आलोक-संपात करना। इस आलोक-पात से अमृत एवं गरल दोनों ही मिल सकते हैं। क्या निकल कर आया, अच्छा या बुरा, यह नहीं देखना होगा; देखना होगा—-कितना निकल कर आया और किस रूप में। यदि जीवन के रूढ़ कर्कश सत्य, जीवन की विषम समस्याएँ, निकल कर आईं तो शिल्पी उन्हें अपने अन्दर की रसमय अनुभूतियों द्वारा कहाँ तक सरस रूप देने और अपनी रचना में उसे प्रस्फुटित करने में सफल हुआ है। जीवन के किसी सरस आख्यान को लेकर उसे काव्य के कथानक का रूप देना और उसके रसमाधुर्य का सारसंग्रह करके काव्य द्वारा पाठकों के मन को रसप्लावित कर देना सहज है, किन्तु जीवन के कठोर कर्कश सत्य से—उसके वास्तविक तथ्यों से रस-संग्रह करके उसे सरस-सुन्दर काव्य का रूप देना उतना सहज नहीं है।

कवि 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में हम जीवन की आधुनिक गतिविधि एवं जीवन के वास्तविक तथ्यों को ही कथानक के रूप में पाते हैं। जीवन की समस्याओं का ही इसमें चिन्तन एवं मनन है, किन्तु कवि एक निपुण शिल्पी के रूप में इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि जीवन की वास्तविकता किस अंश तक काव्य में स्थान पा सकती है। इस वास्तविकता की भी एक सीमा होती है। इस सीमा का उल्लंघन होने से काव्य का जो रसमय रूप है, वह विकृत हो जाता है और वह बन जाता है इतिवृत्तात्मक छन्दोबद्ध वर्णनमात्र। 'कुरुक्षेत्र' में वास्तविकता की सीमा का उल्लंघन नहीं हुआ है। जीवन की इस वास्तविकता को सन्तुलित रूप में काव्य का रूप देना और अपने अन्तर के रस द्वारा उसे सरस करके प्रस्फुटित करना ही तो इस युग की कला-कुशलता का चरम उत्कर्ष है। कला का यह चरम उत्कर्ष हम 'कुरुक्षेत्र' में जिस रूप में पाते हैं उस

रूप में आधुनिक युग क किसी अन्य प्रबन्ध काव्य में नहीं।

वर्तमान युग के मानव-जीवन में जो निष्ठुरता, उत्कट स्वार्थ लिप्सा, भोग-लालसा हिंसापरायणता आदि कुप्रवृत्तियाँ प्रबल रूप धारण कर रही हैं और उनके कारण जगत् एवं जीवन का रूप जो इतना विकृत एवं बीभत्स हो रहा है, उस ओर इस युग के किसी भी सहृदय कुशल कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि गये बिना नहीं रह सकती। 'कुरुक्षेत्र' के कवि की दृष्टि भी जीवन के इसी बीभत्स रूप की ओर गई है और उसी का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण हम उसके इस काव्य में पाते हैं। इसमें हमें युग की भावनाओं का दर्शन मिलता है। इस विचार-धाराओं के पीछे कवि का सबल एवं तेजस्वी व्यक्तित्व तथा प्रगाढ़ चिन्तन झाँक रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें हिन्दू-'दर्शन' मानो मुखर हो उठा है। इस 'दर्शन' में जीवन की महिमा का जयगान युगदर्शन के रूप में हुआ है और उस निवृत्तिमूलक धर्म का बड़े ही जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया गया है जो जगत् और जीवन को मिथ्या एवं मायामय बताकर किसी कल्पनालोक में शान्ति का संधान करने की शिक्षा देता है। जीवन के इस तत्व का हृदयग्राही चित्रण इसके सातवें सर्ग के अनेक छन्दों में मिलेगा—

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज ! जो कुछ है, वह है मिट्टी में, जीवन में।
सम्यक् विधि से इसे प्राप्त कर, नर सब कुछ पाता है,
मृत्ति-जयी के पास स्वयं ही, अम्बर भी आता है।

जीवन में प्रवृत्ति एवं निवृति दोनों के लिए स्थान है। दोनों के समन्वय में ही जीवन की सार्थकता है। यह समन्वय किस प्रकार हो सकता है, इस प्रश्न का कितना सुन्दर समाधान इन पंक्तियों में किया गया है—

भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को, दाग़ नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाये।
और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन जन को,
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।

कितना स्वस्थ एवं सबल जीवन-दर्शन है।

युद्ध की समस्या मानव समाज की एक चिरंतन समस्या है। मनुष्य अब तक इस समस्या के हल करने में समर्थ नहीं हुआ है। युद्ध चाहे जिस कारण से होते रहे हों, मगर मनुष्य आज तक उन कारणों का मूलोच्छेद नहीं कर सका है। युद्ध के लिए कोई एक व्यक्ति उत्तरदायी न होकर सारा समाज होता है। इसलिए युद्ध के कारणों पर समष्टिगत रूप में विचार करना होगा, व्यक्तिगत रूप में नहीं। महाभारत के युद्ध के लिए कितना विराट आयोजन किया गया था और कितने विद्वेष, हिंसा एवं विध्वंस के बीच से होकर पांडवों ने विजय प्राप्त की थी। किन्तु विजय लक्ष्मी का वरमाल्य प्राप्त कर लेने पर भी युधिष्ठिर के लिए वह विजय नहीं रह गई। महानाश देखकर वह घोर दुःख से विह्वल हो उठे। उन्हें संसार से ही वैराग्य हो गया। एक दिन जिस विजय को वरेण्य वस्तु समझा था—जिसमें कितनी ही रंगीन मधुर कल्पनाओं को आश्रय दे रखा

था, वही स्वप्न बनकर उपस्थित हुआ तो उसका कोई मूल-महत्व ही न रह गया। मानव मन में जो वेदना छिपी रहती है उससे हृदय जब मथित हो उठता है तब मन में नाना प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही वेदना-विक्षुब्ध हृदय-सागर को मथकर कवि ने अनिर्वचनीय रस निकाला है वह काव्यरस पिपासुओं के लिए सर्वथा संभोग्य है।

महाभारत केवल दो पक्षों का ही युद्ध न था, बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष का विकट विस्फोटक था। वह अन्याय के विरुद्ध न्याय का, अनीति के विरुद्ध नीति का, पाप के विरुद्ध पुण्य का युद्ध था। इसलिए युद्ध का उतरदायित्व उसी के ऊपर होता है जो न्याय को चुराता है—

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु, जो रण में उसे ललकारते हैं।

युधिष्ठिर की मनोदशा का कवि ने जिस मनोयोग के साथ विश्लेषण किया है वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। युधिष्ठिर की आत्मग्लानि, उनकी आत्मभर्त्सना, उनका दैन्य, उनका अनुताप, उनका नैराश्य—इन सब भावों ने एक साथ ही मिलकर उनकी आत्मा को आकुल, भारग्रस्त एवं विरस बना दिया था। इसी प्रकार की मन:स्थिति में युधिष्ठिर, भीष्म-पितामह के पास पहुँचते हैं। इसके बाद ही दोनों के बीच कथोपकथन आरम्भ होता है। यही कथोपकथन इस काव्य का सबसे बढ़कर मार्मिक स्थल है। युद्ध के कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उसके उत्तरदायित्व का विवेचन करते हुए कवि ने कथा प्रसंग में जो ओजपूर्ण वाक्य भीष्म द्वारा कहलाये है, वे वीरत्व-गर्वोद्दीप्त होने के साथ-साथ अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं मर्मतलस्पर्शी हैं। यहाँ काव्य के सौन्दर्य में सत्य फूट पड़ा है। पितामह कहते हैं—

जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही,
किन्तु उसके पास ही समुदायगत जो भाव हैं,
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था ?

व्यक्ति-धर्म एवं समाज-धर्म का विवेचन करते हुए फिर वह कहते हैं—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

इस प्रसंग में हिंसा-अहिंसा, मनोबल एवं शस्त्रबल, मनुष्यता एवं पशुत्व जैसे प्रश्नों को उठाकर कवि ने वर्तमान युग की राजनीतिक विचार-धाराओं को प्रतिबिम्बित किया है। अहिंसा, क्षमा और मनोबल को लेकर मतिभ्रष्ट मानवों के अन्याय के विरुद्ध पतित जनसमूह की कुप्रवृतियों के विरुद्ध-संग्राम नहीं किया जा सकता। यहाँ तो वीरता

का आदर्श ग्रहण करके शस्त्रबल का ही आश्रय लेना पड़ता है—

पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक बस चलता नहीं।

और भी

तप का परन्तु, वश चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने।

जिस व्यक्ति धर्म एवं समाजधर्म के संघर्ष में पड़कर युधिष्ठिर के मन की दुर्बलता उभर आई थी और जिसने उन्हें इस प्रकार कातर एवं विह्वल बना दिया था, वही संघर्ष भीष्म के भी अन्तर्द्वन्द्व का कारण था। हृदय और मस्तिष्क, भावना एवं बुद्धि की द्विधा में पड़कर भीष्म जैसे वीरपुङ्गव को भी कितना मनस्ताप सहन करना पड़ा था। उनकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो गई थी। इस बुद्धि ने ही पौरुष की चिनगारी को बुझा दिया था। जैसा वह स्वयं कहते हैं—

बाँध उसी ने मुझे द्विधा में
बना दिया कायर था,

किन्तु युधिष्ठिर की तरह भीष्म कातर एवं विह्वल होने से इसलिए बच जाते हैं कि उनका 'अहं' शुभ बुद्धि द्वारा परिचालित हो रहा है। परन्तु भीष्म के अन्तर्द्वन्द्व का एक और पहलू है जिस पर कवि ने बिलकुल नये ढंग से अपनी सूक्ष्म दृष्टि डालकर उनके अन्तस्तल के गुप्त रहस्य का उद्घाटन किया है। भीष्म में यह द्वन्द्व था उनके प्रेम और नीतिज्ञान के कारण। अपने जीवन के प्रथम प्रहर में ही उन्होंने आजीवन कौमार्य का कठोर व्रत धारण करके अपने अन्तर की समस्त सुकुमार भावनाओं का दमन कर दिया था। प्रेम की अपेक्षा उन्होंने नीतिज्ञान को विशेष महत्व दिया था। उनके जीवन की शासिका बुद्धि बन गई थी, हृदय अनुचर मात्र था। किन्तु कर्म से कहीं कठिन स्नेह का बन्धन होता है। प्रेम की जो अतृप्त तृष्णा हृदय के अतल में दबकर छिपी हुई थी वह सहसा जीवन में एक प्रचण्ड आघात पाकर उभर आई। अपने मन के इस छिपे सत्य का पता पा जाने पर आज स्वयं भीष्म को आश्चर्य हो रहा है। कहते हैं—

वह अतृप्ति थी छिपी हृदय के किसी निभृत कोने में।
जा बैठा था आँख बचा जीवन चुपके दोने में।

... ...

प्रकट होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता।
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।

भीष्म के गंभीर अन्तस्तल में प्रेम एवं स्नेह की जो शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही थी उससे वह स्वयं इतने दिनों तक अपरिचित बने हुए थे। हाय, मनुष्य अपने-आपसे भी कितना अज्ञात बना रहता है। ऐसा क्यों होता है? मनोविज्ञान के पण्डितों का कहना है कि मनुष्य के चेतन में अहर्निश विचित्र विचारों एवं भावों की अद्भुत तरंग लीलाएँ चलती रहती हैं। वहाँ मन की कितनी प्रगाढ़ कामनाओं के बीच संघर्ष चलता रहता है। वहाँ तो भीष्म-जैसे कठोर-व्रतधारी नीतिनिपुण धीर पुरुषों के मन में भी पाण्डवों के प्रति प्रेम, गंभीर आसक्ति छिपी रहती है। यह गूढ़ रहस्य बाहर से भले ही रहस्य बना

रहे, किन्तु भीतर ही भीतर तो अनावृत होता रहता है और मौका पाकर प्रतिशोध लिए बिना नहीं रहता। अपने सम्बन्ध में भीष्म की जो प्रकाण्ड धारणा थी उसके ऊपर आज कितना निष्ठुर आघात पहुँचा है। भीष्म की यह मर्मवेदना निम्नलिखित पंक्तियों में कितनी ज्वलन्त रूप में अभिव्यक्त हुई है—

धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था।
किन्तु फटी जब घटा, ज्योति जीवन की पड़ी दिखाई,
सहसा सैकत बीच स्नेह की धार उमड़कर छाई।
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था जिसको मिला हृदय का।

भीष्म के इस विषाद में करुणावेदना का जो स्रोत प्रवाहित हो रहा है, वह कितना स्निग्ध है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति, बुद्धि एवं भावना, प्रेम और कठोर नीति, हिंसा और अहिंसा तथा आत्मबल और बाहुबल के बीच जो शाश्वत संघर्ष आदिकाल से चला आ रहा है उसका चित्रण तो इस काव्य में है ही, आज के युग के युद्ध और शान्ती, व्यक्तिधर्म और समाजधर्म भाग्यवाद और कर्मवाद, विज्ञान और अध्यात्म तथा भोग एवं त्याग के आदर्श-संधान का भी चित्रण किया गया है। किन्तु कवि ने इन सब समस्याओं की केवल उपस्थापना ही नहीं की है, अपितु संघर्षों के बीच किस प्रकार सामंजस्य लाया जा सकता है, इस ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। आज की अनेक समस्याओं का समाधान कवि को साम्य एवं मैत्री के आधार पर अवस्थित समाज-व्यवस्था में दीखता है। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था में ही सच्ची शान्ति की स्थापना हो सकती है। जब तक मनुष्य में व्यक्तिगत भोग की, लोभ की तथा धन-संचय की प्रवृत्ति बनी रहेगी तब तक शान्ति इस पृथ्वी पर स्वप्नतुल्य ही बनी रहेगी। कवि के शब्दों में—

जब तक मनुज-मनुज का यह सुख-भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा।
था पथ सहज अतीव, सम्मिलित हो समग्र सुख पाना
केवल अपने लिए नहीं, कोई सुख भाग चुराना।
इस वैयक्तिक भोगवाद से फूटी विष की धारा,
तड़प रहा जिसमें पड़कर मानव-समाज यह सारा।

किन्तु यह साम्यवाद एक नूतन नैतिक भावना के साथ चलेगा। इसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम एवं सौहार्द का सम्बन्ध होगा। कंचन मनुष्य का साध्य न होकर साधन बनेगा। मनुष्य भाग्यवाद का आश्रय ग्रहण न करके कर्मवाद का आश्रय ग्रहण करेगा। न मनुष्य में संचय की प्रवृत्ति होगी और न दूसरों के श्रम का अन्यायपूर्वक शोषण होगा। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था में ही आज की समस्त विषम समस्याओं का समाधान होगा। और, सब लोगों को आत्मप्रकाश का सुयोग प्राप्त होगा। कवि वर्तमान जीवन के संघर्षों का समन्वय इसी रूप में देखता है। कवि जिस साम्यवाद का स्वप्न

देख रहा है और उसके साथ वह जिस नैतिक भावना का सामंजस्य चाहता है, वह है मानवता की भावना। यह मानवता ही तो आज का युग-धर्म है। किन्तु यह मानवता दीन-दरिद्रों, उत्पीड़ितों एवं शोषितों के प्रति दया-परवश होकर अथवा उनके प्रति सम-वेदना प्रकट करके चरितार्थ नहीं होगी, बल्कि इसमें मनुष्यत्व की मर्यादा का समादार होगा— न्याय एवं नीति के लिए अभिमान होगा—अत्याचार एवं उत्पीड़न, शोषण एवं दोहन के विरुद्ध करालकाल-सा क्रुद्ध बनकर विद्रोह करने की ज्वलन्त भावना होगी। कवि मानव-धर्मी है। उसे मानवता की विजय में अखण्ड विश्वास है। मानव-जाति की जय-यात्रा इसी मानवता के लक्ष्य की ओर हो रही है। युग-युग से मनुष्य इसी मानवता की आशा को अपने हृदय में धारण किये हुए अनन्त की ओर अग्रसर हो रहा है। मान-वता की यही मसाल अपने हाथ में लेकर अपने भविष्य का पथ आलोकित करता हुआ वह आगे बढ़ेगा। मानवता का यह नव प्रदीप जिस दिन प्रज्वलित होगा उसी दिन संसार के मनुष्यों को उसके प्रकाश में जीवन के सत्य, शिव एवं सुन्दर स्वरूप का सन्धान मिलेगा। कवि मानव जाति के जिस ज्योतिर्मय भविष्य का स्वप्न देख रहा है वह कितना समुज्ज्वल एवं स्फूर्तिदायक है। उसका जीवन-दर्शन कितना स्वस्थ, सबल एवं सतेज है। और, इस जीवन-दर्शन में कवि की जो आन्तरिक आस्था है, उसी का तो उसने अलख जगाया है अपनी इन पंक्तियों में—

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,
भावना मनुष्य की न राज में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से,
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

कवि ने जीवन का जयगान किया है। वह आशावादी है, इसलिए उसने जीवन के अन्धकार को महत् रूप में नहीं देखा है, देखा है महत् रूप में आलोक की अमर महिमा को। उसके इस काव्य में मध्याह्न-मार्त्तण्ड का प्रखर तेज है, अंधकार के विरुद्ध प्रकाश के अनन्त विजयाभियान का मनोहर चित्र है। इसी से उसके एक-एक छन्द से आशा का अजस्र आलोक विकीर्ण हो रहा है। 'कुक्षेरुत्र' के भीष्म शक्ति की प्रतिमूर्ति है। उनका जीवन-मंत्र है—मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्—

कुरुक्षेत्र की रणभूमि के ध्वंसस्तूप के ऊपर हम मनुष्य को विजयी वीर के रूप में, हाथ में जयपताका लिये हुए तथा जीवन देवता की वाणी उद्घोषित करते हुए देखते हैं। इस प्रकार, मनुष्य के भविष्य में—उसके मनुष्यत्व की गौरवगरिमा में जिस कवि की आशा अविचलित है—जिस कवि की दृष्टि उदयाचल के शिखर पर निबद्ध है, जहाँ अरुणोदय का चिर-नूतन देश है, उसके काव्य को यदि हम वर्तमान युग की एक युगान्तरकारिणी कृति कहें, तो क्या इसमें कोई अत्युक्ति होगी ?

दिनकर की प्रमुख प्रबन्ध कृतियाँ : रश्मिरथी

रश्मिरथी : एक विश्लेषण

विजयेन्द्र स्नातक

आज चौदह वर्ष बाद 'रश्मिरथी' को दूसरी बार पढ़ने पर मेरे मन में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' लिखने के बाद दिनकर ने इस वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य के लिए कर्ण को क्यों चुना और उसे 'रश्मिरथी' विशेषण से अभिहित क्यों किया ? पहली बार जब मैंने इस प्रबन्ध काव्य को पढ़ा था तब पुस्तक की भूमिका में निर्दिष्ट रचना के इतिवृत्त और प्रेरक तत्व विषयक संकेत मुझे पर्याप्त प्रतीत हुए थे। उन्हीं संकेतों के आलोक में मैंने काव्य का अनुशीलन किया था और काव्य के कथा-संवाद एवं वर्णन-माहात्म्य से मुझे पूरा परितोष मिला था। लेकिन इस बार मैंने 'रश्मिरथी' कर्ण के चारित्रिक गुणों में युद्धस्पृहा का अतिरिक्त आभास पाया और मुझे लगा कि 'कर्णो वा समरश्लाघी' कथन कर्ण की अवमानना न होकर उसकी चारित्रिक विशेषता का उद्‌घाटन मात्र है। क्या कवि दिनकर को भी कर्ण की समरश्लाघा आकर्षक प्रतीत हुई और उन्होंने कर्ण को अपने काव्य का नायक बना लिया ?

'रश्मिरथी' काव्य का नामकरण भी कवि ने कर्ण को पुण्यप्रताप का केन्द्र मान-कर श्रद्धा भाव से किया है। रश्मिरूपी रथ का स्वामी कर्ण अपनी जाति, वंश, गोत्र आदि की मर्यादा से पूजार्ह नहीं बना किन्तु अपनी धर्म-निष्ठा, दानशीलता, तितिक्षा, कृतज्ञता, अटूट मैत्री भावना आदि गुणों के कारण उसने समाज में अपना स्वतंत्र स्थान बनाया था। अपने कुल के विषय में वह अज्ञानी बना रहना ही ठीक समझता था। वह तो धर्म निष्ठा और दानशीलता को जीवन की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति मानता था इसीलिए आसन्न मृत्यु की वेला में भी उसने दैन्य और कार्पण्य की भाषा में विषाद भरे दीन वचन नहीं कहे वरन् अपने पुण्य-प्रताप को पुकारते हुए बड़े गर्व के साथ कहा—

तपस्या रोचिभूषित ला रहा हूँ
चढ़ा मैं रश्मि-रथ पर आ रहा हूँ।

स्पष्ट है कि कविवर दिनकर ने कर्ण के इन्हीं गुणों को दृष्टि में रखकर कर्ण को रश्मिरथी के रूप में अपने काव्य में अंकित करने योग्य समझा।

'वेणी संहार' नाटक के प्रणेता भट्टनारायण का ध्यान भी कर्ण के चरित्र की इस विशेषता की ओर गया था और कुल-गोत्र की उच्चता-हीनता को दूर कर कर्ण ने अपने मुख से अपने पौरुष की ही बात की थी।

सूतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं त पौरुषम्।।

महाभारत में वर्णित कर्ण-चरित्र को स्वीकार करते हुए भी दिनकर ने उसमें अपनी रुचि से यत्किंचित् परिवर्तन किये हैं। उन परिवर्तनों का उल्लेख तो मैं दूसरे प्रसंग में करूँगा किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में मैं महाभारत के आदिपर्व में वर्णित रंगभूमि की घटना की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के निर्देशन में कौरव-पाण्डवों के शस्त्र विद्या का अभ्यास हो रहा था। अर्जुन के धनुर्कौशल पर सभी प्रेक्षक मुग्ध थे। अर्जुन के भूरि-भूरि प्रशंसा के वातावरण में कर्ण रंगभूमि में अवतरित होकर अर्जुन को ललकारता है। कर्ण की तेजोदीप्त वाणी में समरश्लाघा के साथ प्रतिद्वन्द्विता की भावना थी समवेत योद्धा और आचार्य कर्ण के रणकौशल का अनुमान लगा कर अभिभूत हो उठे थे। उनके सामने अर्जुन की मान रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो गया था। कृपाचार्य को द्विविधा के इस क्षण में एक युक्ति सूझी। वे कर्ण को निस्तेज करने के लिए कर्ण से उसका कुल, गोत्र तथा माता-पिता का परिचय पूछने लगे। यह परम्परावादी प्रश्न कर्ण को निष्प्रभ करने के उद्देश्य से ही पूछा गया था। महाभारत की मूलकथा में यह उद्देश्य पूर्ण होता हुआ अंकित किया गया है अर्थात् कर्ण हतप्रभ होकर रंगभूमि में मौन धारण कर लेता है, किन्तु रश्मिरथी के कवि ने कर्ण को न तो हतप्रभ ही चित्रित किया और न मौन धारण करवाया। इस दकियानूसी प्रश्न का उत्तर कर्ण ने बड़े आवेश के साथ दिया है। उसे दुर्योधन की सहायता की दरकार नहीं हुई। कर्ण के जीवन में परीक्षा की आग में तपने का यह प्रथम अवसर था।

जाति जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखण्ड।
मैं क्या जानूँ जाति-जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।
... ...

पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।।

महाभारत द्वापर युग की रचना है। उस युग में कुल-गोत्र की मर्यादा रूढ़ियों से सम्पृक्त थी। 'रश्मिरथी' आधुनिक युग की कृति है जिसमें वैयक्तिक गुणों की अवहेलना संभव नहीं है। जातिगत ऊँच-नीच का भाव समाज से मिटता जा रहा है और कर्म का गौरव प्रतिष्ठित हो रहा है। 'रश्मिरथी' का कर्ण स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाला अप्रतिम योद्धा, दानवीर धर्मवीर, परोपकारी सहिष्णु त्यागी नर पुंगव है। उसके व्यक्तित्व के ये गुण इतने उज्ज्वल और दीप्त हैं कि इनके होते आज के युग में कोई उसकी उपेक्षा करने का साहस न करेगा। आज तो समाज से अस्पृश्यता, वर्णसंकर्णता आदि का केंचुल उतरता जा रहा है। समग्र मानवीय गुणों के विकासके लिए द्वार खुलते जा रहे हैं। इसलिए कर्ण जैसे तेजस्वी चरित्र का वर्णन करने का मोह प्रत्येक सजग कलाकार में

होना स्वाभाविक है। युगबोध के आलोक में कर्ण का भाग्य जगेगा ही क्योंकि आज का युग मानवीय गुणों की पूजा का युग है।

महाभारत के अनुशीलन से एक और तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित होती है। वह तथ्य है कृष्ण का कर्ण के गुणों के प्रति आकर्षण और भीष्म का कर्ण के प्रति गंभीर विकर्षण। 'रश्मिरथी' में कृष्ण के सहज आकर्षण को कवि ने समुचित रूप से अंकित किया है किन्तु भीष्म के विकर्षण को पूरी तरह चित्रित नहीं किया गया। ऐसा नहीं है कि दिनकर भीष्म के उपेक्षाभाव से अपरिचित है। मुझे तो ऐसा लगता है कवि दिनकर के अन्तर्मन में भीष्म की यह उपेक्षा गहरी पैठ गई है। और उसी का प्रतिकार करने के लिए दिनकर ने कर्ण को अद्वितीय व्यक्तित्व प्रदान किया है। भीष्म यदि कर्ण को सच्चा महारथी नहीं समझते तो न समझें किन्तु कर्ण अपने दिव्य गुणों के कारण किसी भी पांडव से कम नहीं है।

इस प्रकरण में महाभारत के एक अन्य संदर्भ का भी उल्लेख करना आवश्यक है। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दुर्योधन ने अपने वरिष्ठ महारथियों को बुलाकर पूछा कि वे बतावें कि कौन महारथी कितने समय में पांडव सेना का संहार कर विजय प्राप्त कर सकता है। सबसे पहले भीष्म पितामह ने कहा कि मैं पांडव सेना को एक मास की अवधि में समाप्त कर सकता हूँ। द्रोणाचार्य ने भी पांडव सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए एक मास का ही समय चाहा। कृपाचार्य ने दो मास का समय पांडव सेना को जीतने के लिए मांगा। द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा अपने पिता की उपस्थिति में भी अपने अहंकार को दबा न सका और अभिमानभरे स्वर में बोला कि मैं केवल दस दिन में समस्त पांडव सेना का विनाश कर सकता हूँ। तदनन्तर दुर्योधन ने अंगराज कर्ण से पूछा कि आपको विजय प्राप्त करने के लिए कितना समय अपेक्षित होगा। समरश्लाघी कर्ण ने अश्वत्थामा की गर्वोक्ति सुनी थी, तत्काल तमक कर ऊर्जस्वी वाणी में बोला, "महाराज! मुझे पाँच दिन का समय दें। मैं केवल पाँच दिन में समस्त पांडव चमू का अर्जुन सहित विध्वंस कर विजयश्री प्राप्त कर दिखा सकता हूँ।"

भीष्म पितामह कर्ण की इस गर्वोक्ति को सुन चुप न रह सके। उन्होंने कर्ण को डाँटते हुए कहा—"कर्ण तुम वाक् शूर हो, तुम पूरे महारथी नहीं अर्ध महारथी हो, तुम दंभ शूर बनकर केवल बकवास करना जानते हो। तुमने आज तक कोई युद्ध जीता नहीं है इसीलिए बढ़-बढ़ कर ढींग मारते हो। तुमने अर्जुन के गांडीव का तेज देखा नहीं है, जिस दिन तुम युद्ध क्षेत्र में सारथि कृष्ण सहित गांडीवधारी अर्जुन को देखोगे उस दिन तुम्हारा मुख विवर्ण होकर मौन हो जाएगा।" भीष्म ने कर्ण को अपमानित करने में कुछ उठा न रखा था लेकिन कर्ण अपने वचन पर अडिग बना रहा। कोई आश्चर्य नहीं कि कवि दिनकर ने 'रश्मिरथी' के सृजन के समय यह अनुभव किया हो कि भीष्म ने कर्ण को समझने में जो भूल की है उसका निराकरण उसकी गौरवगाथा प्रस्तुत कर किया जाए। भीष्म तो कर्ण को कभी सह नहीं सके, कर्ण का सम्मान उन्हें सदा सालता रहा, उन्होंने दुर्योधन से स्पष्ट कह दिया था कि मैं कर्ण को साथ लेकर युद्ध करने को उद्यत नहीं हूँ। लेकिन रश्मिरथी में दिनकर ने यह प्रसंग छोड़ दिया है।

कर्णो वा युद्धतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते।
स्पर्धते हि सदात्पर्थ सूतपुत्रो मया रणे॥
... ...

कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मते।
न चापि पदभाक् कर्णः पांडवानां नृपोत्तम॥

यह एक विचित्र विडम्बना है कि पांडवों के पथ-प्रदर्शक श्रीकृष्ण आद्यन्त कर्ण के प्रशंसक बने रहे। धर्म, दान, दया, परोपकार, सत्यवादिता, शौर्य पराक्रम, तेज सभी गुणों में कृष्ण ने कर्ण को अप्रतिम स्वीकार किया और उन्होंने कभी जातिगत, वंशगत, कुलगत नीचता की बात नहीं की। श्रीकृष्ण की दृष्टि में कर्ण सनातन वेद सिद्धान्तों का ज्ञाता धर्मशास्त्र पारंगत महापुरुष था—

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनम्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥
... ...

सिंहर्षभ गजेन्द्राणां बलवीर्य पराक्रमः।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः॥
तेजसावह्निसदृशो वायुवेग समोजवे।
अन्तकः प्रतिमाः क्रोधे सिंह सहननो वली॥

'रश्मिरथी' की भूमिका में कवि ने इस प्रबन्धकाव्य की रचना के प्रेरक तत्वों का संकेत करते हुए लिखा है कि "कुरुक्षेत्र की रचना कर चुकने के बाद ही मुझ में यह भाव जगा कि मैं कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं कुछ कथा-संवाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो।" कथा-काव्य की रचना के आनन्द को कवि ने खेतों में देशी पद्धति से जई उपजाने के आनन्द के समान माना है जिसमें जई के दानों के साथ कुछ घास और भूसा भी हाथ आता है, लहलहाती हरियाली देखने का सुख प्राप्त होता है और हल चलाने की मेहनत से तन्दुरुस्ती भी बनती है। इसके साथ ही कवि ने अपने कविकर्म की सफाई में दाहिने और बायें हाथ का रूपक ग्रहण कर यह भी ध्वनित कर दिया है कि कला की कसौटी पर 'रश्मिरथी' की रचना में उच्चस्तरीय उपकरणों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है क्योंकि बायाँ हाथ इसमें अधिक सक्रिय रहा है। प्रबंधात्मक रचना में वर्णन-प्रसंगों की भरमार से कला के कुंठित होने का भय तो रहता ही है, रश्मिरथी के भी इतिवृत्तात्मकता के अनेक प्रसंग हैं और वहाँ बायाँ हाथ स्पष्ट लक्षित होता है।

काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में भूमिका में कवि ने लिखा है कि 'यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है। कर्ण-चरित के उद्धार की चिन्ता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं जो उसके माता-पिता या वंश की देन है। इसी प्रकार व्यक्ति अपने निजी गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है वह भी इसमें

कोई बाधा नहीं डाल सकेंगे । कर्ण-चरित का उद्धार एक तरह से नयी भावना की स्थापना का ही प्रयास है ।'

'रश्मिरथी' का विश्लेषण करते समय मैं इसके कथ्य पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ । यों तो कर्ण का चरित महाभारत के पाठक के लिए नया नहीं है किन्तु 'रश्मिरथी' में जिस ओज और तेज से मंडित कर कवि ने उसे प्रस्तुत किया है वह पठनीय बन गया है । प्रथम सर्ग में जहाँ कर्ण रंगभूमि में अवतरित होता है वर्ग-संघर्ष की चुनौती उसके सामने हैं । जाति-गोत्र, कुल-वंश, माता-पिता आदि के गौरव को स्वीकार न करता हुआ वह पुरुषार्थ, शौर्य, पराक्रम, बल, विक्रम के द्वारा इतिहास में रेखा खींचकर अमर बनना चाहता है । जन्म दैवायत्त है, मनुज की अधिकार-सीमा से बाहर की बात; जिसके लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं उसकी चर्चा और चिन्ता क्यों की जाए—

किन्तु मनुज क्या करे ? जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,
चुनना जाति और कुल अपने बस की है बात नहीं ।

जन्म और जाति की हीनता कर्ण को कभी हतप्रभ नहीं कर सकी । वह रंगभूमि में कृपाचार्य द्वारा किये अपमान का बदला लेने के लिए कटिबद्ध हुआ तो केवल अपने बल-विक्रम का परिचय देने के लिए ही हुआ । कर्ण जानता था कि अर्जुन को परास्त करने के लिए सुयोग्य गुरु से शस्त्राभ्यास करना अनिवार्य है किन्तु एकलव्य की भाँति वह अन्ध गुरुभक्ति में नहीं फँसा । द्रोणाचार्य के निषेध से वह परशुराम की शरण में गया और अन्याय-अनीति का कोप भाजन बनकर भी उसने अपना मन छोटा नहीं किया । कर्ण के जीवन में मिथ्याचरण का केवल एक ही प्रसंग है और वह है ब्राह्मण कुमार बनकर परशुराम की गुरुभक्ति । अर्जुन और द्रोण से प्रतिशोध लेने के लिए कर्ण ने मिथ्या-कथन द्वारा परशुराम का शिष्यत्व स्वीकार किया और दुर्भाग्य से अपनी विलक्षण तितिक्षा एवं गुरुभक्ति के कारण ही परशुराम का कोप भाजन भी बना । जिस कर्ण को कृष्ण ने वृष की उपाधि देकर सत्यवादी, तपस्वी, नियतव्रत, दयावान कहा है वही गुरु-भक्ति में कपटाचरण करे यह कैसी विडम्बना है । इस संदर्भ को रश्मिरथी में चित्रित करते हुए दिनकर ने द्रोणाचार्य के मनोभावों का जो रूप खड़ा किया है वह कर्ण के इस कपटाचरण का उत्तर देने में समर्थ है । महाभारतकार ने द्रोणाचार्य के निषेध की चर्चा नहीं की है यह दिनकर की कल्पना है और परशुराम के पास कर्ण को छद्मवेष में ले जाने में सहायक है । इस प्रकार कर्ण अपने जीवन की दूसरी परीक्षा में भी खरा सिद्ध होता है ।

कर्ण की सत्यवादिता और अटूट मैत्रीभावना का परिचय हमें कृष्ण-कर्ण संवाद में मिलता है जब कर्ण अपना जीवनवृत्त जान लेने पर भी कृष्ण के बताये मार्ग का अनु-सरण नहीं करता । दुर्योधन से कर्ण को विमुख करने के समस्त प्रयत्न गर्म तबे पर पड़ी जल बिन्दु के समान दग्ध हो जाते हैं और कर्ण स्पष्ट शब्दों में कृष्ण से कहता है—

मित्रता बड़ा अनमोल रतन
कब इसे तोल सकता है धन?

धरती की तो है क्या बिसात ?
आ जाय अगर बैकुंठ हाथ,
उसको भी न्योछावर कर दूँ
कुरुपति के चरणों पर धर दूँ ।

कर्ण के जीवन में परीक्षा की यह तीसरी घड़ी थी जिसमें कर्ण ने अडिग रहकर अपनी सच्ची मैत्री भावना का परिचय दिया ।

कर्ण का उदात्त और अवदात चरित्त सुरपति इन्द्र को अपने कवच-कुंडल दान देते समय गौरव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है । कर्ण की दानशीलता महिमा मंडित होकर मानवता का मानदंड स्थापित करती हुई दृष्टिगत होती है । तपनोष्मतप्त पर्वत कुल को तथा दुर्दावव‍ह्नि विधुर वनों को शीतल जलवृष्टि से शान्त करने के बाद रिक्त हुए जलद में जिस प्रकार शोभा का विकास होता है उसी प्रकार अपने प्राणों से भी प्रिय कवच-कुंडल का दान देकर कर्ण ने गौरव-गरिमा के चरम बिन्दु का स्पर्श किया । 'रिक्तोसि यज्ज-लद सैव तवोत्तमाश्री ।' रश्मिरथी में कवि ने इस दान-प्रसंग को चरित्र-विकास के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा हुआ दिखाया है । कर्ण का दान-व्यापार विश्व के इतिहास में स्वर्णा-क्षरों में अंकित करने योग्य इसलिए बना कि यह छद्मवेषी इन्द्र को दिया हुआ दान था और उस दान में प्राणदान से भी अधिक महत्व अन्तर्हित था । रश्मिरथी में इस प्रकरण को बड़ी सटीक भाषा में विस्तार से लिखा गया है—

देवराज ! हम जिसे जीत सकते न बाहु के बल से,
है क्या उचित उसे मारें हम न्याय छोड़ कर छल से ?
हार-जीत क्या चीज़ ? वीरता की पहचान समर है,
सच्चाई पर कभी हार कर भी न हारता नर है ।

... ...

जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय-दान करता न प्राण को रखकर कोई जन है ।
मगर, प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं ।

... ...

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे ।

... ...

सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्म-हेतु धन, धाम लुटा देना जिनका व्रत होगा ।

कवच-कुंडल दान भी कर्ण की परीक्षा ही थी और इस चौथी परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कर्ण ने दान-माहात्म्य की सर्वोच्च मर्यादा स्थापित की थी ।

कर्ण के जीवन में पाँचवी परीक्षा की घड़ी ममता-मोह के पाश लेकर आई । कर्ण के पास कुन्ती का आना और अपने वात्सल्य का प्रकट करना कर्ण के लिए कठोर परीक्षा की घड़ी थी । कुन्ती का यह आगमन वस्तुतः कर्ण के प्रति वात्सलता के कारण नहीं

था, इसके मूल में अपने पुत्रों की ही विजय कामना थी । कुन्ती ने एक तरह मनोवैज्ञानिक प्रयोग द्वारा कर्ण को द्रवित करने के लिए उसकी मनोभूमि को दुलार के साथ स्पर्श करने का प्रयत्न किया था । कुन्ती जानती थी कि यदि कर्ण के मन में उसके जन्मकालीन निर्मम व्यवहार के प्रति रोष होगा तब भी वह पांडवों को अपना सहोदर जानकर कुछ पसीजेगा अवश्य, और हो सकता है कि किसी दुर्बलता के क्षण में वह पांडवों के प्रति ममतामय हो उठे । यदि यह सब न भी हुआ तब भी वह अपना जन्म वृत्तान्त जान लेने के बाद युद्ध भूमि में पहले जैसा दुर्दान्त न रह सकेगा, उसकी दुर्द्धर्षता में अन्तर आ ही जाएगा । कुन्ती ने आर्द्र वचनों से कर्ण के मन को छूने का, अपने पक्ष में लाने का भरसक प्रयत्न किया लेकिन कर्ण अपनी टेक से डिगा नहीं, उसने दुर्योधन का पक्ष छोड़ पाण्डव पक्ष में आना स्वीकार नहीं किया । उसने बड़ी संयत भाषा में कुन्ती से कहा—

हो चुका धर्म के ऊपर न्योछावर हूँ,
मैं चढ़ा हुआ नैवेद्य देवता का हूँ ।
अर्पित प्रसून के लिए न यों ललचाओ,
पूजा की वेदी पर मत हाथ बढ़ाओ ।

अर्पित प्रसून को पूजा की वेदी से उठाने का निषेध करने पर भी कर्ण ने कुन्ती को खाली हाथ वापस नहीं किया । उसने कुन्ती को अपने उत्सर्ग से धन्य कर दिया और अर्जुन को छोड़ किसी और पांडव को युद्ध में न मारने का वचन देकर अपनी दानशीलता का परिचय दिया । कर्ण का यह विवेकपूर्ण उत्सर्ग दान की तुला पर अदभुत, अप्रतिम और अतर्क्य है । यह महान उत्सर्ग और यह विलक्षण विवेक जिस न्यायतुला पर टंगे हैं वह तुला न तो कर्ण से पहले किसी के पास थी और न कर्ण के बाद कोई उसे पाने का अधिकारी बन सका।

कर्ण की छठी और अन्तिम परीक्षा युद्ध भूमि में हुई । उसने अपूर्व वीरता का परिचय देकर पांडव सेना में हाहाकार उत्पन्न कर दिया था । दिनकर की प्रिय शब्दावली में वह पृथ्वी का सूर्य और विभा का तूर्य होने जा रहा था । लेकिन उसके सामने विजय से भी बढ़कर धर्मनिष्ठा का आदर्श था । रह-रह कर उसके भीतर धर्मयुद्ध की भावना जाग रही थी और वह संकल्प दृढ़ स्वर में पुकार उठता था—

नहीं राधेय सत्पथ छोड़कर अघ-लोक लेगा,
विजय पाये न पाये रश्मियों का लोक लेगा !

कर्ण के निमर्म बाणों के प्रहार से युधिष्ठिर आहत हो गये थे किन्तु उसने युधिष्ठिर के प्राण हरण नहीं किये वरन् उन्हें कुशलपूर्वक युद्ध भूमि से जाने का अवसर दिया । उसने कुन्ती को वचन दिया था कि अर्जुन को छोड़ किसी अन्य पांडव का वह बध नहीं करेगा । शल्य ने कर्ण को बहुत समझाया कि सामने आये हुए शत्रु को जीवित छोड़ना क्षत्रिय का धर्म नहीं है किन्तु कर्ण ने कुन्ती को दिये अपने वचन की मर्यादा का पालन किया । कर्ण ने शल्य से कहा—

ये चार फूल हैं मोल किन्हीं
कातर नयनों के पानी के,

ये चार फूल प्रच्छन्न दान
हैं किसी महाबल दानी के।
ये चार फूल, मेरा अदृष्ट था
हुआ कभी जिनका कामी,
ये चार फूल पाकर प्रसन्न
हँसते होंगे अन्तर्यामी।

युद्ध की वेला में नागवंश का सर्प अश्वसेन कर्ण के तूणीर में चुपचाप आ बैठा और अर्जुन से अपना प्रतिशोध लेने के लिए उसने कर्ण से आग्रह किया कि वह शर के रूप में उसका प्रयोग कर अर्जुन का संहार करे। कर्ण ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और अश्वसेन को धिक्कारते हुए कहा कि मैं मानव जाति का प्रतीक हूँ, साँपों से मिलकर अपनी जाति का नाश करना घोर नीच कर्म है। मैं ऐसा जघन्य कर्म कभी नहीं कर सकता —

उस पर भी साँपों से मिलकर
मैं मनुज, मनुज से युद्ध करूँ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली,
उससे आचरण विरुद्ध करूँ?
... ...
संसार कहेगा जीवन का
सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया।
प्रतिभट के वध के लिए सर्पका
पापी ने साहाय्य लिया।

रश्मिरथी में इस प्रसंग को कवि ने मानवता के उच्च धरातल पर चित्रित किया है। कर्ण स्वार्थी, अवसरवादी मनुष्य न रह कर महान आदर्शों से प्रेरित सच्चा महा-मानव बनकर समाज में मानव मूल्यों का संस्थापक बनता है। सर्पवंश की कुटिलता को कर्ण ने मानव-समाज से दूर रखकर यह ध्वनित किया है कि भले ही स्वार्थ-साधन के लिए कुछ क्षुद्र मनुज विषधर बनना पसन्द करते हों किन्तु मानवता के विकास में सर्प की चाल घृण्य एवं गर्हित ही है उससे मनुष्य को दूर रहना चाहिए।

युद्धक्षेत्र में धर्मयुद्ध की भावना से जूझने वाले कर्ण का दुर्भाग्य नक्षत्र धूमकेतु के समान उदित हुआ और विजय की आसन्न वेला में कर्ण के रथ का पहिया पंक में फंस गया। रथ-चक्र को पंक से बाहर निकालने के लिए कर्ण शस्त्र फेंक कर चक्के को उठाने में लग गया। कर्ण को चक्के के उद्धार में लगा देख नीतिज्ञ कृष्ण ने अर्जुन को अनीतिपूर्ण आदेश दिया कि वह निहत्थे कर्ण का वध करने में विलम्ब न करे। अर्जुन नराधम नहीं था। वह इस आदेश को सुनते ही सहम गया और उसने कृष्ण से कहा कि यह नरोचित कर्म नहीं है। यह धर्मयुद्ध की नीति नहीं है। कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा कि यह समय धर्माधर्म-विवेक का नहीं है। यदि इस समय इस चिन्तन में फंसेगा तो तेरा काल तुझे ग्रस लेगा—

क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,
उलटकर काल तुझको ही ग्रसेगा।

अर्जुन को क्रिया शील होना पड़ा। उसने शस्त्रविहीन कर्ण को प्रखर वाणों से बींध दिया। अर्जुन ने धर्म-निष्ठ कर्ण पर अधर्म से विजय प्राप्त की। किन्तु इस विजय से पांडवों में भी अवसाद की गहरी छाया फैल गई। स्वयं श्रीकृष्ण भी कर्ण-वध से शोक मग्न होकर कह उठे कि विजय पा लेना मात्र पुरुषार्थ नहीं है, शील और चरित्र की मर्यादा स्थापित करना ही मनुष्य और मानवता की विजय है।

नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है,
विभा का सार शील-पुनीत में है।
... ...

हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित-तारक समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्भुत हृदय था।

'रश्मिरथी' में कर्ण को जीवन में छह परीक्षाओं का सामना करना पड़ा है और प्रत्येक परीक्षा में वह उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ लक्षित होता है। युद्धभूमि में उसे अन्तिम परीक्षा देनी पड़ी। यह परीक्षा एकघ्नी-विनाश के बाद रथचक्र के कीचड़ में फंसने तक निरन्तर जारी रही लेकिन कर्ण न तो हतप्रभ हुआ और न धर्म से विमुख होकर उसने धर्म-विरुद्ध आचरण किया। कविवर दिनकर ने कर्ण को इन परीक्षाओं की कसौटी पर खरा सिद्ध करने के लिए पौराणिक वृत्त में कुछ अन्तर नहीं किया है केवल वर्णन-माहात्म्य से इन प्रसंगों को दीप्त भर कर किया है। कवि धर्म से कर्ण के चरित्र में मानवीय गुणों का दर्शन जिस सहजता से हो जाता है वैसा इतिवृत्त के माध्यम से संभव नहीं था। मुझे रश्मिरथी पढ़कर लगा कि कवि ने कथ्य को दीप्त और दिव्य बनाने के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास न कर उसे अपनी शैली से ही संवेद्य बना दिया है।

कर्ण का चरित्र-वर्णन करते हुए रश्मिरथी में अवान्तर कथा-प्रसंगों को छोड़ दिया गया है। मेरी अपनी दृष्टि से यह पद्धति श्रेयस्कर ही सिद्ध हुई है। हाँ, कलिंग युद्ध का प्रसंग यदि कहीं अट सकता तो कर्ण के पराक्रम को व्यक्त करने का प्रत्यक्ष प्रसंग काव्य में आ सकता था। दूसरा एक छोटा-सा प्रसंग और था जो कर्ण के पुरुषार्थ और शौर्य के प्रस्फुटन की दृष्टि से उपयुक्त था। वह प्रसंग है अश्वत्थामा और कर्ण का वाक् युद्ध। भट्टनारायण ने इस प्रसंग को अपने नाटक में स्थान देकर कर्ण के मानवीय गुणों का उद्घाटन किया है।

'रश्मिरथी' आधुनिक युग-चेतना का वाहक काव्य है। आधुनिक युगचेतना जितने पारदर्शी रूप में कर्ण के चरित्र में झलक रही है कदाचित् उस युग के किसी अन्य पात्र के चरित्र में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। दिनकर ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है, मानवीय गुणों की पहचान का युग है, निजी गुणों से अर्जित पद प्राप्त करने का युग है। उपेक्षित कर्ण के उद्धार के लिए

कवि ने कथा-प्रसंगों के साथ अपने काव्य शिल्प और वर्णन से जो नूतन युगबोध उत्पन्न किया है वह पठनीय एवं मननीय है। प्रारम्भ में ही कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि हीन-मूलता का विचार परम्परावादी विचार है, वीर व्यक्ति के लिए वह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि 'वीर खींच कर ही रहते हैं इतिहासों में लीक' इतना ही नहीं आज के युग की पुकार को और अधिक उग्र और स्पष्ट करते हुए दुर्योधन के मुख से कवि ने कहलवाया है—'बड़े वंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम। नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, नहीं वंश धन, धाम।' बात तो सोलहो आने सही है लेकिन कही दुर्योधन ने है जो खोटे काम भी करता था, जिसका चरित्र भी उज्ज्वल नहीं था। ये शब्द यदि कर्ण के मुख से निकलते तो निश्चय ही इनका प्रभाव पाठक पर अपेक्षाकृत अधिक होता।

कथा और वर्णन प्रधान होने के कारण रश्मिरथी काव्य में स्थिरता न होकर प्रवाहपूर्ण गति है। कर्ण-चरित के माध्यम से कवि ने रुढ़िवादिता और जड़ विश्वासों को झकझोरने का सफल प्रयास किया है। कर्ण के उपेक्षित जीवन को नया सामाजिक अर्थ प्रदान करने और वैचारिक रूप से उसके तिरस्कार का वैज्ञानिक विश्लेषण इस काव्य में उपलब्ध होता है। कर्ण आहूत और अनाहूत परिस्थितियों में सुस्थिर रहकर, अपना मार्ग बनाता है, वह विरोध और संघर्ष से टूटकर हताश होने वाला व्यक्ति नहीं है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं रश्मिरथी सामाजिक जीवन के अभिशापों को मिटाने के लिए सांस्कृतिक स्तर पर कलाकर और कला का दायित्व निर्वाह करने वाला काव्य है। अन्तिम युद्ध में कर्ण अनय से पराजित होकर समाप्त हो जाता है किन्तु अधर्म और अन्याय के प्रति समर्पित नहीं होता। मानवता और मानवीय गुणों के प्रति उसकी आस्था जीवन के अन्तिम क्षण तक दीप्त रहती है और प्रतिकूल परिस्थितियों में उसे अधिकाधिक तेजो-दीप्त होते हुए देखा जा सकता है। कर्ण किसी लोकोत्तर सत्य का अन्वेषी न होकर लोक में अनादृत, अस्वीकृत लोक-सत्य को ही स्थापित करने और मनवाने का सतत प्रयास करता है। रश्मिरथी में कवि ने इसीलिए कृष्ण के प्रसंग में तो अलौकिक घटना का उल्लेख किया है, कर्ण को किसी अलौकिक या अमानवीय घटना का विधाता या स्वीकर्ता नहीं माना।

'रश्मिरथी' यों तो पौराणिक प्रबन्ध काव्य है किन्तु दिनकर ने अपनी कवि-प्रकृति और कवि-कर्म के अनुकूल ऐसे प्रसंगों की अवतारणा कर ली है जो चिन्तन-मनन के साथ आज की ज्वलन्त समस्याओं से सम्पृक्त हैं। युद्ध-विवेचन दिनकर का प्रिय विषय रहा है। 'कुरुक्षेत्र' से 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक हम कवि के युद्ध-विवेचन की प्रिय परम्परा को देख सकते हैं। 'रश्मिरथी' भी इसका अपवाद नहीं है। समरश्लाघी कर्ण के चरित-वर्णन में युद्ध-विवेचन न हो यह संभव भी नहीं है। द्वितीय सर्ग में परशु-राम कर्ण को प्रबोधते हुए वीरत्व का रहस्य बताते हैं और उसी संदर्भ में ब्राह्म तेज और क्षात्र तेज की तुलना करते हैं। क्षात्र तेज के अभिमानी क्षत्रिय राजा अपनी प्रतिष्ठा के लिए युद्ध ठानते हैं और ब्राह्मण वर्ग का अपमान करते हैं इसलिए आवश्यक है कि ब्राह्मण भी रण-कौशल में पारंगत होकर क्षत्रियों को सही मार्ग पर चलना सिखावें। परशुराम ने कहा है—'भूप समझता नहीं और कुछ छोड़ खड्ग की

भाषा को।' षष्ठ सर्ग में कवि ने रण की अनिवार्यता को स्वीकार न करते हुए विचार के धरातल पर उसके अवांच्छनीय रूप का विश्लेषण किया है। युद्ध पशुता का द्योतक, नरसंहार का जनक और मानव जाति का कलंक है। फिर भी युद्ध में मनुष्य प्रवृत्त होता है यही मनुष्य का दुर्भाग्य है। कवि की मान्यता है कि जब तक स्वार्थ लोलुप मनुष्य युद्धरत रहेगा तब तक मानवता का पूर्ण विकास संभव नहीं है। युद्ध भौतिकता की देन है। भौतिक विज्ञान के विकास-चरण ज्यों-ज्यों पृथ्वी से आकाश की ओर बढ़ रहे हैं त्यों-त्यों युद्ध और अणु आयुधों की होड़ बढ़ रही है। सचमुच ही मनुष्य का पशुत्व अभी निश्शेष नहीं हुआ है—

> **झर गयी पूँछ, रोमान्त झरे,**
> **पशुता का झरना बाकी है।**
> **बाहर, बाहर तन सँवर चुका**
> **मन अभी सँवरना बाकी है।**

इसी सर्ग में भीष्म ने भी युद्ध से कर्ण को विरत करने के लिए युद्धोन्माद के घातक परिणामों का वर्णन किया है। युद्ध से सात्विक वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, मनुष्य केवल तमोगुणी होकर संहार और विनाश में ही विश्वास करने लगता है। भीष्म ने बड़े अनुताप के स्वर में कहा है—

> **पर हाय, वीरता का संबल,**
> **रह जायेगा धनु ही केवल?**
> **या शान्ति-हेतु शीतल, शुचि-श्रम**
> **भी कभी करेंगे वीर परम?**
> **ज्वाला भी कभी बुझायेंगे?**
> **या लड़कर ही मर जायेंगे?**

'रश्मिरथी' का नायक कर्ण दानशीलता का अप्रतिम निदर्शन है। दान करने का प्रसंग आते ही वह सब कुछ उत्सर्ग करने को सहर्ष उद्यत हो जाता है। दान-महात्म्य को कर्ण धर्म की भावना से पुण्यार्जन करने के लिए नहीं वरन् कर्त्तव्य-भावना से सात्विक आनन्द प्राप्त करने निमित्त ही स्वीकार करता है। दान और उत्सर्ग का भी इस काव्य में बड़ा विशद वर्णन हुआ है—

> **जो नर आत्मदान से अपना जीवन-घट भरता है,**
> **वही मृत्यु के मुख में भी पड़कर न कभी मरता है।**
> **जहाँ कहीं है ज्योति जगत् में जहाँ कहीं उजियाला,**
> **वहाँ खड़ा है कोई अन्तिम मोल चुकाने वाला।**

दान-महिमा प्रसंग में कवि ने उन सभी महादानियों का उल्लेख किया है जिन्होंने मानव जाति के कल्याण के लिए दान के चरम उत्सर्ग को स्वीकार किया था। लेकिन इस प्रसंग में कवि ने यह ध्यान नहीं रखा कि वह द्वापर युग के एक पौराणिक चरित का वर्णन कर रहे हैं। उस युग के वर्णन में कलयुग के ईसामसीह, सरमद, सुकरात, मंसूर और गांधी का वर्णन इतिहास की दृष्टि से त्रुटि है। यह त्रुटि काव्य में दो स्थलों पर

हुई है ।

कर्ण-चरित को उपन्यस्त करने में दिनकर ने महाभारत का प्रायः अनुसरण किया है। जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे परिवर्तन हैं किन्तु उनके कारण मूलकथा में कहीं विपर्यास नहीं आया है। कर्ण के मानस-द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए कवि ने इन्द्र-कर्ण संवाद, कुन्ती-कर्ण संवाद और भीष्म-कर्ण संवाद में अपनी कल्पना शक्ति के योग से वैचारिक तत्व को गांभीर्य प्रदान किया है। कर्ण का कुन्ती के प्रति जो भाव महाभारत में मिलता है उसे दिनकर ने अपनी कलम से कोमल बना कर अंकित किया है। महाभारत में भी कर्ण को आदर्श व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किया गया है। जातिगत या वंशगत निम्न होते हुए भी कर्ण का चरित्र सर्वत्र उदात्त और अवदात ही है। यहाँ तक कि उसका प्रतिद्वन्द्वी अर्जुन भी कर्ण की प्रशंसा करता है। रश्मिरथी में इस तथ्य का उद्घाटन कहीं नहीं हुआ। कर्ण के उद्धार की बात कह कर यही मान लिया गया है जैसे महाभारत में कर्ण उपेक्षित होने के साथ कोई सामान्य व्यक्ति रहा होगा। कर्ण की दिग्विजय यात्रा का प्रसंग भी रश्मिरथी में छोड़ दिया गया है यदि उसे समेट लिया जाता तो कर्ण के शौर्य-पराक्रम को उजागर करने का अच्छा सुयोग कवि प्राप्त कर सकता था। दिनकर ने महाभारत के आठ पर्वों से रश्मिरथी की सामग्री संकलित की है। सामग्री को यथावत् रखते हुए भी कवि कर्म से उसमें गरिमा उत्पन्न करने में कवि पूर्ण सफल हुआ हैं। कर्ण चरित का उद्धार करने के लिए रश्मिरथी में कर्ण के एक खेद का वर्णन दिनकर ने किया है जो महाभारत में नहीं है। दुर्योधन द्वारा द्रौपदी का अपमान कर्ण के पश्चाताप का विषय बनाकर कर्ण के चरित का यह उन्नयन दिनकर की अपनी कल्पना है। दिनकर के सामने कर्ण एक विवेकी, सदाचारी, धर्मपरायण, दानी, मानी, वीर व्यक्ति ही रहा है अतः इस प्रकार के कल्पित वर्णनों का समाधान हो जाता है।

'रश्मिरथी' की रचना में उपेक्षितों के उद्धार के प्रयास के साथ व्यक्ति-मानव की प्रतिष्ठा का भी उद्देश्य बना रहा है। वैयक्तिक गुणों के आधार पर व्यक्ति का मूल्याँकन जब तक समाज में स्वीकार्य नहीं होगा तब तक व्यष्टि गुण से पुष्ट समष्टि का निर्माण संभव नहीं है। सामाजिक दृष्टि का निर्माण व्यक्ति की इकाई को पृथक् रखकर करना असंभव है। व्यक्ति अपने आप को नियति के ऊपर छोड़कर, निरीह बनकर जीवित भले ही रह सके किन्तु किसी आदर्श की स्थापना वह नहीं कर सकता। कर्ण को नियति से जूझना पड़ा, समाज से लड़ना पड़ा, उच्च वर्ग से संघर्ष करना पड़ा, धन-वैभव के अभाव से टकराना पड़ा लेकिन सभी संघर्षों में वह विजयी हुआ। कर्ण की इस विजय-यात्रा का स्तवन ही रश्मिरथी में किया गया है।

रश्मिरथी की रूप-विधा की चर्चा भी दो शब्दों में करना आवश्यक है। वस्तुतः आधुनिक युग में काव्य रचना के साथ परम्परागत काव्य विधाओं का पालन अनिवार्य नहीं रह गया है। प्रबन्ध काव्य लिखते समय महाकाव्य की रूढ़ियों का निर्वाह आज का कवि नहीं करता, फिर भी कुछ तत्व ऐसे हैं जो निसर्गतः रचना में स्थान पा जाते हैं जैसे कथा, पात्र, चरित्र-चित्रण, प्रकृतिवर्णन, मानसिक संघर्ष वर्णन आदि। रश्मिरथी में भी ये सभी तत्व स्थान-स्थान पर मिलते हैं फिर भी महाकाव्य की मूल-

भूत चेतना जो समग्रता और परिपूर्णता के साथ युगीन जीवन तथा युग निरपेक्ष शाश्वत जीवन मूल्यों के साथ व्यक्त होती है रश्मिरथी में नहीं है। कर्ण का चरित उतने व्यापक परिवेश में फैला हुआ न होने से महाकव्य की सम्पूर्णता की आशा करना व्यर्थ है। यह प्रबंध महाभारत का एक संदर्भ है और इसी दृष्टि से प्रबन्धात्मक खंडकाव्य ही ठहरता है। जिन समीक्षकों ने इसे महाकाव्य ठहराया है उनके मानदंड न तो प्राचीन हैं और न अर्वाचीन। यदि दोनों में से किसी भी मानदंड को उन्होंने प्रमाण माना होता तो इसे सफल महाकाव्य न कहते। कवि ने बायें हाथ का प्रयोग जिस लक्षणा से प्रयुक्त किया है उसका संधान करना रश्मिरथी में कठिन नहीं है। अनेक ऐसे स्थल हैं जो द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक काव्य के प्रवाह में रचे गये प्रतीत होते हैं, वहाँ बायाँ हाथ ही सक्रिय रहा है।

'रश्मिरथी' के गुण-दोषों की परीक्षा करना मेरा ध्येय नहीं है मैंने केवल विश्लेषण को अपनी समीक्षा का अंग बनाया है। कर्ण के चरित पर तीन-चार प्रबन्ध काव्य हिन्दी में और लिखे गये हैं, यदि उनकी तुलना में रश्मिरथी पर विचार किया जाए तो इसकी श्रेष्ठता अनेक संदर्भों में उभरकर सामने आ जाती है। मैं इस प्रकार की किसी तुलना में भी उलझना नहीं चाहता। कर्ण की जीवन कथा के व्याज से आधुनिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में यदि कवि सफल हुआ है तो निश्चय ही रश्मिरथी हिन्दी की एक प्राणवान रचना है। इस रचना के माध्यम से पुरुष और पुरुषार्थ दोनों का महत्व प्रतिष्ठित हुआ है—

मगर यह कर्ण की जीवन-कथा है
नियति का, भाग्य का इंगित वृथा है,
मुसीबत को नहीं जो झेल सकता,
निराशा से नहीं जो खेल सकता,
पुरुष क्या, शृंखला को तोड़ करके,
चले आगे नहीं जो जोर करके ?

रश्मिरथी और महाभारत का कर्ण प्रसंग

विनय कुमार

भारतीय महाकाव्यों में भारत के महिमामय अतीत को वाणी मिली है। इन्हीं महाकाव्यों (रामायण-महाभारत) के द्वारा आज हम अपने गरिमा-मंडित प्राचीन को यथावत् देख सकते हैं। 'वाल्मीकि' और 'व्यास' दोनों महाकवियों ने तत्कालीन भारतीय जीवन का सांगोपांग चित्रण इस रूप में किया कि वह एक व्यक्ति, काल अथवा देश की वस्तु न रहकर सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई। इन महाकाव्यों में हमारी जातीय, सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा की प्राण-प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि समीक्षात्मिका बुद्धि की अनवरत चोटों से प्रताड़ित भारतीय हृदय इन ग्रन्थों के प्रति अविश्वसनीय नहीं हो पाता और प्रत्येक युग अपनी चिन्तन धारा के अनुरूप इन महाकाव्यों से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है।

साहित्यिक चिन्तन धारा के विकास के क्षेत्र में 'रामायण', 'महाभारत' का महत्व इस कारण और भी बढ़ जाता है, कि पुनरुत्थान युग का अधिकांश साहित्य इन्हीं ग्रन्थों को उपजीव्य बना कर लिखा गया है। इनमें भी प्रभाव-परम्परा की दृष्टि से 'महाभारत' का स्थान महत्वपूर्ण है। इसका कारण है कि महाभारतकार ने जीवन को उसके समग्र रूप में, प्रस्तुत महाकाव्य में उपस्थित किया है। जीवन का वैविध्य और वैपरीत्य जितना 'महाभारत' में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र नहीं। जीवन के सहज विकास में जिन सिद्धान्तों का निर्माण हुआ, मानवेतर शक्ति की स्वरूप कल्पना में जिन दर्शनों का अभ्युदय हुआ और व्यवहार के क्षेत्र में जीवन को जिस प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण से देखा गया—वे सम्पूर्ण विधि विधान किसी न किसी रूप में 'महाभारत' में विद्यमान हैं[1]। 'महाभारत' के इस सार्वभौम महत्व के कारण आधुनिक युग का कवि तत्कालीन चिन्तन की पृष्ठभूमि पर नवीन युग को मानवता का नया संदेश देने में समर्थ हुआ है।

'महाभारत' के सभी प्रसंग पुरुषार्थ चतुष्ट्य के किसी न किसी वर्ग की व्यावहारिक सिद्धि के हेतु आये हैं। इनमें जीवन का प्रत्येक पक्ष मुखर हुआ है। इस कारण उपजीवक काव्यों के रचयिताओं ने अपने सिद्धान्त के अनुरूप महाभारत के प्रसंग का चयन कर

---

१. धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति नतत्क्वचित्। म० आदि० ६२।५३

काव्य रचना की है। इससे भारत-धर्म को स्वीकार करने वाले कवियों ने, वर्तमान युग के परिवेश में कर्म से विमुख पराधीन जाति में कर्म-सौन्दर्य का आलोक जागृत किया और वैभव-सम्पन्न अतीत की आधार-शिला पर उसे सुदृढ़ होने का वरदान देकर स्वतंत्रता के प्रकाश से मंडित किया।

महाभारत का कर्ण प्रसंग

'महाभारत' के कथा-प्रवाह के अनेक प्रसंगों में दानवीर कर्ण की कथा व्यक्ति के पौरूष और कर्म-सौन्दर्य की कथा है। कर्ण 'महाभारत' का यशस्वी पात्र है। उससे जीवन से सम्बन्धित सभी घटनाओं में एक ऐसा मर्म विद्यमान है जिसके उद्घाटन से पौरूषहीन जाति में कर्म के प्रति आस्था का जागरण नितान्त स्वाभाविक है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में एक ओर वर्ण व्यवस्था की सतर्कता कर्मानुसार व्यक्ति की जाति का निर्वाचन, और गुणों के अनुसार व्यक्ति के महत्व की स्वीकृति स्पृहणीय है तो दूसरी ओर कुल-जाति-विहीन पुरुषत्व का शतशः कण्ठित गान भी अभिनन्दनीय है। धर्म की गति जितनी सूक्ष्म है उतनी ही सूक्ष्म उसकी व्यावहारिक उपचर्या। इसी आधार पर महाभारतकार ने कर्ण का चरित्रांकन किया है। कर्ण के जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक उत्थान-पतन आये। यह नहीं कि महाभारत के अन्य पात्रों का जीवन समरस रहा, किन्तु स्थिति-सापेक्ष मानसिक संघर्ष जितना कर्ण के जीवन में रहा, उतना किसी अन्य पात्र के जीवन में प्राप्त नहीं होता। कौरव-पाण्डवों के संघर्ष के मध्य कर्ण का नाटकीय रूप में आना और इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना केवल सामरिक नीति के कारण ही नहीं हुआ, अपितु उसके लिए सामाजिक जीवन-पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया। इस असाधारण व्यक्तित्व से सम्बद्ध असाधारण घटनाएँ आज के कवि को युग-निरपेक्ष घटना के रूप में दिखाई देती हैं। उसे कर्ण का चरित्र, कर्ण-जीवन की घटनाएँ—अनेक सामाजिक मान्यताओं पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करती हैं। उच्चकुल में उत्पन्न होकर भी जो हीन-जन्मा रहा, पौरुष की अदम्यता के होते भी सर्वदा हारता रहा और अन्त में दैवीय छलना के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुआ, ऐसे कर्ण का जीवन वर्ण-व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक-पद्धति की नई व्याख्या की प्रेरणा देता है। इस प्रसंग से कवि समाज की उन मान्यताओं का मूलोच्छेदन करता है जो आज भी समाज की प्रगति में बाधक हैं।

कर्ण की कथा : जन्म—दो कथान्तर

कर्ण के जन्म, कुन्ती और सूर्य द्वारा समागम और कवच-कुण्डल-हरण-कथा 'महाभारत' में दो कथान्तरों के साथ प्राप्त होती है। आदिपर्व वाली कथा संक्षिप्त और वनपर्व वाली कथा वृहत्तर है। आदिपर्व में भी पिता के घर आये दुर्वासा की सेवा और स्पष्ट रूप से पुत्र-हेतु वर-प्राप्ति की कथा दो स्थानों पर आई है[1]। दोनों प्रसंगों में भेद यह है कि प्रथम में सामान्यतः वर देने की बात कही गई है, किन्तु द्वितीय प्रसंग में कुन्ती के भावी संकट की ओर संकेत किया गया है—

---

१. महाभारत, आदि पर्व ६७।१३२-१३३, ११०।४-५

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया
अभिचाराभि संयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ।[1]

हमारा विचार है कि यह स्पष्टीकरण कुन्ती के चरित्र रक्षा हेतु किया गया है।

कथा का द्वितीय वृहत्तर रूप वनपर्व में वर्णित है[2]। सूर्य स्वप्न में कर्ण को दर्शन देकर इन्द्र को कवच कुण्डल न देने की चेतावनी देते हैं। कर्ण अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहता है, किन्तु सूर्य के देवराज इन्द्र से एकघ्नी माँग लेने के परामर्श को स्वीकार कर लेता है। यह वृहत्तर रूप यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक है। कुन्ती सूर्य के साथ समागम करने से पूर्व मानसिक और सामाजिक भय का प्रदर्शन करती है। इसपर सूर्यदेव अपनी शक्ति से कुन्ती को भयभीत करते हैं। इस स्थल पर महाभारतकार ने कुन्ती के मुख से विवाह के सामाजिक नियम की विवेचना अत्यधिक सटीक रूप में की है। कुन्ती कहती है कि 'मेरे माता-पिता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीर को देने का अधिकार रखते हैं...मैं अपने धर्म का लोप नहीं करूँगी।' कुन्ती इस नियम का सशक्त प्रतिपादन करती है कि स्त्रियों के सदाचार में शरीर की पवित्रता बनाये रखना ही प्रधान है। इसके उत्तर में सूर्य कुन्ती को आश्वासन देते हैं कि उनके साथ समागम के उपरान्त भी वह सती-साध्वी रह सकती है।

इस प्रसंग में कथा की वास्तविकता की रक्षा का पूर्ण प्रयास किया गया है। अमोघशक्ति देते समय इन्द्र कर्ण को चेतावनी देते हैं, किन्तु कर्ण उसे यथार्थ रूप में स्वीकार करता हुआ अपने पौरुष के प्रति आश्वस्त रहता है। ऐसा लगता है कि देवत्व और मनुजत्व के भीषण संग्राम में देवत्व विजय-प्राप्ति-हेतु सभी साधन संगृहीत कर लेता है। कर्ण का जन्म जितनी विकट परिस्थितियों में हुआ उससे भी अधिक भयंकरताएँ उसके जीवन में आईं। और वह इन सबको झेलता हुआ अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप छोड़ गया।

कर्ण से सम्बद्ध कथानक में रंगभूमि प्रसंग, परशुराम से शस्त्र प्राप्ति, दिग्विजय, कर्ण-कुन्ती मिलन आदि ऐसे मार्मिक प्रसंग हैं जिनमें महाभारतकार ने निष्पक्ष रूप से व्यक्ति के पौरुष का गान किया है।

कर्ण के जीवन पर लिखे गये सभी प्रबन्ध काव्यों में कवि की दृष्टि कर्ण के चारित्रिक उत्थान की ओर रही है। इस प्रसंग से उसने आज के युग में जातिगत वैषम्य का सशक्त विरोध करते हुए कर्म को सहज गुण के रूप में व्यक्त किया है। कर्ण के जीवन का सन्देश यही है कि फल प्राप्ति की आसक्ति को त्यागकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया जाय। कर्ण-जन्म की घटना तत्कालीन सामाजिक न्याय के विरुद्ध रही अतः यह प्रकट होने पर भी कि वह उच्चकुल जन्मा है, वह उपेक्षित रहा। दिनकर ने 'रश्मिरथी' में अत्यधिक उदार दृष्टि से यह समझाने का प्रयास किया कि ऐसी विषम परिस्थिति में एक वीर व्यक्ति का क्या दृष्टिकोण हो सकता है।

---

१. महाभारत, आदि पर्व, ११०।५

२. महाभारत, वन अध्याय पर्व, ३००-३१०.

रश्मिरथी का वस्तु-विकास

'रश्मिरथी' की रचना कर्ण प्रसंग पर आधारित है। कवि की दृष्टि कर्ण के उदात्त चरित्र के उद्घाटन की ओर रही है। मानव के कतिपय गुण, दान, दया, धर्म पालन, ओज, वीरत्व, कर्म में विश्वास, मैत्री आदि कर्ण के व्यक्तित्व का आधार रहे हैं। दिनकर कर्ण की कथा के संदर्भ में उक्त गुणों की स्थापना पर बल देते हैं—आज का मानव इन स्वभावज गुणों के अभाव में स्वयं में दुखी, सामाजिक व्यवस्था से त्रस्त, और जीवन से भयभीत है अतः एक उच्चादर्श-सम्पन्न जीवन की कल्पना के लिए भाग्य के साथ पुरुषार्थ के चरम आलोक की अपेक्षा है। यह आलोक कर्ण के चरित्र में विद्यमान है, जिससे प्रेरणा प्राप्तकर आज का जाति-विहीन मानव मानवीय गुणों के बल पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है।

दिनकर ने 'महाभारत' की कथा का वही भाग 'रश्मिरथी' में ग्रहण किया है जो उनके जीवन-दर्शन की उपस्थापना में सहायक हो सके। 'रश्मिरथी' की कथा का प्रारम्भ वीर की प्रशस्ति और कर्ण के जन्म-परिचय से होता है। रंगभूमि के प्रसंग में 'महाभारत' का कर्ण अर्जुन को ललकारता है—

पार्थ यत ते कृतं कर्म विशेष वदहं ततः
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।[1]

'रश्मिरथी' का कर्ण उसी व्यंग्य में कहता है—

तूने जो-जो किया, उसे मैं भी दिखला सकता हूँ,
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।[2]

कवि ने 'महाभारत' के कर्ण के मानसिक औदात्य को पूर्ण शक्तिमत्ता के साथ व्यक्त किया है। कर्ण-अर्जुन के द्वन्द्व की स्थिति में, कृपाचार्य जाति की आड़ लेकर कर्ण को हतप्रभ करने की चेष्टा करते हैं। मूल ग्रन्थ में दुर्योधन आचार्य के प्रश्न का उत्तर देता है किन्तु वैज्ञानिक युग के कवि का कर्ण ऐसे किसी माध्यम को स्वीकार न करता हुआ अपने अहं का विस्फोट स्वयं करता है—

जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाषंड
मैं क्या जानूँ जाति ? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड
... ...
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।[3]

कर्ण के माध्यम से दिनकर आज के मानव के कर्म-दीप्त पौरुष का आख्यान करते हुए जाति के 'लेबल' को निरर्थक सिद्ध करते हैं। आज का मानव उस एकान्त स्थिति से बहुत आगे आ चुका है जहाँ उसका प्रत्येक कार्य उसकी वैयक्तिक आशा-निराशा हानि-लाभ का द्योतक था। आज वह सम्पूर्ण जीर्ण बन्धनों पर पदाघात करता हुआ

---

१. महाभारत, आदि पर्व १३५।९
२. रश्मिरथी, पृ० ३
३. रश्मिरथी, पृ० ४-५

स्वअर्जित सम्पत्ति का स्वामी है और उसका यह विश्वास भी दृढ़ है कि सामाजिक प्रतिष्ठा भी अन्ततः ! मानव की स्वयं अर्जित सिद्धि है।

'रश्मिरथी' के आचार्य द्रोण आधुनिक कुल-गोत्र सम्पन्न मठाधीश के प्रतीक हैं क्योंकि उच्च जाति किसी भी रूप में तथाकथित निम्न वर्ग को उभरने नहीं देना चाहती। द्रोण की प्रतिज्ञा है कि—"मैं—शिष्य बनाऊँगा न कर्ण को यह निश्चय है बात।"

उक्त प्रसंग के उपरान्त दिनकर ने शान्ति पर्व के नारदोक्त उपाख्यान को ग्रहण किया है। यहाँ पर कवि परशुराम के व्यक्तित्व में शक्ति और शील के समन्वय पर बल देता है। केवल शील दुर्बलता का परिचायक और आत्म प्रवंचना है, केवल शक्ति पशुबल है। अतः जीवन का कल्याण शक्ति शील के सामंजस्य में है। दिनकर ने जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' में 'ज्वलित प्रतिशोध' को आपद्धर्म के रूप में मान्यता दी है, तद्वत् 'रश्मि-रथी' में कवि शील को शस्त्र ग्रहण करने की प्रेरणा देता है। 'कुरुक्षेत्र' का सैद्धान्तिक पक्ष 'रश्मिरथी' में आकर व्यावहारिक उपचर्या की उपस्थापना करता है। परशुराम के व्यक्तित्व में क्षात्रधर्म और ब्राह्मणधर्म के संयोग से आततायी को समूल नष्ट करने की भावना का प्रतिपादन किया गया है। धर्म और जीवन की रक्षा हेतु यह समन्वय आव-श्यक है, क्योंकि उद्धत राजत्व को केवल मन्त्रोच्चारण से नहीं रोका जा सकता, उसके लिये गंगा जल की कोई कीमत नहीं, उसे रोकने के लिए ब्राह्मण का शस्त्र उठाना परम धर्म है इसी प्रसंग में कवि असत्य और छल से प्राप्त सिद्धि की व्यर्थता परशुराम के शाप में सिद्ध करता है। परशुराम शाप देते हैं कर्ण लौट आता है।

'रश्मिरथी' के तृतीय सर्ग में कृष्ण और कर्ण का संवाद वर्णित है। कृष्ण साम-रिक नीति की आवश्यकतानुसार कर्ण को पाण्डव पक्ष में करने का प्रयास करते हैं किन्तु असफल होते हैं। 'रश्मिरथी' का कर्ण दुर्योधन के पक्ष को छोड़ना अस्वीकार करता है। वह मित्र धर्म की स्थापना करता हुआ मित्र-द्रोह को मानव का पातक बताता है। दिनकर ने 'महाभारत' की कथा के दिव्य अंशों को छोड़ दिया है क्योंकि आज का बुद्धि-वादी मानव इन्हें स्वीकार करने में असमर्थ है। इसके साथ उस कथांश के दिव्य रूप को सामाजिक जीवन-पद्धति के अनुरूप ग्रहण कर नवीन परिवर्तन किया है। मूलकथा का प्रत्येक परिवर्तन युग-सापेक्ष चिन्तन प्रक्रिया पर आधारित है। जिन बातों को उस युग ने मानव की वैयक्तिक सिद्धि मानकर व्यक्त किया, आज वे ही सारी बातें सामाजिक सिद्धि की परिचायक बनकर व्यक्त हुई हैं।

कवच-कुण्डल का प्रसंग एक राजनैतिक दावपेंच के रूप में माना जा सकता। दिनकर ने उसे राजनीति तक ही सीमित करके नहीं देखा अपितु मानव-धर्म के अंग-रूप में चित्रित किया है। कवि दानधर्म की व्यापक महत्ता का आलेखन करता है और दान को मानव का प्रकृत धर्म उद्घोषित करता है। इस प्रसंग में कवि भारत-धर्म का आख्यान करते हुए दान को जीवन का सर्वोच्च समर्पण बताता है और उसी में उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापक परिणति मानता है।

मूलग्रन्थ में इन्द्र सीधे कवच-कुण्डल की याचना करते हैं। कर्ण कुछ और लेने के लिए कहता है किन्तु देवराज अपनी याचना पर अडिग हैं। इसपर कर्ण देवराज से

उनकी शक्ति की याचना करता है। और यह आदान-प्रदान एक राजनैतिक समझौते का रूप धारण कर लेता है।

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रा वहास्यताम्।।
यस्माद् विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोतमम्।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा।।[1]

दिनकर ने इस राजनैतिक समझौते की प्रकृति को परिवर्तित करके मानवीय संवेदना को उभारा है। इससे कर्ण का चरित्र और भी उज्ज्वल रूप में अंकित होता है। कर्ण बार-बार इन्द्र के द्वारा संकोच प्रकट करने पर कहता है—

विप्रदेव मांगिए छोड़ संकोच वस्तु मन चाही।
मरूँ अयश की मृत्यु करूँ यदि एक बार भी नाही।।[2]

इतनी उत्कंठा—उद्वेलन और इतनी निर्मम याचना। 'रश्मिरथी' के लेखक ने यह प्रसंग मानवता के चैतन्य-शिखर से मंडित करके लिखा है। इन्द्र उस छली-कपटी आततायी का प्रतीक है जो अवसर पड़ने पर भिक्षुक बनकर सत्व का हरण करने को तत्पर है, और कर्ण दानव्रत के उस प्रकाश से आलोकित है, जहाँ मानव यह जानकर भी कि वह छला जा रहा है; अपने प्रण को नहीं छोड़ता।

वस्तुत: 'रश्मिरथी' में 'महाभारत' के सभी प्रसंगों को मनुजत्व के प्रतिपादन के लिए ग्रहण किया गया है। दिनकर की दृष्टि में मनुजत्व दान में है, और ऐसा दान जो व्यक्ति को क्षुद्र अहं की सीमा से उठाकर परार्थ के लिए संचालित करता है, मानवता का चरम रूप है। दिनकर ने इस स्थल पर इन्द्र के हृदय का परिवर्तन मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा के लिए किया है। दिनकर के इन्द्र कर्ण के कवच-कर्त्तन दृश्य को देखकर आत्म ग्लानि अनुभव करते हैं। कवि ने यहाँ भी कथा को मनोवैज्ञानिक मोड़ दिया है और चरित्र में अन्त: संघर्ष की स्थापना करके भाव को संवेद्य बनाया है। 'कुरुक्षेत्र' में यदि विजेता की आत्मग्लानि मानवता को श्रेय है तो 'रश्मिरथी' के छली इन्द्र की आत्म-ग्लानि भी मानवीय गुणों की सशक्त स्वीकृति है। इस पश्चात्ताप में अनेक पापकर्म दग्ध हो कर साधुत्व की भभूति बनने योग्य हो जाते हैं।

कर्ण-कुन्ती का प्रसंग करुणा की लेखनी से लिखा गया है। इस प्रसंग में भावना, तर्क, विवशता के मूर्त, अमूर्त चित्र पाठक के मन पर गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हुए हैं। यदि करुणा मानव जीवन का सर्वाधिक प्रभावशाली भाव है, तो इस स्थल पर कवि अपने पाठक को भाव की अन्तिम गहराई तक ले जाता है। माँग और दान एक राजनैतिक चाल ही नहीं मानवीय आकांक्षा भी है और 'रश्मिरथी' में इस आकांक्षा का प्रबलतम रूप उपस्थित होता है। 'रश्मिरथी' की कुन्ती का आत्म-संघर्ष कितना सकारण और मनोवैज्ञानिक है।

---

१. महाभारत, वन पर्व ३१०।१६-१७
२. रश्मिरथी, पृ० ६८

एक ही गोद के लाल, कोख के भाई,
सत्य ही, लड़ेंगे हो दो ओर लड़ाई
... ...
दो में जिसका उरफटे, फटूँगी मैं ही,
जिसकी भी गर्दन कटे कटूँगी मैं ही।[1]

एक ओर माता का विह्वल हृदय, दूसरी ओर पुत्र की संचित घृणा। कर्ण अपने उपेक्षित जीवन के समस्त दुःख बटोर कर आवेश में कहता है—

अब तक न स्नेह से कभी किसी ने हेरा
सौभाग्य किन्तु जग पड़ा अचानक मेरा

इसी प्रवाह में वह यहाँ तक कह डालता है—

जोड़ने नहीं बिछुड़े वियुक्त कुलजन से
फोड़ने मुझे आई हो दुर्योधन से।

परिस्थिति के इस संघर्ष में कवि अन्तर और वाह्य रेखाओं को शक्ति से उभारता हुआ पाठक की अनुभूति को तरल करने में समर्थ हुआ है। पाठक न तो कुन्ती को दोष दे पाता है न कर्ण को और केवल आहत मातृत्व के प्रति सहानुभूति अर्पित करता है।

इस प्रसंग के उपरान्त कर्ण और भीष्म के संवाद में कवि अनुभूति और चिन्तन दोनों को समानान्तर रूप में व्यक्त करता है। भाव का अनुभव व्यक्ति की सहजानुभूति है और दर्शन की दृष्टि वैचारिक संकल्प विकल्प की क्रीड़ा है। 'रश्मिरथी' का कवि भाव के आवेग को वैचारिक परिणति में परिवर्तित करता है और सिद्धान्त को सामान्यज्ञानके स्तर पर व्यक्त करके, पाठक की अनुभूति का विषय बना देता है। भीष्म युद्ध की भयंकरता बता कर कर्ण को युद्ध विरत करना चाहते हैं किन्तु कर्ण भी समय-सापेक्ष युद्ध-धर्म पर अडिग रहकर कर्तव्य का पालन करता है।

कवि अपने मूल विचार के अनुसार युद्ध-धर्म के औचित्य पर प्रकाश डालता है। युद्ध में रत दोनों पक्ष विजय-हेतु अनैतिक साधनों को अपनाते हैं ; अतः युद्ध इसलिए भी निंद्य है कि मानव अपने स्वाभविक विवेक को खो बैठता है।

कर्णार्जुन युद्ध का प्रसंग 'महाभारत' से यथावत ग्रहण किया गया है। इस प्रसंग में कवि अनेक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभव गम्य बिम्बों की अवतारणा करके पाठक के हृदय में वीर रसका संचार करता है। मानवीय गुणों का उद्घाटन करने वाला कवि इस गर्हित युद्ध-प्रसंग में भी कर्ण के द्वारा उदात्त गुणों का निर्वचन कराता है। कर्ण इस बात का पश्चाताप करता है कि उसने द्रौपदी के अपमान के समय दुर्योधन को क्यों नहीं रोका। इससे स्पष्ट है कि कवि मानव के आभ्यन्तर सत् तत्व को उसकी प्राणधारा मानता है। स्थिति से विवश मानव अपकर्म कर सकता है पर आत्मा की पुकार किसी-न-किसी समय उसे आचार-अनाचार पर विचार करने के लिए विवश करती है। यही कारण है कि कर्ण की मृत्यु के बाद कृष्ण उसके गुणों का वर्णन करते हैं।

---

१. रश्मिरथी, पृ० ८२

समीक्षा

प्रस्तुत काव्य की रचना 'महाभारत' के प्रमुख प्रसंग को लेकर की गई है, और काव्यकार आस्थावादी है; अतः 'रश्मिरथी' का प्रति पाद्य निश्चय ही सात्विक वृत्तियों का उद्घाटन होना चाहिये। हमारे विचार में कवि का मूल उद्देश्य मानव का स्तवन है, और इसी उद्देश्य में अन्य विचार समाहित हो जाते हैं। 'रश्मिरथी का प्रतिपाद्य आधुनिक जीवन की सामाजिक क्रान्ति से सम्बद्ध है। आज के समाज में कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है अतः मानव की सम्पूर्ण उपलब्धियाँ उसके पौरुष की अग्नि से प्रकाशित होकर उसके जीवन को कुन्दन बनाती हैं। आधुनिक मानव को पौरुष के प्रति आस्थावान बनाने के लिए कर्ण से अतिरिक्त और कोई पात्र नहीं हो सकता। कर्ण का जीवन विविध संघर्षों की गाथा है। वह समाज से तो लड़ा ही, किन्तु उसे अपने से भी लड़ना पड़ा।

कर्ण के जीवन में एक विवाद का स्थान हो सकता है, कि यदि कर्ण दलितों और उपेक्षितों का प्रतीक है तो उसने पाण्डव पक्ष क्यों नहीं अपनाया? वह राज्य पक्ष की ओर क्यों गया? 'महाभारत' में जितनी यातनाएँ पाण्डव पक्ष को प्राप्त हुईं उतनी कौरवों को नहीं। वह निरन्तर अर्जुन का प्रबल विरोधी क्यों बना रहा? इन सभी प्रश्नों पर विचार करते समय यह देखना है कि प्रारम्भ से ही कर्ण को जो उपेक्षा प्राप्त हुई वह पाण्डवों के पक्ष से थी। पाण्डवों के कारण ही जाति के प्रश्न को लेकर उसे अपमानित किया गया। 'महाभारत' में चरित्र की इन मनस्थितियों का अध्ययन नहीं है। 'रश्मिरथी' में कवि ने इस पक्ष पर सामाजिक नियमों के आलोक में सन्तुलित रूप से विचार किया है कि कर्ण का मानसिक द्वन्द्व उसे पाण्डव विरोधी शिविर में ले आया। उसे स्पष्ट ज्ञात हो गया था कि कृष्ण पाण्डवों का समर्थन करते हैं, सभी दिव्य शक्तियाँ पाण्डवों के पक्ष में है; अतः ध्यानपूर्वक देखने पर कौरवों का पक्ष दुर्बल पड़ता है और इसी कारण कौरवों का पक्ष कर्ण के पौरुष से जगमगा गया।

'महाभारत' के मुख्य प्रसंगों के मध्य विचार-दर्शन इस काव्य की प्रमुख उपलब्धि है। कर्ण ने ओज पूर्ण अभिव्यक्ति में जातिवाद का सशक्त विरोध किया, दान को जीवन की अजस्र धारा और त्याग को महनीय निधि माना। कवि का वैचारिक दृष्टिकोण इस तथ्य की स्थापना करता है कि व्यक्ति को गुन-कर्म से सामाजिक उच्चता प्राप्त करके, जाति बन्धन के अवरोध को समाप्त कर, पुरुषार्थ के बल पर उन्नति करनी चाहिये। अतः वह समाज व्यवस्था भी परिवर्तनीय है। जिसमें उक्त सुविधाएं अप्राप्त हों। सम्पूर्ण काव्य में कवि ऐसी समाज व्यवस्था के निर्माण में रत है जो व्यक्ति के गुणों पर आधारित हो। मानव मात्र की यही मंगल-कामना इस काव्य का महान उद्देश्य है।

चरित्र सृष्टि

'महाभारत' में चरित्र-सृष्टि का आधार यथार्थवादी प्रवृति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। वहाँ सभी प्रमुख चरित्र अपनी-अपनी सीमा में आदर्शवादी हैं। उनके प्रत्येक कर्म के पीछे आदर्श का आधार दिखाया गया है। वे वीरत्व के तेजोदीप्त जीवन

के मध्य अपनी चित्तवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी चरित्र वीर युगीन चरित्र के प्रतीक हैं। वे युद्ध से विमुख होना नहीं जानते। शत्रु की ललकार के उत्तर में युद्ध को धर्म समझकर स्वीकार करते हैं। उनका ध्येय कर्म सम्पादन में है फल में नहीं।

'महाभारत' के प्रमुख पात्रों में युग-भावना के प्रबल आवेग के कारण भी अधिक परिवर्तन सम्भव न हो सका। इन चरित्रों का पुनस्स्पर्श ही हुआ है, पुनस्सृजन नहीं। कर्ण की स्थिति इन सबसे पृथक् रही, उसके चरित्र में कवि को आधुनिक वर्ग-भेद, धर्म-भेद, जाति-भेद के विरुद्ध स्वरघोष करने का आधार मिल सका। 'महाभारत' में कृष्ण ने कर्ण की चारित्रिक उच्चता का वर्णन इस प्रकार किया है--

त्वमेव कर्ण जानासि वेद वादान सनातनम्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठतः ।।[1]

दिनकर ने 'रश्मिरथी' में कर्ण को वीरत्व, त्याग, निष्ठा और पुरुषार्थ का प्रतीक मानकर चरित्रांकन किया है। कर्ण के चरित्र का प्रमुख गुण आत्मविश्वास पूर्ण वीरत्व है। 'महाभारत' में वह 'सूर्येन्दुज्वलनोपमः'' है और रश्मिरथी में 'रविसमानदीपित ललाट' से युक्त है। वह निरन्तर पराजय को प्राप्त होता हुआ भी अपने को हेय न समझ सका, जबकि सभी कौरव एक न एक बार पाण्डवों से त्रस्त होकर आत्म-पराजय स्वीकार करते हैं—तब भी कर्ण के मुख से दीन वचन नहीं निकले। वह स्वयं अपने वीरत्व की उद्घोषणा करता है—

नहि कर्णः समुद्भूतां भयार्थमिह मद्रक।
विक्रमार्थमहं जातो यशोऽथंच तथाऽऽत्मनः ।।[2]

इसी आधार पर दिनकर का कर्ण कहता है—

हो छिपा जहाँ भी पार्थ सुने अब हाथ समेटे लेता हूँ।
सबके समक्ष द्वैरथ रण की मैं उसे चुनौती देता हूँ ।।[3]

वीरत्व के चरम कर्म-क्षेत्र में पहुँच कर, वह दैव की क्रूर गति से भी भयभीत नहीं होता। 'रश्मिरथी' का कर्ण केवल इहलोक की गति को ही अन्त नहीं मानता वह परलोक की गति में भी विश्वास करता है, तभी तो उसकी मानववादी भावना युद्ध-क्षेत्र में भी जीवित रही—

अगला जीवन किसलिए भला
तब हो द्वेषान्ध बिगाड़ूँ मैं
सापों की जाकर शरण—
सर्प बन क्यों मनुष्य को मारूँ मैं ।।[4]

दिनकर को हिंसावादी कहने वाले आलोचक दिनकर के कर्ण की उक्तियों को

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व १४०।७
२. महाभारत, कर्ण पर्व ४३।६
३. रश्मिरथी, पृ० १४४
४. वही, पृ० १८१

यदि ध्यान से देखे तो उन्हें ज्ञात होगा कि यह कवि किसी भी क्षेत्र में मानव-भावना का तिरस्कार नहीं कर सका। यहीं पर यह मानना पड़ता है कि उसके चिन्तन का मूल भारतीय संस्कृति है।

परशुराम से शस्त्र-प्राप्ति के अवसर पर किया गया छल राजनीति की दृष्टि से उचित है किन्तु मानववादी दृष्टि से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। इस स्थल पर दिनकर ने आत्मग्लानि, पश्चाताप की भावना के आधार पर कर्ण का पाप प्रक्षालन किया है। परशुराम के मुख से ब्राह्मण कुमार शब्द सुनते ही कर्ण का मन धिक्कारने लगता है और वह अपना रक्त बहाकर अपने पाप का प्रायश्चित करता है। दिनकर छल का विरोध करते हैं क्योंकि छल से प्राप्त विद्या यशःकरी नहीं होती।

दुर्योधन के प्रति कर्ण की मित्रता उसके महान चरित्र की द्योतक है। वह आत्माहुति करके मित्र-धर्म का निर्वाह करता है। इस प्रकार 'रश्मिरथी' का कर्ण 'महाभारत' के कर्ण का प्रतिरूप होते हुए भी दिनकर की अपनी सृष्टि बन गया है। और उसके चरित्र के माध्यम से कवि ने जन्मजात एवं अर्जित पद के संघर्ष में मानव के अर्जित गुणों का व्याख्यान किया है—

कर्ण के चरित्रांकन का मूल है—

मैं उनका आदर्श किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे।
निज चरित्रबल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।[1]

कर्ण के अतिरिक्त भीष्म, कृष्ण, कुन्ती, युधिष्ठिर का चरित्रांकन भी कवि की अपनी विचारधारा के अनुरूप हुआ है। दिनकर के भीष्म उस कुल-वृद्ध के प्रतीक हैं, जो अपने वंशजों को सर्वनाश की ओर जाने से रोकने में असमर्थ हैं—वे कर्ण से कहते हैं—

बोले—क्या तत्व विशेष बचा
बेटा आँसू ही शेष बचा।[2]

भीष्म के पीड़ित व्यक्तित्व में मानवता की रक्षा की वेदना है। वे युद्ध इसलिए नहीं रोकना चाहते कि कुछ व्यक्ति वीरगति प्राप्त करेंगे किन्तु इसलिए कि मानवता समूल नष्ट हो जायेगी। यदि आज का दम्भी राजनीतिज्ञ भी भीष्म के वचनों का मर्म समझ सके तो निश्चय ही मानवता का कल्याण होगा।—

इसलिए, पुत्र! अब भी रुक कर,
मन में सोचो, यह महा समर,
किस ओर तुम्हें ले जायेगा?
फल अलभ कौन दे पायेगा?

मानवता ही मिट जायेगी
फिर विजय सिद्धि क्या लायेगी?[3]

---

१. रश्मिरथी, पृ० ६७
२. वही, पृ० १२४
३. वही, पृ० १२५

यही ग्रात्म संघर्ष है जिसके ग्रालोक में रश्मिरथी के भीष्म की रेखाएँ उभरती हैं ।

कर्ण ग्रौर कुन्ती के प्रसंग में भावोद्वेलन की दृष्टि से कुन्ती का चरित्र ग्राहत मातृत्व का प्रतीक बनकर पाठक को एक विशिष्ट ग्रनुभूति प्रदान करता है । दिनकर ग्रोजस्वी भाषा के चयन ग्रौर भावुक शब्दों के गठन में सिद्धहस्त हैं । कुन्ती की ग्रभिव्यक्ति में विवशता जन्य ग्राकुलता उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से ग्रत्यधिक सशक्त रूप में व्यक्त हुई है । यह स्थिति भी कितनी विचित्र है कि माता कितने समय बाद पुत्र से मिलने ग्राती है, ग्रौर वह भी एक निर्भय याचना करने के लिए कि उसका पुत्र ग्रपनी संचित निधि को माँ के ग्रांचल में डाल दे । किन्तु गर्वित पुत्र माँ को उस स्थिति में ले ग्राता है जहाँ वह ग्रपराधिनी-सी चुप हो जाती है । यहाँ पर कुन्ती का चरित्र केवल उसकी ग्रात्मग्लानि के प्रसंग में उभर सका है—

लज्जित होकर तू वृथा वत्स ! रोता है,
निर्घोष सत्य का कब कोमल होता है ।
धिक्कार नहीं तो मैं क्या ग्रौर सुनूँगी ?
काँटे बोये थे, कैसे कुसुम चुनूँगी ?[1]

इस करुणाविगलित चरित्र को कवि ग्रहं ग्रौर प्रतारणा के संघर्ष में जीवन देता है ।

इस प्रकार 'रश्मिरथी' की चरित्र सृष्टि समग्ररूप से न होकर खण्ड रूप में व्यक्त हुई है । कवि ने जिन स्थलों का स्पर्श किया है वे प्रबुद्ध पाठक को उद्वेलित करने में समर्थ हैं ।

मूल्यांकन

'रश्मिरथी' पुनरुत्थान युग के उत्तरार्ध में लिखी गई रचना है ग्रतः स्वभावतः कवि का उद्देश्य मानव-धर्म का ग्राख्यान रहा है । महाकव्य का कलेवर प्राप्त करते हुए भी इस काव्य का सन्देश महान है जो मानव को निज की शक्ति का परिचय पाने की प्रेरणा देता है ग्रौर सद्धर्म के प्रति जागरूक करता है । निश्चय ही भारतीय भाषाग्रों के प्रबन्ध काव्यों की परम्परा में 'रश्मिरथी' विशिष्ट स्थान की ग्रधिकारिणी रचना है ।

---

१. रश्मिरथी, पृ० १०२

उर्वशी

डा० नगेन्द्र

आलोचना की प्रक्रिया के मूलतः तीन अंग या सोपान हैं—
१. प्रभाव-ग्रहण, २. व्याख्यान-विश्लेषण और ३. मूल्यांकन। आज कविता
और आलोचना दोनों के क्षेत्र में नये प्रयोग हो रहे हैं और एक ओर जहाँ 'नई कविता'
का ज़ोर है, वहाँ दूसरी ओर उसी के वज़न पर 'नई आलोचना' भी जोर पकड़ रही है।
'उर्वशी' का प्रकाशन इस साहित्यिक सत्य का अतर्क्य प्रमाण है कि कविता को 'अच्छी'
या 'बुरी' कहना जितना आसान है उतना आसान 'नई' या 'पुरानी' कहना नहीं है। इसी
तर्क से मेरे लिए आलोचक का कर्तव्य-कर्म और आलोचना की प्रक्रिया आज भी वही है।
'उर्वशी' का, मैं एक सहृदय पाठक की तरह, अंशतः कविमुख से सुनकर और अब बाद में
स्वयं मनोयोग के साथ पढ़कर रस ले चुका हूँ और अब इस स्थिति में हूँ कि उसकी
आलोचना कर सकूँ।

प्रभाव-ग्रहण

'उर्वशी' के अधिकांश प्रसंगों को पढ़ने में मुझे निश्चय ही रस मिला। भाव,
कल्पना और विचार से परिपुष्ट 'उर्वशी' की कविता में भावों को आन्दोलित करने,
प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अंकित करने और विचार को उद्बुद्ध
करने की अपूर्व क्षमता है। नर-नारी का प्रेम, दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्य
शास्त्र की शब्दावली में रति-मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है और उर्वशी के काव्य-
का वही आधार-विषय है। काम की अनुभूति के सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़,
मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल मृन्मय और चिन्मय अनेक
रूपों का 'उर्वशी' में अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की
उस चिर-अतृप्ति का चित्रण,जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और
अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है। भाव-
संवेदन की यह अनेकरूपता अपने आप में भी कम काम्य नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक

महत्व है उस अन्तर्दर्शन का, जो अवचेतन या अर्धचेतन में घुमड़ने वाले इन अन्धे संवेदनों को चेतन मन के आलोक में प्रस्तुत करता है और कदाचित इससे भी अधिक महत्व है कवि की उस प्रख्या का, जो इन अरूप झंकृतियों को कल्पना-रमणीय रूप प्रदान करती है। इन सभी प्रसंगों के उदाहरण देना यहाँ संभव नहीं है—केवल तीन उदाहरण देकर मैं अपने मत को पुष्ट करता हूँ, जो क्रमश: संवेदन की सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रगाढ़ शक्ति को चित्रित करते हैं—

१. (क) देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर में
किरणें फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।

(ख) जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर
तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।

२. (क) वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं ?
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बंध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं ?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं ?

(ख) जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला में
निराकार में आकारों की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय में गूंज रहा है
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं में, अकूल अंतर में ?
ये ऊर्मियाँ। अशब्द नाद। उफ री बेबसी गिरा की।
दोगे कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ?

३. उफ री यह माधुरी। और ये अधर विकच फूलों-से।
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणों से।
और सिमटते ही कठोर बाँहों के आलिंगन में,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मियाँ तुम्हारे तन की
मुझमें कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूच्छित होने लगती हूँ।
कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में ?

इसी प्रकार कई प्रसंग ऐसे हैं, जो काव्य-गुण की दृष्टि से अपूर्व हैं, जैसे प्रथम अंक में दिव्य और मानवीय प्रेम का भेदाभेद, पुरूरवा का अन्तर्द्वन्द्व, गर्भिणी उर्वशी का चित्र,

अभिशप्ता उर्वशी की पीड़ा, अन्तिम अंक में औशीनरी की विचित्र स्थिति आदि। पुरूरवा के अन्तर्द्वन्द्व में विचारवान पुरुष की कामानुभूति की द्विधा का चित्रण है—सामान्य, जैव स्तर पर कामानुभूति अन्धी ऐन्द्रिय तृप्ति है—किन्तु मेधावी पुरुष की सक्रिय मेधा इस एकरस तृप्ति के अखण्ड उपभोग में बाधा पहुँचाती है। मन के अनेक संकल्प-विकल्पों के प्रभाव से रक्तधारा की इस क्रीड़ा में ऐसी विषमता उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण कामानुभूति मधुर और कटु संवेदनों का विचित्र मिश्रण बनकर रह जाती है। मनोविश्लेषणशास्त्र के पास इस द्विधा का अपना भौतिक समाधान है, किन्तु दिनकर आत्मवादी हैं—उनकी चेतना रूप से अरूप, मृन्मय से चिन्मय की ओर जाती है अर्थात् काम के आधिभौतिक आस्वाद और आध्यात्मिक आस्वाद के बीच भटक जाती है। आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले के लिए यह आध्यात्मिक या चिन्मय आस्वाद एक सहज सत्य है और वह मृन्मय से तुरन्त ही ऊपर उठकर वहाँ पहुँच जाता है, जैसाकि उपनिषद्काल के ऋषियों या मध्यकाल के सूफी, संतों और मधुरोपासक भक्तों के विषय में माना जा सकता है। उस स्थिति में द्विधा मिट जाती है। किन्तु पुरूरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है, जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृन्मय अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भांति मृन्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। केवल मनोविज्ञान के धरातल पर भी इस द्वंद्व की व्याख्या सम्भव है। आज के बुद्धिजीवी के लिए कामसुख में सर्वथा तल्लीन होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी जागरूक बुद्धि और उसके द्वारा निरन्तर शाणित अहंकार आत्मनिलय में बाधक होता है, परन्तु साथ ही काम के प्रति अबाध आसक्ति से भी वह पीड़ित है और उससे भी मुक्ति पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार काम-चेतना की अनुभूति में एक विचित्र वैषम्य उत्पन्न हो जाता है, जो प्रगाढ़ सुख देकर भी शान्ति से वंचित कर देता है। दिनकर ने स्वानुभूति में डूबकर इस अन्तर्द्वन्द्व का गहरा चित्रण किया है और यह चित्रण भाव-संवेदन तथा अभिव्यंजना-कला दोनों की दृष्टि से निश्चय ही अत्यन्त समृद्ध है।

अनुभूति का विचार भी कम रमणीय नहीं होता—परन्तु वह सबके लिए सम्भव नहीं है। भाव का दर्शन सहजानुभूति की, जिसे दिनकर ने सम्बुद्धि कहा है, प्रौढ़ता की अपेक्षा करता है। उर्वशी के कवि की प्रतिभा इस विशिष्ट गुण से समृद्ध है। उसके अनुभूति और चिन्तनपक्ष, दोनों ही समृद्ध हैं, इसलिए आवेश को विचार में अर्थात् संवेदनों को प्रत्ययों में और विशेष अनुभव को सामान्य ज्ञान में परिणत करने की कला में वह सिद्धहस्त हैं—

१. **प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है।**
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है॥

२. **गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,**
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

३. **रूप की आराधना का मार्ग।**
आलिंगन नहीं तो और क्या है?

स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ?

४. बुद्धि बहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरंग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।

५. नारी क्रिया नहीं, वह केवलक्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिए इतिहास पहुँचता अभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

इस प्रकार के प्रसंगों अथवा सूक्तियों की मार्मिकता का रहस्य यह है कि इनमें विचार अनुभूत होकर या अनुभव-तर्क से पुष्ट होकर सामने आता है। केवल भावना प्रायः तरल होकर बह जाती है और केवल तर्क मस्तिष्क के आकाश में तरंगें पैदा कर विलीन हो जाता है—वह हृदय का स्पर्श नहीं करता। किन्तु जब कल्पना के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो दोनों का ही विशेष उपकार होता है : भाव तर्क से शक्ति और तर्क भाव से रस पाकर रमणीय बन जाते हैं।

'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है। उसमें शब्द, रूप, रस और स्पर्श के छोटे-बड़े अनेक बिम्ब हैं। इन बिम्बों की रेखाएँ कहीं सूक्ष्म-तरल, कहीं तीखी और दृढ़, कहीं विराट एवं सघन हैं—इनके रंग चित्र-विचित्र और भास्वर हैं। समृद्धि और वैचित्र्य में यदि वे पंत के बिम्बों से हीनतर हैं तो आयास में उनसे बढ़कर भी हैं, इसी प्रकार यदि प्रसाद और निराला के बिम्बविधान अपने आयास के कारण दिनकर के बिम्ब विधान से भव्यतर हैं तो समृद्धि में दिनकर की बिम्ब-योजना भी उनसे कम नहीं है। छायावादी कवियों की अपेक्षा दिनकर का बिम्बविधान अधिक मूर्त, प्रत्यक्ष और अनुभव-गम्य है। उसमें चित्रकला के साथ मूर्तिकला के गुण विद्यमान हैं--वह वायवी कम और लौकिक अधिक है। नई कविता के बिम्बों का वैविध्य, रूपरेखा की स्पष्टता और दृढ़ता तो इन बिम्बों में है, किन्तु दिनकर की शुद्ध कवि-रुचि ने उन्हें विद्रूप, बीभत्स, विशृंखल तत्वों से सर्वथा मुक्त रखा है। गोचर होने पर भी वे स्थूल नहीं हुए, पुनरावृत्ति दोष से मुक्त होने पर भी वैचित्र्य के मोह में वे अनगढ़ और भद्दे नहीं बने। वस्तुतः 'उर्वशी' की बिम्ब-योजना अत्यन्त समृद्ध है—विराट और कोमल, उदात्त और मधुर बिम्बों का ऐसा अपूर्व संकलन आधुनिक युग के बहुत कम काव्यों में मिलता है। सम्पूर्ण काव्य ही एक रंगीन चित्रशाला है जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अंकित नखचित्र, रेखा-चित्र, रंगचित्र और विराट् भित्ति-चित्र जगमग कर रहे हैं। 'उर्वशी' की विषय वस्तु ऐहिक और मूर्त न होकर सूक्ष्म तथा मनोमय है, इसलिए 'उर्वशी' के कवि को उसे बिम्बित करने में सामान्य से अधिक आयास करना पड़ा है और उसका कौशल एवं सिद्धि उसी अनुपात से अधिक स्तुत्य है।

१. रात्रि के वैभव का एक मूर्त चित्र देखिए —

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का

नक्षत्रों से खचित, कूल-कीलित झालरें विभा की,
गूँथे हुए चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के ?
और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का
जो उठता मणिमय अलिन्द या नभ के प्राचीरों पर
मुक्ता-भर, लम्बित दुकुल के मन्द-मन्द घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है ।

२. अब आनन्द के क्षण को मूर्तित करने वाला एक बिम्ब देखिए—

प्रिय । उस पत्रक को समेट लो जिसमें समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, संवत, शताब्दि की बूंदों में अंकित है ।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा में,
देश-काल में परे, छूटकर अपने भी हाथों से ।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गई है ?
उड़ता हुआ विशिख अम्बर से स्थिर-समान लगता है ।

३. और अन्त में एक अत्यन्त सूक्ष्म बिम्ब का निरीक्षण और कीजिए । अपने ही धर की भयंकर उथल-पुथल को निरीह भाव से देखने वाली औशीनरी कहती है—

जो कुछ हुआ, देख उसको मैं कितनी मौन रही हूँ ।
कोलाहल के बीच मूकता की अकम्प रेखा-सी ।

बिम्ब-योजना की इस समृद्धि के लिए कल्पना के साथ ही दिनकर की समर्थ भाषा भी कम उत्तरदायी नहीं है । इस शती के चौथे दशक में छायावादी भाषा की असामान्यता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसको व्यवहार की भाषा के निकट लाने का सफल प्रयत्न जिन कवियों ने किया था, दिनकर और बच्चन उनमें अग्रणी थे । दोनों ने सीधी अर्थव्यक्ति के लिए भाषा को तैयार किया : किन्तु बच्चन की भाषा जहाँ जनभाषा का नैकट्य प्राप्त करने के प्रयास में संस्कृत के अक्षय रत्नकोष से वंचित हो गई, वहाँ दिनकर ने उसका भी भरपूर उपयोग किया । फलतः उसमें छायावाद की लाक्षणिक समृद्धि के साथ-साथ व्यावहारिक भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव का भी यथोचित समावेश हो गया और एक नई शक्ति एवं स्फूर्ति आ गई—

१. पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है ।
दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक-धधक जीता है ।
२. जाने, कितनी बार चन्द्रमा को, बारी बारी से
अमा चुरा ले गई और फिर ज्योत्स्ना ले आई है ।
३. पर यह परिरम्भण प्रकाश का मन का रश्मि-रमण है ।
४. और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम भवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रांति दूर करते हैं ।
५. हारी मैं इसलिए कि मेरे व्रीड़ा-विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी ।

इन उदाहरणों की भाषा में सौन्दर्य-समृद्धि के साथ एक मोहक ताजगी है जो

छायावादोत्तर काव्य-भाषा की काम्य उपलब्धि है। किन्तु जहाँ कवि में व्यवहार की भाषा या जनभाषा का जोश काव्य-रुचि का अतिक्रम कर उमड़ा है वहाँ अभिव्यक्ति नंगी हो गई है—

१. लगता है यह जिसे, उसे फिर नींद नहीं आती है,
दिवस रुदन में, रात आह भरने में कट जाती है।
२. अच्छी है यह भूमि यहाँ बूढ़ी होती है नारी।
३. तूने भी रंभे निर्घिन। क्या बातें बतलाई हैं।
४. नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।

—और, आप ध्यान रखें कि ये उक्तियाँ कल्पना विलासिनी अप्सराओं की हैं, ग्रामीणाओं की नहीं।

व्याख्यान-विश्लेषण

'उर्वशी' का मूल प्रतिपाद्य क्या है ? यह प्रश्न स्वभावतः प्रत्येक जागरूक पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। जैसा कि कवि ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है, 'उर्वशी का मूल विषय काम या प्रेम है—यह काव्य दर्शन और मनोविज्ञान के द्वारा जीवन के कामपक्ष की व्याख्या करता है। काम या प्रेम के अनेक रूप हैं। एक उर्वशी का प्रेम है जो शुद्ध ऐन्द्रिय भोग का प्रतीक है-उर्वशी देवलोक से मानवलोक में केवल ऐन्द्रिय सुख के सम्पूर्ण उपभोग के लिए आती है। देवसृष्टि का काम अतीन्द्रिय है जो चेतना भर उत्पन्न करता है किन्तु परितृप्ति की तन्मयता उसमें नहीं है। ऐसा लगता है जैसे उर्वशी के प्रेम द्वारा कवि ने अपने पूर्ववर्ती छायावादी काव्य के अतिन्द्रिय श्रृंगार के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है। उर्वशी की भावना के चित्रण में कवि पर फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का भी गहरा प्रभाव है-फ्रायड की कामचेतना(लिबिडो)विषयक मौलिक धारणा उर्वशी के स्वरुप-विश्लेषण में स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी है (देखिए पृष्ठ ६०)। काम का दूसरा रूप मिलता है पुरूरवा में। पुरूरवा का प्रेम जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है सहज मानवीय प्रेम है। मानव-चेतना के आधार-तत्व तीन हैं—इन्द्रियाँ, मन और चैतन्य आत्मा। इनमें प्रथम दो सर्वस्वीकृत हैं, तीसरे के विषय में मतभेद है। पुरूरवा का स्रष्टा तीसरे तत्व में विश्वास करता है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में उसे भी मानकर चलना होगा। आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर इतिहास और पुराण में वर्णित शरीर और आत्मा के चिर द्वन्द्व की समस्या सामने आ जाती है। शरीर का काम विष है और आत्मा का काम अमृत से—उपनिषद के रहस्य-द्रष्टा ने आत्मा के काम का उच्छ्वसित वाणी में उद्गीथ किया है—मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त ने भी, विरह के प्राधान्य से ही सही, इसका स्तवन किया है और शरीर के काम की गर्हणा। किन्तु मानव-चेतना का सम्पूर्ण इतिहास तो शरीर के काम से उद्वेलित है। फिर सत्य क्या है ? दिनकर ने दोनों के समन्वय में इसका अनुसंधान किया है—समन्वय ही नहीं, वे दोनों के तादात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। पुरूरवा जिस मानवीय काम का प्रतीक है वह ऐन्द्रिय होकर भी आत्मिक है, पार्थिव होकर अपार्थिव है—अर्थात् अभिन्नतः मृन्मय और चिन्मय दोनों ही हैं, । काम का तीसरा रूप

है औशीनरी का प्रेम जो निर्भोग समर्पण का प्रतीक है, सम्पूर्ण आत्मदान का प्रतीक है। इसमें काम का भोग-पक्ष अनुपस्थित है, केवल दान की ही महिमा है। अतः यह विरह-प्रधान है, इसमें काम की तृप्ति नहीं, उन्नयन है, साहित्य की शब्दावली में यही आदर्श प्रेम (प्लेटोनिक लव) है। सुकन्या के प्रेम में काम का एक और ही रूप मिलता है—यह काम का सफल (फलयुक्त) रूप है, गार्हस्थिक रूप—जिसमें काम का पूर्ण उपभोग तो है, पर वह स्वतन्त्र न होकर धर्म का ही अंग है। काम यहाँ सिद्धि नहीं है, साधन है, वह अपनी सत्ता धर्म को समर्पित पर सफल हो जाता है, अतः वह पूर्ण तृप्त भी है क्योंकि अतृप्ति के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता।

उर्वशी में काम के ये चार प्रतिनिधि रूप हैं। कवि इसमें से किसको अन्ततःस्वीकार करता है? अर्थात काम की इस समस्या का जो मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या है, कवि क्या समाधान प्रस्तुत करता है? स्वभावतः उर्वशी का अध्येता अंत में यह माँग करता है।

काव्य की नायिका उर्वशी—उसी से आरम्भ कीजिए (क) उर्वशी दिव्य या अतीन्द्रिय प्रेम से कुण्ठित होकर मानव-प्रेम की पूर्णता का सुख भोगने आती है—वायव्य गगन से रसवती भूमि का आनन्द लेने स्वर्ग छोड़ कर पृथ्वी पर आती है। यदि उसके पक्ष को स्वीकार किया जाए तो प्रश्न का उत्तर यह बनता है कि अतीन्द्रिय प्रेम-भावना और कल्पना का प्रेम सर्वथा अपूर्ण है, वह चेतना में एक व्यथाभरी रिक्तता उत्पन्न कर रह जाता है, परितोष नहीं कर पाता—चेतना का परितोष तो उस प्रेम में है जो अपनी पूर्णता में तन-मन की समन्वित तृषा-पूर्ति का पर्याय है। काव्य में उर्वशी की प्रमुखता के आधार पर समस्या का यह एक समाधान माना जा सकता था, परन्तु उर्वशी के प्रेम का अन्त तो चिरवियोग में होता है, अतएव स्पष्टतः ही यह कवि का समाधान नहीं है। काव्य को दुखान्त मानकर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता था कि उर्वशी का पक्ष पूर्वपक्ष मात्र है, उसका चिरवियोग अन्ततः यह सिद्ध करता है कि ऐन्द्रिय काम पूर्ण सफल काम नहीं है। किन्तु स्वर्ग में उर्वशी की दारुण व्यथा फिर इसका निषेध कर देती है। (२) पुरूरवा का प्रेम चिर-द्वन्द्वमय मानव-प्रेम है जो अरूप से रूप की ओर और रूप से अरूप की ओर भटकता रहता है। इस द्वन्द्व के कारण मिलन के तन्मय क्षणों में भी पुरूरवा बेचैन है यह बेचैनी बराबर बनी रहती है और अन्त में पुरूरवा संन्यास ले लेता है। इसका ध्वन्यर्थ यह हो सकता था कि मानव-प्रेम अपने प्रकृत रूप में शांतिकर नहीं हो सकता, जब तक उसमें मृन्मय अंश विद्यमान रहेगा तब तक वैषम्य या उद्वेग बना रहेगा सामरस्य की सिद्धि के लिए मृन्मय अंश का संन्यास अनिवार्य है। उपनिषद-काल के ऋषि और मध्ययुग के मधुरोपासक भक्त लौकिक प्रेम को स्वीकार करते हुए भी अन्ततः साधु ही हो जाते थे। उर्वशी काव्य को पुरूरवा की दुःखान्त कथा मान लेने पर यह समाधान प्राप्त हो सकता है। किन्तु उर्वशी काव्य की परिसमाप्ति पुरूरवा के संन्यास के साथ नहीं होती, अतः कवि का यह भी अभीष्ट नहीं है। (३) तीसरा पक्ष है औशीनरी का निष्काम प्रेम ही काम की सिद्धि है—इष्ट के प्रति सम्पूर्ण आत्म-दान का प्रतीक यह निर्भोग प्रेम आत्मलाभ का ही पर्याय है। स्वदेश विदेश के लौकिक प्रेमाख्यान इसी का

माहात्म्य-गान करते हैं और मनोविश्लेषण शास्त्र भी इसका समर्थन करता है। किन्तु उर्वशी में औशीनरी की वेबसी का विस्तृत वर्णन क्या इसको स्वीकार करने देता है? (४) अन्त में सुकन्या का प्रेम है जो स्वतन्त्र न होकर धर्म (गृहस्थ-धर्म) का ही अंग है—सिद्धि न होकर साधन है। उसमें उपभोग है पर उद्वेग या द्वन्द्व नहीं है इसलिए वह तृप्त है। आयु के राज्या रोहण में काव्य का अन्त इसकी ओर संकेत करता है कि कदाचित् सुकन्या का पक्ष कवि को ग्राह्य है किन्तु काव्य में उर्वशी तथा पुरूरवा के पक्ष इतने प्रबल हैं कि उनकी तुलना में यह पक्ष बड़ा मुलायम और कमज़ोर पड़ जाता है। सुनिए—

और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
पर, निष्काम काम का, सचमुच वह भी ध्येय नहीं हैं।
निरुद्देश्य, निष्काम काम सुख की अचेत धारा में,
सन्तानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।
वारि-वल्लरी में फूलों सी, निराकार के गृह से।
स्वयं निकल पड़ने वाली जीवन की प्रतिमाओं-सी।

अतः कवि का मन्तव्य हमें उर्वशी या पुरूरवा के शब्दों ही ढूंढना होगा। उर्वशी का समाधान है—

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
एकतान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
दैहिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं,
मानों, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।
... ...

पर, खोजें क्यों मुक्ति? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं,
जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जाएंगे
लीलामय की सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा में।

और उधर पुरूरवा का समाधान है—

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर, उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है
... ...

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।

निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की, छलना नहीं, समर्पण,
त्याग नहीं, संचय, उपत्यकाओं के कुसुम द्रुमों को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर
वहाँ जहाँ कैलास-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी ।

उर्वशी का पक्ष प्रकृति का पक्ष है—उसके लिए प्रकृति अर्थात् ऐन्द्रिय धरातल पर काम-सुख ही पूर्ण सत्य है, उसके आगे कुछ और का अनुसंधान अनावश्यक है । यह प्रकृत आनन्द अर्थात् प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मार्पण ही अपने सहज रूप में जीवन की सिद्धि है, सहज का अर्थ है निर्बाध और निष्काम । कामना या वासना से दूषित होकर सहज काम रूप यह अमृत गरल में परिणत हो जाता है, अतः निष्काम भाव से ऐन्द्रिय काम का आनन्द ही, जीवन का चरम साध्य है । मोक्ष का अर्थ प्रकृति से मोक्ष नहीं है, कामना से मोक्ष—निष्काम आत्मार्पण—ही वास्तविक मोक्ष है, शेष प्रवंचना है । पुरूरवा की भी लौकिक काम में पूर्ण आस्था है । किन्तु उसके लिए वह साधन है, सिद्धि नहीं है । वह आत्मवादी है, ऐन्द्रिय रति को वह आत्मरति की साधना मानता है—अर्थात् प्रकृति की आराधना वह ईश्वर की ही आराधना के निमित्त करता है । इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के दृष्टिकोण में अभेद तो यह है कि दोनों ही निष्काम आत्मार्पण को जीवन का चरम सत्य मानते हैं, भेद यह है कि उर्वशी के लिए अन्तिम सत्ता प्रकृति है—उसी के प्रति निष्काम आत्मार्पण जीवन की सिद्धि है, जब कि पुरूरवा के लिए परम तत्व ईश्वर है, प्रकृति के माध्यम से उसी के प्रति पूर्ण समर्पण जीवन की सिद्धि है ।

कवि का अपना मन्तव्य इन दोनों में से कौन-सा है ? कदाचित् पुरूरवा का मन्तव्य ही उसका मन्तव्य है, किन्तु क्या वह मान्य है ?—और क्या उर्वशी काव्य का सम्पूर्ण विधान उसे निर्भ्रान्त रूप से अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित करता है ? ये प्रश्न तुरन्त ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं । पर ये प्रश्न तो व्याख्यान-विश्लेषण से आगे मूल्यांकन के अन्तर्गत आते हैं ।

मूल्यांकन

पहला प्रश्न यह है कि क्या उर्वशी काव्य में प्रस्तुत काम-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य—दोनों या उनमें कोई एक जीवन के वृहत्तर मूल्यों की कसौटी पर शुद्ध ठहरता है ? क्या काम-साधना, सम्पूर्णतः निष्काम ही सही, जीवन की सिद्धि है ? इसमें सन्देह नहीं कि काम अत्यन्त मौलिक वृत्ति है और जीवन की समृद्धि में उसका योगदान निश्चय ही सर्वाधिक है । परन्तु एक तो निष्काम काम की धारणा ही कुछ अटपटी-सी है—मनोविज्ञान मनोविश्लेषण शास्त्र आदि के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि काम-सुख की समृद्धि का मूल आधार मानसिक ही मानना पड़ेगा इसलिए काम को (ब्रह्म का) 'मनसो रेतः' कहा गया है । मन के काम के बिना केवल तन के काम की स्पृहा क्या सम्भव है ? तन से आनन्द में जो आस्वाद है वह तो मन की क्रिया है । मन का काम ही तो तन के काम

को ऐश्वर्य प्रदान करता है—भोज्य रस में जो स्थान सुगन्ध का है, वही, वरन उससे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान ऐन्द्रिय रस में मन के रस का है। इसलिए केवल घुमड़न और कुण्ठा की स्थिति को छोड़ मन के काम को गरल मानना न सत्य है और न उचित ही। दूसरे, निष्काम या सुकाम कैसा भी काम जीवन की सिद्धि कैसे हो सकता है? जीवन के व्यापक और स्वस्थ मूल्यों के आधार पर इस प्रकार की स्थापना स्वीकार्य हो सकती है? अब रहा पुरूरवा का दृष्टिकोण—अर्थात् ऐन्द्रिय रति आत्मरति की ही साधना है। आज के युग में इस तर्क को भी स्वीकार करना कठिन है। यह सिद्धान्त मान लिया जाए तो यह भी मानना होगा कि जीवन का चरम पुरुषार्थ काम है और जो व्यक्ति ऐन्द्रिय काम में जितना लीन है उतना ही सिद्ध है ''पारमार्थिक दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से से भी। आज इस जीवन दर्शन को कौन स्वीकार कर सकता है और कैसे स्वीकार कर सकता है? मध्ययुग में भी जब जीवन अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुख था और जीवन-मूल्य भी उसी के अनुरूप थे, मधुरोपासना से सम्बद्ध दार्शनिक पद्धतियाँ पारमार्थिक दृष्टि से ऐन्द्रिय काम को जड़ प्रकृति का अंश मानकर उसको चिन्मय आनन्द-साधना का प्रेरक साधन-मात्र मानकर छोड़ देती थीं—सहज-साधना की कुछ वाममार्गीय पद्धतियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी ऐन्द्रिय काम को आत्यन्तिक रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अतएव उपर्युक्त दोनों में से किसी भी रूप में—उर्वशी अथवा पुरूरवा का—यह अद्भुत काम-दर्शन न ग्राह्य हो सकता है और न काम्य ही। हाँ, पुरूरवा के संन्यास को चरम परिणति मानकर—उसी पर काव्यार्थ को केन्द्रित कर, यदि वहीं काव्य का समापन कर दिया जाता तो अन्तिम अर्थ-व्यंजना बदल जाती तथा ऐन्द्रिय काम का पारमार्थिक उन्नयन—आत्मकाल में उन्नयन—सफल हो जाता और यह जीवन-दर्शन वर्तमान युग धर्म के अनुरूप न होते हुए भी एक विशेष चिन्तन-परम्परा के अनुकूल अवश्य होता। परन्तु दिनकर की युग-चेतना संन्यास को स्वीकार करने में असमर्थ है—कुरुक्षेत्र में हमें उसका प्रमाण मिल चुका है। युग-धर्म के अनुरूप काम की परिणति का एक और रूप हो सकता है जिसका प्रतिफलन हमें सुकन्या के जीवन-दर्शन में मिलता है और अन्त में औशीनरी जिसका और प्रकारान्तर से इंगित करती है : संतति द्वारा आत्म-विकास। वर्तमान मनोविश्लेषण शास्त्र भी इसका समर्थन करता है—रति की सफल परिणति है संतति और उसके द्वारा व्यक्ति के धरातल पर प्रवृत्ति का उन्नयन एवं सामाजिक धरातल पर अहं का समाजीकरण कर मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है। दिनकर का जागरुक विचारक कवि इस पक्ष से अवगत है और उसका प्रतिपादन उर्वशी में हुआ है परन्तु काव्य का वस्तु-विधान जिस रूप में किया गया है उससे यह पक्ष बड़ा दुर्बल पड़ जाता है और पाठक सारभूत प्रभाव के रूप में इसे ग्रहण नहीं कर पाता, क्योंकि स्पष्टतः ही यह कवि का अभिप्राय नहीं है। ऐसा स्थिती में समधान क्या है?

वास्तव में काम को महत्पुरुषार्थ से आगे जीवन का चरम पुरुषार्थ मानना ही गलत है। जीवन का चरम पुरुषार्थ धर्म ही हो सकता है जिसमें लौकिक दृष्टि से अभ्युदय और आध्यात्मिक दृष्टि से निःश्रेयस की सिद्धि अन्तर्भूत है। अर्थ और काम उस के साधन हैं—ये दोनों ही महान् पुरुषार्थ हैं किन्तु अन्ततः साधन-रूप ही हैं—साध्य नहीं बन

सकते। काम अर्थ की अपेक्षा निश्चय ही अधिक समृद्ध और काम्य है अर्थात् उसमें चिदंश अधिक है ? किन्तु साध्य उसे भी नहीं माना जा सकता। मेरे मत से उर्वशी के मूल विचार की सबसे बड़ी बाधा यही है कि वह साधन में सिद्धि ढूंढने के लिए प्रयास-शील है। कामायनी में लौकिक दृष्टि से धर्म को, और आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म का भी उत्सर्ग कर अन्ततः आनन्द रूप मोक्ष को चरम पुरुषार्थ माना गया है। इसलिए उसकी परिणति, मध्यवर्ती बाधाओं के रहते हुए भी अखण्ड है। कामायनी श्रद्धा और मनु का कथानक है, 'मनु और ईडा का आख्यान' नहीं, और उसी के अनुरूप वह पुरुषार्थ के धर्म और आनन्द पक्ष को ही महत्व देता है, अर्थ-पक्ष को नहीं। मुझे आश्चर्य है कि उर्वशी की भूमिका में कामायनी के विषय में इस प्रकार की विचित्र कल्पनाओं की आवश्यकता क्यों हुई है ?

तब फिर कवि का समाधान क्या है ? कवि ने भूमिका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि उर्वशी में वह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। और, वस्तु-स्थिति यही है। दिनकर द्वन्द्व का कवि है, समाहिति का कवि नहीं है। समस्या के सम्पूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणों के पूरे आवेग के साथ अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, समाधान प्रस्तुत करना उतना नहीं। इसलिए दिनकर के काव्य में स्वानुभूति का बल है और आत्मस्वीकृति की स्वाभाविकता भी उसे प्राप्त है। द्वन्द्व उसका अनुभूत है, समाधान अनुभूत नहीं है—विचार के द्वारा समाधान वह भी प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु वह करना नहीं चाहता। उर्वशी काव्य का प्रभाव इसी तथ्य की पुष्टि करता है––उसमें अंतर्मन्थन की अद्भुत शक्ति है, किन्तु चित्त की समाहिति उसके द्वारा सम्पन्न नहीं होती। उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से उर्वशी निश्चय ही अत्यन्त प्रबल काव्य है—छायावादोत्तर युग में ऐसा प्रबल काव्य हिन्दी में दूसरा नहीं लिखा गया और जहाँ तक मेरा ज्ञान है (यद्यपि यह ज्ञान अनुवाद पर आश्रित और अत्यन्त सीमति है), अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी प्रबल समसामयिक रचना कदाचित् नहीं है।

एक प्रकार से उर्वशी की समीक्षा यहाँ पर भी समाप्त हो सकती है। परन्तु मुझे लगता है कि मैं अभी अपना मन्तव्य पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाया और उसे यहीं पर छोड़ देने से उर्वशी का मूल्यांकन शायद अधूरा रह जाएगा। मेरे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य के मूल्यांकन में समाधान का क्या स्थान है ? रस के साहित्य में मैं नैतिक उद्देश्य अथवा समाधान का कायल नहीं हूँ। इस प्रकार का समाधान कला के उत्कर्ष में बाधक ही होता है। किन्तु समाधान का यह तो स्थूल अर्थ हुआ, वह अन्विति का पर्याय है और प्रत्येक कला रूप के लिए अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है। कला के मूलाधार के विषय में यों तो अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु यह मत प्रायः सर्वमान्य, कम-से-कम बहुमान्य, अवश्य है कि कला का प्राणतत्व है सामंजस्य अर्थात् अनेकता की एकता में परिणति। अतिवादों के इस युग में यूरोप में और इधर भारत में भी इस मत के विरोध में अनेक विचित्र स्थापनाएँ हुई हैं जो नाना प्रकार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि सामंजस्य या एकान्विति का

अनुसंधान एक कृत्रिम कला-चेष्टा है—आधुनिक जीवन की विकीर्णता ही आज के जीवन एवं कला का सत्य है । इन स्थापनाओं के खण्डन-मण्डन के लिए यहाँ अवकाश नहीं है और वास्तव में कृति तथा विकृति के भेद का लोप करने वाली इन अतिवादी धारणाओं का प्रतिवाद करना प्रस्तुत प्रसंग में आवश्यक भी नहीं है क्योंकि दिनकर के कला-संस्कार निश्चय ही इस प्रकार के अतिवाद से मुक्त हैं। अब, यदि सामंजस्य कला का आधारतत्व है तो उर्वशी के वस्तु-विधान में, उसके अंतरंग अर्थात् 'विचार' में और बहिरंग अर्थात् 'काव्य रूप'—दोनों में, एकान्विति ढूंढ़ने का प्रयास कला-रसिक पाठक के लिए स्वाभाविक है—और यहीं बाधा खड़ी हो जाती है। क्योंकि उर्वशी के मूल विचार तथा उसको प्रतिफलित करने वाले वस्तुविधान में अन्विति नहीं है : विचार का अन्वय-भंग कला रूप की अन्विति को भी भंग कर देता है। यथार्थ दृष्टि से यदि कवि द्वन्द्व को ही अन्तिम सत्य मान लेता और पुरूरवा के संन्यास में ही इस प्रणय-कथा का विसर्जन कर देता तब भी कला रूप की पूर्णता बनी रहती। किन्तु उसके आदर्शवादी संस्कार समाधान के लिए आकुल और विफल प्रयास करते हैं। इससे एक ओर जहाँ उर्वशी की सुन्दर कला-प्रतिभा में, पूर्ण होते-होते दरार पड़ जाती है, वहाँ दूसरी ओर सहृदय पाठक के चित्त की साहिति भी बिखरने लगती हैं। इसीलिए सामयिक हिन्दी काव्य की यह श्रेष्ठ उपलब्धि अंश रूप में अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध एवं प्रबल होने पर भी अपने समग्र रूप में न कामायनी की श्रेणी में आती है, और न प्रियप्रवास तथा साकेत की श्रेणी में।

उर्वशी

कुमार विमल

दिनकर ने जिस उर्वशी को अपने काव्य की नायिका के रूप में चुना है और जिसके नाम पर अपने काव्य का नामकरण किया है (जो नामकरण आधुनिक नायिका-प्रधान कथा-काव्यों की नाम-परम्परा के सर्वथा अनुकूल है), वह उर्वशी प्राचीन साहित्य में कई ढंग से उपस्थित हो गई है। एक मत के अनुसार जैसाकि 'पद्मपुराण' में वर्णित है, उर्वशी कामदेव के उरु से निकली। 'पद्मपुराण' में वर्णित कथा का संक्षेप यह है कि एक समय विष्णु ने गन्धमादन पर्वत पर धर्मार्थ घोर तपश्चरण किया, जिससे इन्द्र घबड़ा गए और उन्होंने विष्णु की तपस्या में विघ्न डालने के लिए अप्सराओं के साथ कामदेव को भेजा। किन्तु, जब अप्सराएँ विष्णु का ध्यान न तोड़ सकीं, तब कामदेव ने अपने उरु से उर्वशी को निकाला और उस उर्वशी ने वस्तुतः साधक का ध्यान तोड़ दिया। पौराणिक साहित्य की उर्वशी ने बहुतों का ध्यान तोड़ा है। बृहद्देवता के अनुसार यज्ञ-स्थल में उर्वशी को देखते ही वासतीवर पर मित्रावरुण का रेत गिर गया, जिससे अगस्त्य और वशिष्ठ का जन्म हुआ। इसी तरह दूसरी धारणा यह प्रचलित रही है कि उर्वशी नारायण के उरु से निकली। 'उर्वशी' नाम की यही अन्वर्थता है—'उरून् महतोऽपि अश्नुते व्याप्नोति वशीकरोति, इति उर्वशी'। व्याडि का भी यही मत है—'उर्वशीतु हरेः सव्यमूरूं भित्वा विनिर्गता' अर्थात् नारायण के उरू का भेदन कर निकलने से वह अप्सरा उर्वशी कहलाई। इसी तरह समुद्र-मंथन और भागवत वर्णित नरनारायण के तपश्चरण की कथा से भी उर्वशी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। ऋग्वेद के एक संवादात्मक सूक्त तथा महाभारत में उर्वशी की कथा आई है। महाभारत के अनुसार एकबार इन्द्र के यहाँ अस्त्र-विद्या सीखने आये हुए अर्जुन पर उर्वशी मोहित हो गई थी, किन्तु, अर्जुन ने उसे माता के ही रूप में देखा, जिससे रुष्ट होकर उर्वशी ने उन्हें वर्ष भर नपुंसक रहने का शाप दे दिया। इस तरह प्राचीन साहित्य में बहुतों के साथ उर्वशी का नाम आया हुआ है। किन्तु, प्रेम के मामले में वह केवल पुरूरवा को अर्पित थी—यह निश्चित और प्रसिद्ध है। इसकी इतनी प्रसिद्धि है कि उर्वशी-पुरूरवा राधाकृष्ण की तरह विश्रुत प्रेमी-युगल बन गये हैं किन्तु, इन दोनों के दाम्पत्य-ग्रहण की शर्त्तों और दाम्पत्य-समापन के विषय में भी विविध प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। एक कथा के अनुसार उर्वशी ने

पुरूरवा का पत्नीत्व इस शर्त पर स्वीकार किया कि यदि वह राजा को नग्न देख ले अथवा राजा उसकी इच्छा के विरुद्ध समगम करें अथवा उसके दो मेष यदि स्थानान्तरित कर दिये जाएँ, तो वह राजा को छोड़कर पुनः स्वर्गलोक में चली जाएगी। इन शर्तों की स्वीकृति के बाद दोनों दीर्घ काल तक साथ रहे और पुरूरवा से उर्वशी के नौ पुत्र भी उत्पन्न हुए। उधर उर्वशी की अनुपस्थिति गन्धर्वों को बहुत खलती थी। तब गन्धर्वों ने विश्ववसु नामक एक गन्धर्व को उर्वशी के मेषों को चुराने के लिए भेजा। उस समय पुरूरवा नग्न थे और मेषों के चुराने की आहट पाकर वे उसी दशा में उनके पीछे दौड़े। इसी अवसर पर गन्धर्वों ने सर्वत्र प्रकाश कर दिया, जिससे उर्वशी ने पुरूरवा को नग्नावस्था में देख लिया। इस तरह सभी शर्तों के टूट जाने पर उर्वशी पुरूरवा के साथ अपना सम्बन्ध त्याग कर स्वर्गलोक चली गई। किन्तु, दूसरी कथा के अनुसार भरत-शाप के कारण उर्वशी पुरूरवा की पत्नी बनी और जब पुरूरवा ने आयु नामक पुत्र का मुख देख लिया तब उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर स्वर्ग चली गई। कालिदास ने इस कथा को सुखान्त बनाने के लिए अन्त में नारद के द्वारा इन्द्र के आज्ञा-परिवर्तन की सूचना दिला दी है। जिसके कारण पूर्वशाप से मुक्त होकर उर्वशी पुरूरवा के ही साथ रहने लगी। दिनकर ने कथा को सुखान्त बनाने के लिए कोई आरोपित चेष्टा नहीं की है। और, भरत के शाप के साथ ही इन्द्र के इस शाप को भी यथावत रहने दिया है कि जब पुरूरवा के संसर्ग से उर्वशी को पुत्र होगा और पुरूरवा उसके दर्शन करेंगे, तब उर्वशी पुनः इन्द्र-पुरी चली आवेगी, फलतः उसे पुरूरवा से वियुक्त होना पड़ेगा। इस तरह दिनकर ने अपने काव्य को वियोगान्त रखकर उसे अधिक चिन्तन-गर्भ और प्रभावक बना दिया है।

किन्तु, दिनकर की 'उर्वशी' के परिशीलन-प्रसंग में उर्वशी अथवा पुरूरवा की पौराणिक कथा पर इतना विचार करना कि उससे कोई सर्ववादिसम्मत निष्कर्ष निकले, व्यर्थ है, कारण, 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और भीष्म की तरह ही इस काव्य की उर्वशी और पुरूरवा भी पौराणिक नाम की कलंगी मात्र धारण किये हुए हैं। यहाँ तो बीसवीं शताब्दी के पुरूरवा और उर्वशी हैं, जो नवन्तम सिद्धान्त, लाइजेन्स की 'थ्योरी ऑव अन्सर्टेनिटी' और सापेक्षतावाद द्वारा निर्दिष्ट काल के चतुर्थ आयामिक सत्य पर भी सोच सके हैं। अतः पौराणिक आलोक में दिनकर की 'उर्वशी' की कथा-यष्टि पर सोचना अथवा पुरूरवा और उर्वशी के चरित्र या जीवनदर्शन पर विचार करना आवश्यक नहीं है। पौराणिक आख्यान ने दिनकर की 'उर्वशी' के काव्य-रस को सुरक्षित रखने के लिए अंगूर के पतले छिलके का काम किया है। सच पूछिये तो दिनकर ने पुरूरवा और उर्वशी की अन्योक्ति परकता को स्वीकार किया है तथा इन्हें क्रमशः सनातन नर और सनातन नारी का प्रतीक माना है। इसे स्पष्ट करते हुए दिनकर ने लिखा है—'इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्त्तन मेरा ध्येय नहीं रहा है। मेरी दृष्टि में पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।' दिनकर की उर्वशी कौन, क्या और कैसी है—इसे कुछ घुमाकर हम दिनकर के ही शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—'कविताओं में हम जिस नारी का बखान सुनते हैं वह किसी की भी बेटी, बहन या भार्या नहीं होती। वह तो अनामिका, अशरीरी कल्पना की

प्रतिमा है, जिसके अंग पर उम्र के दाग नहीं लगते, जो स्पर्श से परे खड़ी हमारे सपनों पर राज करती है। चूँकि वह कोई एक नारी नहीं है, इसीलिए, वह सभी नारियों का प्रतिनिधित्व करती है।[1]

दिनकर ने 'वट-पीपल' के एक लेख में भी नारी के प्रति अपने स्वस्थ दृष्टिकोण को व्यक्त करने का प्रयास किया है। अतः ऐसा लगता है कि कवि ने 'नारी' पर मनोयोग-पूर्वक चिन्तन-मनन करने की कई बार चेष्टा की है। 'वट-पीपल' के इस लेख में दिनकर जी का कहना है कि 'प्राचीन और मध्यकालीन संसार नारियों के प्रति अनुदार था। निवृत्ति और भोग, ये दोनों अतिवादी सिद्धान्त हैं, और दोनों अन्ततः अस्वस्थ भावों को जन्म देते हैं। सर्वत्र की भांति यहाँ भी मध्यम मार्ग स्वास्थ्य का मार्ग है। नारी के गोचर रूप के भीतर एक और रूप है, जिसका सत्कार किये बिना नारीत्व का सही सत्कार नहीं हो सकता।[2] इस प्रकार नारी के प्रति स्वीकृत दृष्टिकोण की सीमाओं का निर्देश करते हुए दिनकरजी का स्पष्ट मत है कि 'नारी के समग्र रूप को लेखकों ने, शायद, अभी भी पूरा नहीं देखा है, किन्तु उसकी ओर वे पूरी क्षिप्रता से बढ़े हैं। हिन्दी में नारी के अगोचर व्यक्तित्व को छायावादी लेखकों और कवियों ने बहुत दूर तक पहचाना था। किन्तु संस्कार धीरे-धीरे बदलते हैं। अतएव गंगा के कूल पर पहुँच कर भी छायावादियों ने गंगा स्नान नहीं किया। लगता है, दिरकरजी ने 'उर्वशी' में यह गंगा-स्नान कर लिया है। इसीलिए इन्होंने कई साहित्यकारों की नारी-दृष्टि को आलोचित करते हुए लिखा है—'रवि बाबू ने एक पात्र से कहला दिया कि नारी केवल सुन्दरता है, केवल चांदनी और फूल है, उसे भला कर्म-कीर्ति और शिक्षा-दीक्षा की क्या आवश्यकता हो सकती है। और प्रेमचन्द ने यह कहा कि नर यदि नारी के गुण सीख ले तो वह देवता हो जाता है और नारी यदि नर के गुण सीख ले तो वह राक्षसी हो जाती है। इसी प्रकार प्रसाद जी ने 'कामायनी' में जिन दो नारी पात्रों की सृष्टि की, उनमें से श्रद्धा के प्रति तो उनकी सहानुभूति है, किन्तु, इड़ा को वे सहानुभूति से नहीं देखते, क्योंकि इड़ा वह नारी है, जिसने पुरुषों के गुण सीखे हैं। इन तीनों कलाकारों की दृष्टि रोमांटिक है। इसीलिए वे पुरुष को धूप और नारी को चांदनी कहते हैं।[3] 'सारांश यह है कि दिनकरजी ने नारी को रोमांटिक दृष्टि से हटकर और उसे भाग्य रूप से ऊपर रखकर देखने की चेष्टा की है। दिनकरजी का यह प्रयास, कुछ दूर तक, हमें 'उजली आग' में संगृहीत 'माया की रचना', 'नारी की रुचि' और 'अर्द्ध नारीश्वर' शीर्षक रम्य रचनाओं में भी देखने को मिलता है।

दिनकर की उर्वशी को दिनकर की दृष्टि से सनातन नारी का प्रतीक मानने में उर्वशी का पौराणिक रूप, जो हमारे संस्कार में समाया हुआ है, बाधक हो सकता है, कारण, पुरूरवा के लिए वह अन्या थी, (भरत के शब्दों में) बाह्यान्तरा थी। वह तो

---

१. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, ले० दिनकर, पृ० ३२-३३

२. वट-पीपल, पृ ०७४

३. वही, पृ० ७५

कामातुरा सौख्यार्थिनी अप्सरा थी, इन्द्र के दरबार की शिथिलत्रपा 'अवरुद्धा विलासिनी' थी । अतः पौराणिक उर्वशी को सनातन नारीत्व का प्रतीक मान लेने से 'नारी' की महिमा घट जाती है । इसलिए देखना यह है कि दिनकर की उर्वशी कैसी है । कालिदास तक की उर्वशी रतिरहस्य में पारंगत थी, निपुणा, वचनविदग्धा और स्वयंदूती थी । दिनकर की उर्वशी भी वृत्तसुरतगोपना नहीं है और 'न रतौ वामा शयने पराङ्मुखी' ही । किन्तु, दिनकर की उर्वशी निष्ठावान प्रेमिका है, अतः वह सनातन नारीत्व का प्रतीक बन सकती है । दिनकर-पूर्व उर्वशी की भी प्रेम-निष्ठा इससे व्यक्त होती है कि वह इन्द्र, गन्धर्व या अर्जुन के प्रति आकृष्ट रहकर भी हृदय से केवल पुरूरवा की रही है, अतः वह निष्ठावान प्रेमिका है, एकार्पिता है । वह रूपजीवा या सामान्या नहीं है । जब स्वयंवर के समय वीर्यशुल्क मांगने वाली 'प्रसिद्ध नारी' भोजप्रणाली के अनुसार सामान्या होकर भी पुण्यवती हो सकती है, तब स्नेह-शुल्क वसूलने वाली उर्वशा क्यों नहीं निष्ठावान प्रेमिका हो सकती है । अतः दिनकर की उर्वशी एकाचारिणी है, कल्पता-नुरागा है और अप्सरा (सामान्या) होकर भी वसन्तसेना की तरह असामान्या है, किसी एक के प्रति अर्पित है ।

इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दिनकर की उर्वशी पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । दिनकर की उर्वशी में जगत और जीवन का स्पन्दन अधिक है, साथ ही अप्सराओं की स्वर्गीयता भी । वह विश्वप्रिया का प्रतीक होने के साथ एक व्यक्ति की प्रिया भी है, जो गर्भ धारण कर माँ बनती है । इस तरह वह सविशेष और निर्विशेष, सांसारिक और स्वर्गीय––दोनों है । किन्तु,रवि बाबू की उर्वशी केवल स्वर्गीय है, अप्सरा है, विश्वप्रिया है, अतः निर्विशेष और अमूर्त्त है । वह सबकी है, अतः किसी की नहीं है । सच पूछिये तो रविबाबू की उर्वशी विशेषणों की उर्वशी है । वह नन्दनवासिनी, सुन्दरी, रूपसी, अनवगुण्ठिता अकुण्ठिता, कुन्दशुभ्रनग्नकान्तिमयी, सुरेन्द्रवन्दिता, अनिन्दिता, अनन्तयौवना, पूर्ण-प्रस्फुटिता, विलोल हिल्लोल, असम्वृता, अबन्धना, अपूर्वशोभना उर्वशी है । वह माता, कन्या, बधू आदि सभी सम्बन्धों से परे मात्र सौन्दर्य-राशि है, विराट् की निरपेक्ष सौन्दर्य-मूर्ति है––

नह माता, नह कन्या, नह बधू, सुन्दरी रूपसी,
हे नन्दनवासिनी उर्वशी ।

वह तो स्वयंभू सौन्दर्य है, अपने आप से उत्थित है—

वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनि विकशि
कबे तुमि फुटिले उर्वशी ।

वह कालातीत है, शाश्वतयौवना है, यौवन के बाद आनेवाले बुढ़ापे की तो बात दूर रही, यौवन की पूर्वावस्था— शैशव ने भी उसका स्पर्श नहीं किया है । रविबाबू अपनी उर्वशी से कहते हैं—

कोनो काले छिले ना कि मुकुलिका बालिकावयसी,
हे अनन्तयौवना उर्वशी ।

इस तरह रवि बाबू ने उर्वशी का पूर्ण अमूर्तन (एब्स्ट्रेक्शन) कर दिया है, वह तो सम्पूर्ण विश्व की शाश्वत प्रेयसी-मात्र है, मानसी प्रिया है—

युगयुगान्तरहते तुमि शुधु विश्वेर प्रेयसी,
हे अपूर्वशोभना उर्वशी ।

किन्तु दिनकर की उर्वशी कुछ विशेषणों की—निबिडस्तननता, मुष्टिमध्यमा, मदिरलोचना और कामलुलिता—उर्वशी होकर भी मर्त्यलोक के राजा पुरूरवा की प्राणप्रिया है, देह की गठन खोकर पयस्विनी बननेवाली माँ है । यह उर्वशी केवल 'स्वर्ग नहीं, 'धरती' भी है, ऐसी नारी है, जो धरती और स्वर्ग को जोड़नेवाली सेतु है । अत: दिनकर की उर्वशी जगत बोध और अध्यात्म-बोध—दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण है । वह रवि बाबू को उर्वशी की तरह अतीन्द्रिय रूप-सौन्दर्य का चामरछत्र धारण करने वाली केवल मानसी तरुणी नहीं है । अत: दिनकर की उर्वशी के समक्ष पुरुष 'पुरुष' रहता है, कामाध्यात्म को समझने वाला प्रेमी रहता है, किन्तु रवि बाबू की उर्वशी के सामने पुरुष जिज्ञासा का दिशिहारा शिशु बन जाता है और कुछ नहीं । यों, दिनकर में भी प्रसंगानुसार उर्वशी के अमूर्त्तन की प्रवृत्ति है । जैसे—

नहीं, उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है सृष्टा के मन की ।[1]

पुरूरवा के इन शब्दों को छोड़िये, उर्वशी स्वयं कहती है—

मैं देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ ।
मैं आत्मतंत्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मैं चिर युवती सुकुमारी हूँ ।
... ...
मैं भूत, भविष्यत्, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त,
मैं विश्वप्रिया ।[2]

रवि बाबू के अलावा श्री अरविन्द ने भी उर्वशी पर लिखा है ।[3] जो कई दृष्टियों से पठनीय है । हिन्दी में श्री उदयशंकर भट्ट ने 'कालिदास' नामक ध्वनि-रूपक-संग्रह में उर्वशी और पुरूरवा पर लिखा है जो कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' का भावानुवाद है । अत: मौलिकता के अभाव में इस पर विस्तृत विचार अनपेक्षित है । इस तरह कुल मिलाकर साहित्यकारों द्वारा अद्यावधि प्रस्तुत उर्वशियों में दिनकर की उर्वशी का विशिष्ट स्थान है ।

रचना-विधान की दृष्टि से 'उर्वशी' क्या है, इसका उत्तर देना सरल नहीं है, कारण यह अंकों में विभाजित है, किन्तु, कथोपकथन की वांछित नाटकीयता से कुछ

---

१. उर्वशी, पृ० २४
२. वही, पृ० ६६
३. 'विक्रमोर्वशी आर द हीरो एण्ड द निम्फ' अथवा 'मोर पोयेम्स' में 'उर्वशी' शीर्षक कविता, अरविन्द आश्रम प्रकाशन, पाण्डीचेरी ।

दूर है। दूसरी ओर यह प्रबन्धकाव्य के गुणों से भरपूर है। किन्तु इसका विभाजन सर्गों में नहीं हुआ है। अतः इसके रचनाविधान में कितना नैपुण्य है। या इसमें दान्ते के रचना-विधान का कितना अनुकरण हो सका है—यह बतलाना कठिन है। किन्तु, इतनी बात स्पष्ट है कि विषय, प्रतिपादन, कलात्मक ऊँचाई और गाम्भीर्य, इन सभी दृष्टियों से 'उर्वशी' एक महत्काव्य है और 'कुरुक्षेत्र' से अवश्य आगे है। यों कथा प्रबन्ध या प्रसंग-परिकल्पन की दृष्टि से भी 'उर्वशी' बहुत रोचक है, कारण प्रथम अंक में ही परियों को प्रस्तुत कर देने से काव्य का प्रास्थानिक प्रयत्न भूरिशः ललाम हो गया है तथा काव्य का सम्पूर्ण परिवेश रसोत्तीर्ण बन गया है।

तदनन्तर, यह ध्यातव्य है कि शृंगारिक वर्णनों के रहने पर भी 'उर्वशी' अपने उदात्त विचारों के कारण एक सर्वतोभद्र काव्य है। कारण, पकी उम्र में कवि ने शृंगार और प्रेम को अपना विषय बनाया, अतः किशोर वय की सहज विछलन और ऐन्द्रियता के अतिरेक से वह बच गया तथा शृंगार के सांस्कृतिक स्तर से नीचे नहीं उतरा। यों प्रौढ़ वय में 'उर्वशी' की पुण्यतोया गंगा बहाने के लिए कवि ने तरुणाई में ही 'रसवन्ती' की गंगोत्तरी तैयार कर ली थी, जब कि वह क्रान्ति और ओज की अग्निवीणा बजा रहा था। अतः उसके काव्य में जो प्रेम-भावना दबी-दबी सी थी, वह क्रान्ति के उतार पर आते ही लहरिल होकर उग आई। इस प्रकार 'उर्वशी' का बीजवपन 'रसवन्ती' में ही हो चुका था और तभी कवि ने किसी अनामा रसवन्ती के समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी—

तरंगित सुषमाओं पर खेल करूँगा देवि ! तुम्हारा ध्यान,
दुखों की जलधारा में भींग तुम्हारा ही गाऊँगा गान।

इतना ही नहीं, 'रसवन्ती' काल में ही उसने नारी को उस महिम रूप में देख लिया था, जिसकी विवृत्ति 'उर्वशी' में प्रस्तुत है—

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि।
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे प्राण।

और तभी कवि ने रास की मुरली, मानवती, पुरुष-प्रिया, इत्यादि कविताओं में नारी को सांस्कृतिक शोभा-सुषमा के रूप में स्वीकार कर लिया था तथा वह 'प्रिया' शब्द के दो वर्णों की 'रसना की प्रथम निर्मल ऋचा' मानकर कई बार गुनगुना चुका था।

किन्तु, 'रसवन्ती' की इस शृंगार-भावना या प्रेम-दर्शन को कवि ने 'उर्वशी' में अपने चिन्तन से पुष्ट बनाया है और विचार-दृष्टि से कुछ नूतन क्षितिजोद्घाटन किया है। यदि हम अंग्रेज़ी की एक उक्ति—'मीनिंग इज द वर्गलर्स वेट फार द हाउस डाग ऑव इण्टेलेक्ट'—का सहारा लें, तो कह सकते हैं। कि 'उर्वशी' में भी 'बर्गलर्स वेट' पर्याप्त मात्रा में है।

यहाँ 'उर्वशी' में व्यक्त-प्रेमदर्शन पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। 'उर्वशी' में प्रेम को एक बोधात्मक विषय (काग्निटिव कण्टेण्ट) के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे भारतीय ढंग के उन्नयन (सब्लिमेशन) के सहारे 'वासना' से

'दर्शन' तक पहुँचाया गया है—

> पहले प्रेम स्पर्श होता है
> तदनन्तर चिन्तन भी ।
> प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है
> तब वायव्य गगन भी ।

इसीलिए दिनकर की उर्वशी एक ओर अपार्थिव सौन्दर्य का पार्थिव संस्करण है, तो दूसरी ओर पार्थिव सौन्दर्य (नारी) का अपार्थिव उन्नयन भी --उन्नयन और सूक्ष्मी-करण भी। फलस्वरूप 'उर्वशी' में प्रेम के प्रति वैष्णव भाव है, जिसे हम प्रेम का आधुनिक 'सहजिया-करण' कह सकते हैं। लगता है, दिनकर ने पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी 'कहकर पुरूरवा को सहजिया मत का विल्वमंगल बनाना चाहा है, जो चिन्तामणि को प्यार करते-करते ही कृष्ण तक पहुँच गये थे। अतः दिनकर के पुरूरवा की उर्वशी एक तरफ से सहजिया मत के विल्वमंगल की ऊर्ध्वमुख प्रेयसी 'चिन्तामणि' है और स्वयं पुरूरवा 'विराग लोक का रसिक' तथा मधुवन का संन्यासी है। इस प्रकार दिनकरजी 'उर्वशी' में उस सहजिया मत के पास पहुँचते दीख पड़ते हैं, जिसको मानने-वाले लोग स्त्री-प्रेम के द्वारा विश्वप्रेम और भागवत वैष्णव रस तक पहुँचने की चेष्टा करते थे। यह सहजिया प्रवृत्ति ही युगानुकूल परिवर्तित होकर 'उर्वशी' में 'कामाध्यात्म' बन गई है।[1]

दिनकर ने अन्यत्र भी लिखा कि है 'प्रेम का आरम्भ भौतिकता में और परि-

---

१. दिनकर जी ने इस प्रसंग में बार-बार 'सहज' शब्द का भी प्रयोग किया है—

मुक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,
विधि-निषेध से परे, छूटकर सभी कामनाओं से।—उर्वशी, पृ० ८२

या

यह आभास नहीं टिकता, जब मनुज जान लेता है
अप्रयास अनुभव न प्रकृति का, सहज रीति जीवन की।–उर्वशी, पृ० ८३

या

लीलामय की सहज शान्त आनन्दमयी धारा में।—उर्वशी, पृ० ८६

या

जहाँ नहीं मिलते-नर नारी उस सहजाकर्षण से
जैसे दो वीचियाँ अनामंत्रित आ मिल जाती हैं।—उर्वशी, पृ० ८५

या

किन्तु, कभी क्या रसावेश में कोई जा सकता है,
बिना सहज एकाग्र वृत्ति के, मात्र हाँक कर तन को ?—उर्वशी, पृ० ८५

या

मन के माया-मोह-बन्ध को छुड़ा सहज पद्धति से।—उर्वशी, पृ० ८६

पाक अध्यात्म में है। प्रेम पहले फिजिक्स और तब 'मेटाफिजिक्स' होता है।[1] इसे यदि कोई सूफियों की 'इश्कमजाजी' और 'इश्कहकीकी' के सन्दर्भ में शारीरिक सोपान से आध्यात्मिक सोपान का आरोहण कहें, तो किसी को विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु, दिनकर के प्रेमदर्शन की विशेषता यह है कि इसमें 'तन' का महत्व अन्त तक बना रहता है। 'नये सुभाषित' में भी इन्होंने लिखा है—

प्रेम की मादकता का भेद
छिपा रहता भीतर मन में,
काम तब भी अपना मधुवेद
सदा अंकित करता तन में।

कारण, 'शरीर प्रेम की जन्मभूमि है और जैसे सब लोग जन्मभूमि से प्यार करते हैं, वैसे ही प्रेम को भी अपनी जन्मभूमि अन्य सभी भूमियों से अधिक पसन्द है। 'संभवतः प्रेम की इसी 'शारीरिकता' के कारण पुरूरवा ने प्रारम्भ में उर्वशी को 'देह-करम' के भाव से देखा है, मुख्यतः 'देह-स्तर' पर। किन्तु, जैसाकि दिनकर ने कहा है, प्रेम का एक रूप वह है जो दैहिक चेतना से परे होता है और जिसकी प्राप्ति के लिए पुरुष और नारी को अपनी अंग-संज्ञा के पार जाना पड़ता है। इसलिए शारीरिक सौन्दर्य-चेतना के अलावा प्रेम की एक लीला भूमि वह है, जो शरीरेतर और शरीरोत्तर है। लेकिन इस शरीरेतर अथवा शरीरोत्तर लीलाभूमि का प्राक्तन स्वरूप शरीर में ही छिपा रहता है, अर्थात् अंग-संज्ञा का पारवर्ती प्रेम भी पहले शरीर से ही प्रारम्भ होता है। फलस्वरूप, शारीरिकता से तभी भय होना चाहिए, जब वह 'अथ' न रहकर 'इति' भी बन जाए। अन्यथा, प्रेम के 'अथ' में रहनेवाली शारीरिकता उपचित प्रेम की परिपक्वता के लिये अनिवार्य है। अतः दिनकर ने अपना निष्कर्षात्मक दृष्टिकोण इसी सूत्र में व्यक्त कर दिया है—

पहले प्रेम स्पर्श होता है
तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है,
तब वायव्य गगन भी।

इस तरह प्रेम के प्रति कवि का दृष्टिकोण केवल निरामिष नहीं है, प्रारम्भ में उसने मांसल भाव को स्वीकार किया है। सचमुच, प्रेम के क्षेत्र में प्रारम्भ में ही 'विदेह' भाव धारण कर लेने से आगे चलकर उसके लड़खड़ा जाने का भय बना रहता है, कारण अपरिचित वस्तु में एक दुर्निवार आकर्षण रहता है। अतः देह-सीमा से स्वानुभूतिमय परिचय कर लेने के बाद विदेह-भाव धारण करना अधिक निरापद और न्याय्य होता है। सारांश यह है कि राग से परिचय पाने के बाद विराग धारण करना चाहिये—यही व्यक्ति का स्वाभाविक विकास है। एक ही बार अंगद-कुदान मारकर विराग के कलश

---

१. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, ले० दिनकर, पृ० २८

को मर्कट-मुष्टि से थाम लेना अपने चरित्र को जरासंध की बाईं जांघ बनाकर रखना है।

'पहले प्रेम स्पर्श होता है' से ध्वनित होनेवाली सेक्स-भावना या शारीरिकता प्रेम के लिए आवश्यक है तथा जैव दृष्टि से भी स्वाभाविक है। जीवविज्ञान और मनो-विज्ञान की दृष्टि से प्रेम एक प्रकार की 'साइकिक इनर्जी' है, जिसे हम आधुनिक मनो-विज्ञान की भाषा में प्रायः 'लिबिडो' कहा करते हैं। यह 'साइकिक इनर्जी' (मानसिक ऊर्जा) हम प्राणियों के शरीर में सदा चलायमान रहती है। कारण, हमारे शरीर में हर क्षण 'मेटाबालिज्म' की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसे हम एक प्रकार से जीवशैवाल की रचना और विघटन कह सकते हैं। इस 'मेटाबालिज्म' के अन्तर्गत दो प्रकार की उपक्रियाएँ चलती रहती हैं—'एनाबालिज्म' और 'केटेबालिज्म'। प्रथम में हम केवल पाते हैं, दूसरे में हम कुछ खोते हैं, तब कुछ पाते हैं। किन्तु, जीव-विकास के लिए ये दोनों क्रियाएँ अत्यावश्यक हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर में दो प्रकार के कोष हुआ करते हैं—सोमैटिक और जर्मिनल। सोमैटिक 'सोमा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है शरीर। तो 'सोमैटिक' कोषों के अन्तर्गत 'सेक्स आर्गेन्स' के अलावा सभी अंग आते हैं और जर्मिनल कोषों के अन्तर्गत केवल 'सेक्स आर्गेन्स' आते हैं। अतः कुछ लोग भ्रमवश शृंगारिक प्रेम के संवेगों का क्रियाक्षेत्र केवल 'जर्मिनल' कोषों को मानते हैं, जबकि वे संवेग 'जर्मिनल' कोषों के साथ 'सोमैटिक' कोषों में भी उद्रिक्त होते रहते हैं। 'इरोजेनिक जोन्स'—उरोज, जंघामूल, इत्यादि की तरह हमें त्वक्-चेतना के मनः संवाद (डर्मल साइके) के द्वारा 'सोमैटिक' कोषों में भी संस्पर्श-सुख का अनुभव होता है, जो प्रेम का ही संवेदन है।[1] अतः प्रेम की संवेदना का सम्बन्ध समूचे शरीर से है। यह प्रेम हम प्राणियों की एक जैव

---

१. दिनकर ने प्रसंगानुकूल अनेक स्थलों पर, 'इरोजेनिक जोन्स' और त्वक-चेतना के मन : संवाद की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं तथा संस्पर्श-सुखों का बहुत ही काव्यामक और रसनीय अभिव्यंजन किया है। कुछ उदाहरण देखिए (इरोजेनिक जोन्स का संकेत)

देतीं मुक्त उड़ेल अधर-मधु ताप तप्त अधरों में
सुख से देतीं छोड़ कनक कलशों को उष्ण करों में।—पृ० १५

या

ये प्रबाल से अधर दीप्त, जिनका चुम्बन लेते ही
घुल जाती है कान्ति, प्राण के पाटल खिल पड़ते हैं।—पृ० ५६

या

और वक्ष के कुसुम-कुंज, सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहरकर, श्रान्ति दूर करते हैं।—पृ० ६१

या

विजयिनी विश्वनर को अपने उत्तुंग वक्ष
पर सुला अमित कल्पों के अश्रु सुखाती है—पृ० ६६

मानसिक ऊर्जा है, जो उचित आलम्बन के अभाव में प्रायः आत्मरति या सजातीय रति में परिवर्तित हो जाती है और जो किसी भी आध्यात्मिक प्रयास या कठोर बौद्धिक नियंत्रण से एक बार उन्मूलित नहीं हो सकती है। यह शारीरिक प्रेम-भावना हमारे रक्त में तिलतैलवत् समायी हुई है। इसलिए दिनकर ने इस प्रेम-भावना को 'रुधिर की बहिन' (पृ० ४८) 'रुधिर का राग' (पृ० ५०), 'बहिन की लहर' (पृ० ५६), 'शोणित की तीव्र क्षुधा' (पृ० ६३), 'शोणित की मधुमय आग' (पृ० १३), 'रक्त की उत्तप्त लहर' (पृ० ४६) इत्यादि के द्वारा ध्वनित किया है और प्रेम सम्बन्धी इस अपरिहार्य जैव वास्तविकता को उर्वशी की इस उक्ति में व्यक्त किया है—

> रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
> क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
> ... ...
> श्रुति-पट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
> रसना की गुदगुदी, अदीपित निशी के अंधियाले में
> रसमाती, भटकती उंगलियों का संचरण त्वचा पर
> इस निगूढ़ कूजन का आशय बुद्धि समझ सकती है?
> उसे समझता रक्त, एक कंपन जिसमें उठता है,
> किसी दूब की फुनगी से औचक छू जाने पर भी।
> ... ...

(त्वक् संवेदना)

> चुम्बन की कल्पना अंग में सिहरन उपजाती थी।—पृ० ३२
> अर्द्धचेत पुलकातिरेक में मन्द-मन्द बहती है।—पृ० ३३
> वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
> नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते है?
> याद आते हैं तरंगित अंग के रोमांच, कंपन।—पृ० ५१
> कामना छूकर त्वचा को फिर जगाती है।—पृ० ५१
> श्रुतिपद पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरों पर
> रसना की गुदगुदी अदीपित निशि के अंधियाले में
> रसमाती, भटकती उंगलियों का संचर त्वचा पर।—पृ० ६०
> रोमांचक सनसनी स्पर्श-सुख की जो समा गयी है
> त्वचा-जाल, ग्रीवा कपोल में, उंगली की पोरों में।—पृ० १२६

(यौन संवेगों की शारीरिक प्रत्यर्थता)

> रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में।—पृ० ५२
> शोणित का वह ज्वलन, अस्थियों में वह चिनगारी-सी,
> स्वयं विभासित हो उठना पुलकित संपूर्ण त्वचा का।—पृ० १२७

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी।
—पृ० ५९-६०-६१

तदनन्तर, प्रेम की इस जैव वास्तविकता के स्वीकरण के अलावा हमें दिनकर के शृंगार-निरूपण में कई स्थलों पर मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और एनेटामी से संपृक्त कल्पना का कलात्मक उपयोग मिलता है। जिसके फलस्वरूप हिन्दी कविता में शृंगार-कल्पना को पहली बार यह जैव स्तर मिल सका है। प्रेम के मादक, तरंगित और उत्तप्त संवेगों का मनुष्य के नाड़ी-संस्थान, चेताग्रन्थियों, इन्द्रियों और रक्त-चालन पर कैसा प्रभाव पड़ता है—इसके प्रति दिनकरजी बहुत सचेत दीख पड़ते हैं। जैसे[1]—

यह कैसी माधुरी ? कौन लय स्वर में गूंज रहा है
त्वचा-जाल पर, रक्त शिराओं में, अकूल अन्तर में ?—पृ० ७४

इसी तरह प्रेमिल संवेगों की शारीरिक प्रत्यर्थता, विशेषकर, उसके 'मोटर-रेस्पान्स' को परखने की अद्भुत कला दिनकरजी के पास है—

जहाँ कहीं भी प्रणय सुप्त था शोणित के कण-कण में
तुमने उसको छेड़ मुझे मूर्छा से जगा दिया है।
... ...
भरी चुम्बनों की फुहार, कंपित प्रमोद की श्रति से
जाग उठी हूँ मैं निद्रा से जगी हुई लतिका-सी।—पृ० ७५

एक जगह और भी उर्वशी ने स्मृति का सहारा लेते हुए प्रत्यग्दर्शन शैली में कुछ ऐसा कहा है—

तब फिर आलोड़न निगूढ़ दो प्राणों की ध्वनियों का,
शोणित का वह ज्वलन, अस्थियों में वह चिनगारी-सी,
मानो, तन के अन्धकार की परतें टूट रही हों।—पृ० १२७

जिससे मनुष्य की त्वक्-चेतना, इन्द्रियों और ग्रंथियों पर यौन संवेगों की आशु और सशक्त प्रतिक्रियाओं का पता चलता है। रवि बाबू, ने भी एकाध स्थल पर उर्वशी के कामलोल कटिवाले सलील नृत्य का प्रभाव वर्णित करते समय इस शारीरिक प्रत्यर्थता को पकड़ने की चेष्टा की है—'अकस्मात् पुरुषेर वक्षमाझे चित्त आत्महारा नाचे रक्त-धारा' किन्तु यह घुणाक्षर न्याय से हो गया है, कारण रवि बाबू की कल्पना-दृष्टि में जैव तत्व नहीं के बराबर था। लेकिन दिनकर की 'उर्वशी' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ 'अर्पण' की शारीरिक प्रत्यर्थताओं से पूरा का पूरा सन्दर्भ भरा हुआ है, पर शारीरिक ऊष्मा से भरपूर भावों की अभिव्यक्ति इतनी शिलिपत है कि उस भोंडेपन या शिथिलता का भान भी नहीं होता, जो सूक्ष्मता के आकांक्षी छायावादियों तक में कभी-कभी मिल

---

१. डान्न ने भी एक जगह लिखा है—
हर प्योर एण्ड इलोक्वेन्ट ब्लड
स्पोक इन हर चीक्स...

जाता है। देखिये, उर्वशी की इस उक्ति में मांसल काम-क्रीड़ा की कितनी कलात्मक अमांसल अभिव्यक्ति है—

> उफ री यह माधुरी ! और ये अधर विकल फूलों से
> ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
> रोम-कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणों से।
> और सिमटते ही कठोर बाहों के आलिंगन में,
> चटुल एक पर एक उष्ण उर्मियाँ तुम्हारे तन की
> मुझ में कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
> कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
> मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूर्च्छित होने लगती हूँ।
> कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को
> पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोड़न में —पृ०७९[1]

इस प्रकार 'उर्वशी' में प्रस्तुत संवेगांकन और सौन्दर्य-चित्रण पर निष्कर्षात्मक टिप्पणी देते हुए हम कह सकते हैं कि दिनकर ने आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र के उस बहु-प्रशंसित सिद्धान्त—थ्योरी आॅव इम्पैथी'—का सुन्दर काव्यात्मक विनियोग किया है, जिसके प्रतिपादकों में वर्नान ली, ई० जे० केम्फ, बर्नार्ड बेरेन्सन, एच० एस० लैंगफेल्ड इत्यादि प्रसिद्ध हैं। उस पर भी दिनकर ने 'थ्योरी आॅव इम्पैथी' के उस पक्ष पर अधिक बल दिया है, जिसमें संवेगों के शरीरस्थ संचरण, चेता और संवाहिनी नाड़ियों की गति तथा भावक की माँसपेशियों के विकार का विशेष ध्यान रखा जाता है और सौन्दर्य के आकलन में स्पार्शिक बिम्बों (टेक्चुअल इमेजेज) को सर्वाधिक मूल्य प्रदान किया जाता है।

सामान्यत: पाश्चात्यों ने प्रेम के तीन प्रकार माने हैं —'प्लेटोनिक लव, 'रोमाण्टिक लव' और 'लव थ्रू पेरेण्टल च्वायस'। प्लेटोनिक प्रेम पूर्णत: निरामिष होता है और दार्शनिक होता है। यह प्रेम प्रजननशील नहीं होता है और सजातीय या समयौनिक हो सकता है। प्लेटो का तो कहना था कि ऐसे प्रेम से प्रजनन-कार्य नहीं, सांस्कृतिक

---

१. इसी तरह इन पंक्तियों में भी मांसल भाव की कुछ दूर तक अमांसल अभिव्यक्ति देखी जा सकती है—

> अरुण अधर, रक्तिम कपोल, कुसुमासव घूर्ण दृगों में,
> आमंत्रण कितना असह्य माया-मनोज्ञ प्रतिमा का।
> ग्रीवा से आकटि समन्त उद्वेलित शिखा मदन की,
> आलोड़ित उज्ज्वल असीमता-सी संपूर्ण त्वचा में,
> वक्ष प्रतीप कमल, जिन पर दो मूंगे जड़े हुए हैं,
> त्रिवली किसी स्वर्ण-सरसी में उठती हुई लहर-सी
> पृथुल, निमंत्रण मधुर, स्निग्ध, परिणत, विविक्त जघनों पर
> आकर हुआ न ध्वस्त कौन हतविक्रम असृक-स्रवण से ?—पृ० १४९

कार्य हुआ करता है तथा इससे ज्ञान, सत्य और अध्यात्म की सिद्धि होती है। तदनन्तर, रोमांटिक प्रेम की बारी आती है। रोमांटिक प्रेम की कुछ तात्विक विशेषताएँ हैं, जैसे इसमें प्रेम का आलम्बन दुर्लभ रहता है, सुलभ या अलभ्य नहीं, अतः इसकी प्राप्ति के लिए कठोर प्रयत्न करना पड़ता है। आलम्बन के सुलभ रहने से प्रेम का वेग घट जाता है। दूसरे, रोमांटिक प्रेम का आश्रय अपने आलम्बन के अमित मूल्यवान होने में अडिग विश्वास रखता है, जिससे आलम्बन की प्राप्ति के लिए अनेक मधुर प्रयास उपस्थित होते रहते हैं। तीसरे, रोमांटिक प्रेम में रूढ़ियों, परम्पराओं और बंधनों के प्रति विद्रोह रहता है। वह बंधनहीन होता है और रूढ़ियों या बन्धनों से टकराकर अधिकाधिक शक्ति तथा गति अर्जित करता है। सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य कर कालिदास के पुरूरवा ने कहा है—

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कट स्खलित वेगः।
विघ्नित समागम सुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥---विक्रमोवर्शीयम्

अर्थात्, ऊबड़-खाबड़ चट्टानों के बीच में आ जाने से जैसे नदी और अधिक वेग से बहने लगती है, वैसे ही जब प्रिय-मिलन के सुख में बाधाएँ आ कूदती हैं, तब प्रेम की जलन भी सौ गुनी बढ़ जाती है। इसी से चौथी बात यह निष्पन्न होती है कि रोमांटिक प्रेम के अस्तित्व के लिए रुढ़ियों, बन्धनों और बाधाओं का रहना अत्यावश्यक है। तदनन्तर, रोमांटिक प्रेम में इन तीन तत्वों—आवेग (पैशन), कल्पना और कोमलता (टेण्डरनेस) की अनिवार्य स्थिति रहती है। इसी 'आवेग' से चालित होकर उर्वशी कहती है—

···यदि आज कान्त का अंक नहीं पाऊँगी,
तो शरीर को छोड़ पवन में निश्चय मिल जाऊँगी।
···
···
लगता है कोई शोणित में स्वर्ण-तरी खेता है
रह-रह मुझे उठा अपनी बाँहों में भर लेता है।—पृ० २०-२१

और, पुरूरवा ने इसी रोमांटिक प्रेम की 'कल्पना' तथा 'कोमलता' से तरंगित होकर उर्वशी को इस कवि-दृष्टि से देखा है—

एक मूर्ति में सिमट गई किस भाँति सिद्धियाँ सारी ?
कब था ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी ?
लाल लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम-से, जावक-से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में भरी हुई-सी,
आँखों में वारुणी-रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी।
तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली-सी,
नूतनता संपूर्ण जगत की संचित हरियाली-सी।

पग पड़ते ही फूट पड़े विद्रुम-प्रवाल धूलों से,
जहाँ खड़ी हो, वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।—पृ० २४[1]

छठी बात यह है कि इस प्रेम में आलम्बन को एक महान शोभावलय (ग्लेमोरस मिस्ट) में ढंक कर देखा जाता है तथा इसमें प्रेम के आलम्बन को भी इतना महिमामय रहना चाहिए कि वह आश्रय के समक्ष अपनी अर्द्धोन्मीलित रहस्यमयता अथवा 'स्फिक्स लाइक सेक्रेसी' का आद्यन्त निर्वाह कर सके। इसी आलम्बनगत रहस्यमयता के कारण उर्वशी के विषय में पुरूरवा की ऐसी धारणा है—

नहीं उर्वशी, नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कुलष कल्पना है स्रष्टा के मन की।—पृ० २४

यह भी देखा जाता है कि जब रोमांटिक प्रेम में आलम्बन की दुर्लभता अधिक रहती है, तब उसे जीवित रखने के लिए अतृप्त प्रेमी 'प्लेटोनिक' दृष्टिकोण बना लेता है और वह मानने लगता है कि अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। कभी-कभी रोमांटिक प्रेम के अभ्यर्थी भी आलम्बन को छूना नहीं चाहते, पूर्णतः प्राप्त करना नहीं चाहते, उसे केवल भर आँख देखना चाहते हैं और यह मान लेते हैं कि प्रेम की जीभ आँखों से होती है। तदनन्तर, 'लव थ्रू पेरेण्टल च्वायस' संवेगात्मक मनोविज्ञान की दृष्टि से निकृष्ट होता है, कारण, यह किसी पूर्वराग के बिना ही मात्र 'कर्त्तव्य-रूप' में दो व्यक्तियों के कन्धों पर विन्यस्त हो जाता है। इन प्रेम-प्रकारों को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि 'उर्वशी' के प्रारम्भ का, प्रेम निरूपण 'रोमाण्टिक' है और अन्तिम अंश का 'प्लेटोनिक'। अर्थात् 'उर्वशी' में अशरीरी प्रेम ही गन्तव्य है।

यहाँ यह विचारणीय है कि 'उर्वशी' में दिनकर जी ने नर-नारी प्रेम की जिस अशरीरी-आनन्द-लहर को प्रस्तुत किया है, उसमें इन्होंने कालिदास, फ्रायड, और लारेन्स की प्रेम-दृष्टियों के समीकृत रूप को कुछ दूर तक स्वीकार किया है। इस स्वीकरण से मेरा आशय मौलिकता का अभाव नहीं है। इसमें इन्होंने अपनी मनीषा से भी कुछ काम लिया है और इस पर बार-बार बल दिया है कि प्रेम का जन्म काम में होता है, किन्तु उसकी परिणति काम के अतिक्रमण में होनी चाहिए, इसीलिए, कवि कहता है—

---

1. दिनकर ने 'सीपी और शंख' में भी जर्मन कवि जूलियस रोडनबर्ग की एक कविता का भावानुवाद प्रस्तुत करते हुए नारीत्व और नारी की प्रशंसा में कुछ ऐसा ही लिखा है, जिसमें रोमांटिक दृष्टि ही प्रधान है—

नारीत्व शुद्ध पाटल है, जीवन की मलीन
वल्लरियों के दारुणनिकुंज में खिला हुआ।
... ...
···स्वर्ग-सुधा जितनी भी भूतल पर उतरी,
अमरों के सुख का सुलभ यहाँ जो भी कण है,
वह नारी है केवल उसके ही पास बन्धु,
सौन्दर्य, शान्ति, कविता, तीनों का मिश्रण है। —नारी, पृ० ४०

रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है। और, यहीं प्रेम 'सेक्स' से भिन्न तथा ऊँचा सिद्ध होता है। सचमुच, 'सेक्स' शरीर की तृषा है और प्रेम आत्मा की भूख। अत: यह आवश्यक नहीं है कि 'सेक्स' का आलम्बन ही प्रेम का आलम्बन हो अथवा प्रेम के आलम्बन तक ही 'सेक्स' की भावना सीमित हो। यदि प्रेम और 'सेक्स' का आलम्बन एक हो सके, तो यह आदर्श स्थिति है, किन्तु, इन दोनों में आलम्बन, भेद होने पर विशेष आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रेम इतना पवित्र और महार्घ तत्व है कि उस पर दैहिक स्खलनों के दाग नहीं पड़ते। दिनकर जी इसे स्पष्ट रूप में मानते हैं कि सेक्स की अनुभूति शारीरिक अनुभूति होती है, किन्तु, प्रेम की अनुभूति में शारीरिक-मानसिक और आध्यात्मिक, तीनों अनुभूतियाँ समन्वित रहती हैं।[1] विशेषकर, आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रेम में तभी संश्लिष्ट होती हैं, जब प्रेम में अनासक्ति का समावेश होने लगता है। इसीलिए दिनकर जी यह मानते हैं कि प्रणय अनासक्ति के गंगाजल में अवमृथ स्नान कर पवित्र हो जाता है—

नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।—पृ० ४६

किन्तु, प्रेम की इस आध्यात्मिक अनुभूति को सामान्य नर नहीं पा सकता है। इसे पाने के लिए रूप के अतिक्रमण से उत्थित होनेवाली एक विशिष्टता चाहिए, जिससे समन्वित नर को दिनकर ने 'कवि' की आख्या दी है—

नर समेट रखता बाँहों में स्थूल देह नारी की,
शोभा की आभा-तरंग से कवि क्रीड़ा करता है।
तन्मय हो सुनता मनुष्य जब स्वर कोकिल कंठी का,
कवि हो रहता लीन रूप की उज्ज्वल झंकारों में।
नर चाहता सदेह खींच रख लेना जिसे हृदय में,
कवि नारी के उस स्वरूप का अतिक्रमण करता है।[2]—पृ० ६२

इस प्रकार दिनकर ने यहाँ उस उज्ज्वल प्रेम का निरूपण किया है, जिसके सहारे मनुष्य रूपतन्मात्राओं से परे इन्द्रियगम्यता से दूर रहनेवाले पार्यान्तिक सौन्दर्य के दर्शन करता है तथा निरामिष सौन्दर्य-चेतना को प्राप्त करता है। फलस्वरूप, यहाँ दिनकर के द्वारा निरूपित 'नारी' पीयर आंद्रे की 'डिवाइन ब्यूटी' का पर्याय बन गई है और दिनकरजी रहस्यप्रिय सूक्ष्मोन्मुख सौन्दर्य-चेतना को प्रस्तुत करनेवाले 'मिस्ट्रिक एस्थीट' बन गये हैं। किन्तु, इनके प्रेम-दर्शन की व्यावहारिकता इसमें है कि इन्होंने लौकिकता, ससीमता और शारीरिकता को ही (उज्ज्वल) प्रेम का आधार माना है—

---

१. धर्म, नैतिकता और विज्ञान, पृ० १६

२. किन्तु, दिनकरजी ने कहीं यह भी लिखा है कि प्रेम सबों को कवि बना देता है, केवल मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं को भी—

प्रेम होने पर गली के श्वान भी
काव्य की लय में गरजते, भूंकते हैं।

—नये सुभाषि[illegible] पृ० ४

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमण्डल में,
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

इस तरह देह से उत्थित होने वाले प्रेम को ही दिनकर ने रहस्यचिन्तन तक पहुँचा दिया है। जैसे जल-पंक से 'अलिप्त पंकज' पैदा होता है वैसे ही शरीर से अशरीरी प्रेम पैदा होता है। सचमुच, जब शारीरिक, लौकिक अथवा मांसल प्रेम अरूप देह धारण कर लेता है तब एक में अनेक, सान्त में अनन्त, रूप में अरूप, लघु में विराट या सामान्य ससीम में असामान्य असीम विलसित हो उठता है। अतः दिनकर ने वास्तविकता की सुरक्षा के साथ ही उस आत्मनिष्ठ सौन्दर्य-चिन्तन से काम लिया है जिसके लिए शैफ्ट-सबरी प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार नारी के रूप को एक 'नमस्य दिव्य अव्यक्त कमल' बना देना फ्रायड के मनोवैज्ञानिक 'सब्लिमेशन' की तरह एक 'आध्यात्मिक उन्नयन' है जिसमें ऐन्द्रिय से अतीन्द्रिय तथा सामिष से निरामिष की ओर ऊर्ध्वगमन है। आगे कवि ने 'तन का अतिक्रमण' को 'पैरेन्थिसिस' की तरह कई बार प्रयुक्त कर प्रेम को मनोमय लोक में पहुँचा दिया है और नर-नारी के बीच रहनेवाले यौन भेद का अमूर्त्तन कर उसे (भेद को) तिरोभूत कर दिया है—

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में,
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो,
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।—पृ० ६३

फलस्वरूप, प्रेम इस मनोमय लोक में पहुँचकर उस विराट और अतिमामय सौन्दर्य के भावन का उपजीव्य बन जाता है जो एक अनवद्यभाव-सत्य है अवाङ्.मानसगोचर है और काण्ट के 'ट्रान्सेण्डेण्टल एस्थेटिक्स' में निरूपित है। अतः इस प्रेम के द्वारा कवि ने नर-नारी को उस कूट पर पहुँचा दिया है जहाँ पंचकंचुकों से हीन प्रत्येक प्राणी-युग्म के 'चिदम्बरम्' में शिव-शिवा की चिरन्तन समापनहीन लीला चलती रहती है—

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, शोणित के तप्त ज्वलन का,
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा में।
निन्दा नहीं, प्रशस्ति प्रेम की, छलना नहीं समर्पण,
त्याग नहीं, संचय, उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को।
ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलाश-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।—पृ० ६४

इन्हीं पंक्तियों को पढ़कर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह सम्मति यथातथ्य जान

१. शैफ्टसबरी की मान्यता है, 'ब्यूटी एण्ड गॉड आर वन एण्ड द सेम'।

पड़ती है कि उर्वशी विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी मानस की नित्य-नवीन सौन्दर्यकल्पना के रूप में ऐसी निखरी है कि आश्चर्य होता है।... उर्वशी विराट् मानस की कालजयी कल्पना है...यह समाधिस्थ चित्त की रचना है—समाधिस्थ चित्त, जो विराट् मानस से एकाकार हो गया था। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेम की उपरिनिर्दिष्ट अतिक्रान्ति, उदात्तीकरण, परस्थापन या सहेतुक आलम्बन विपर्यय से ही सम्भव है। अतः कवि प्रेम-दर्शन के निरूपण में विचार, संवेग और वृत्तियों के ऊर्ध्वगमन या ऊर्ध्वसंचरण का विश्वासी बन गया है तथा उसने फ्रायड के उन्नयन और अरविन्द दर्शन के, ऊर्ध्वसंचरण, का मौलिक समीकरण प्रस्तुत किया है। कुछ स्थलों पर उसने उज्ज्वल रस की विवृत्ति करने वाले रागानुगा भक्ति के कवियों की तरह यहाँ तक कह दिया है—

प्रणय-शृंग की निश्चेतनता में अधीर बाहों के,
आलिंगन में देह नहीं श्लथ, यही विभा बंधती है।
और चूमते हम अचेत हो जब असंज्ञ अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर चढ़ जाता है।—पृ० ७१[1]

और नर-नारी के मिलन-सुख को सहजियामतवालों का समाधि-सुख बना दिया है—

जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में,
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर।
तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते है।—पृष्ठ ७३

इतना ही नहीं, कवि की दृष्टि में एक स्तर पर 'इन्द्रिय-तर्पण' भी निर्दोष हो गया है,—'महासुख' का साधन बन गया है—

प्रणय-पाश में बंधे हुए भी जो निमग्न मानस से,
उसी महासुख की चोटी पर चढ़े हुए रहते हैं,
जहाँ योग योगी को, कवि को कविता ले जाती है।
और निरंजन की समाधि से उन्मीलित होने पर,
जिनके दृग दूषते नहीं अंजनवाली आँखों को।—पृ० १०६

और, कवि के महर्षि च्यवन ने भी अपनी तपःसाधना से यही निष्कर्ष निकाला है। चित्रलेखा कहती है—

नारी को पर्याय बताकर, तपःसिद्धि भूमा का,
सचमुच, त्रिया-जाति को ऋषि ने अद्भुत मान दिया है।—पृ० ११५

यहाँ यह ध्यातव्य है कि साधन और माध्यम की दृष्टि से पुरूरवा और च्यवन एक दूसरे के विलोम हैं। कारण, पुरूरवा भोग से योग तक पहुँचे हैं और च्यवन योग से भोग में आये हैं—पुरूरवा उर्वशी के माध्यम से उज्ज्वल रस और सहस्रार के प्रस्फुटन

---

१. **इसी भाव को बहुत पहले दिनकर ने गद्य में भी लिखा था—'उं**
स्वर्ग की वर्तिकाएँ हैं, जिनके स्पर्श से त्वचा प्रकाशित होती है और
पर अंकित होने वाले चुम्बन अनन्त के चरणों पर भी अंकित होते ार शंख)
जय के दंश
—ज्ञानोदय, दिसम्बर १९

पहुँचे हैं जबकि च्यवन ने तपोयोग के द्वारा 'हरि की प्रसन्नता के स्वरूप' भूमा की पर्याय सुकन्या को प्राप्त किया है। इस तरह भोग और योग एक ही गन्तव्य पर पहुँचाने वाले दो मार्ग हैं। अतः पुरूरवा का अन्तिम विकल्प कामाध्यात्म की ओर है—

> **अथवा अपने महाप्रेम के बलशाली पंखों पर**
> **चढ़ असीम उड्डयन भरेगा मन के महागगन में,**
> **जहाँ त्रिया कामिनी नहीं, छाया है परम विभा की,**
> **जहाँ प्रेम कामना नहीं, प्रार्थना, निदिध्यासन हैं?**—पृ० १५१

फलितार्थ यह है। कि कवि ने नारी की सुषमा को 'तपस्या का प्रसाद' बना दिया है[1]।

अन्त में हमें स्वीकार करना पड़ता है कि शृंगारिक वर्णनों के रहने पर भी 'उर्वशी' अपने 'उदात्त विचारों के कारण एक सर्वतोभद्र काव्य है, श्लील विचार से नियत-श्राव्य या नियतपाठ्य नहीं है।

---

१. कवि के अनुसार, 'वह स्पर्श भी तपस्या का ही फल है, जिसके लगते ही त्वचा सिहर कर पुष्पित लता बन जाती है।' (नर-नारी-समस्या और अन्तिम समाधान, शीर्षक लेख, ज्ञानोदय, दिसम्बर, १९५९)

परशुराम की प्रतीक्षा और भारतीय प्रसंग

सिद्धेश्वर प्रसाद

चीनी आक्रमण के समय आसेतु-हिमाचल सारा भारत-देश जिस चरम क्रोध से एक होकर गरज उठा था, उसकी मिसाल भारत के समग्र इतिहास में नहीं है। गर्जन प्राचीन और मध्यकालीन युगों में भी सुनाई पड़ा होगा, किन्तु वह गर्जन संपूर्ण राष्ट्र का नहीं हो सकता था। यह ठीक है कि स्वतन्त्रता संघर्ष के समय पूरा राष्ट्र एक होकर गरजता था, लेकिन उन गर्जनों में वह दर्प, वह आकुलता और गगनभेदी नाद नहीं था जो चीनी आक्रमण के समय उठा था। चीनी आक्रमण के खतरे आज भी बने हुए हैं, किन्तु चीनी आक्रमण के समय उत्पन्न प्रज्वलित क्रोध को जनता भूल गई। फिर भी उस क्रोध की ज्वाला लुप्त नहीं हुई। राष्ट्रकवि दिनकर ने उस आग को एक कविता के भीतर समेट कर अमर कर दिया है। आने वाली संततियाँ जब-जब 'परशुराम की प्रतीक्षा' को पढ़ेंगी, उन्हें यह आग गर्मी पहुँचाएगी और लोग याद करेंगे कि भारत के इतिहास में कोई घड़ी ऐसी भी आई थी, जब राष्ट्रीय अपमान से क्षुब्ध होकर सारा भारतवर्ष एक साथ हुँकार उठा था।

साहित्य सड़क पर या युद्ध भूमि में घटित होने वाली घटनाओं का विवरण नहीं लिखता। वह काम इतिहासकार का है। कवि तो घटनाओं के पीछे छिपी भावनाओं का अंकण करते हैं, उन आवेगों का चित्रण करते हैं जिनका चित्रण इतिहासकारों और दार्शनिक पंडितों के लिए भी अशक्य है। आग की लपटें जो मनुष्य के हृदय से निकल कर शून्य में बिखर जाती हैं, शोक के उच्छ्वास जो वायु में विलीन हो जाते हैं, प्रेम की मस्ती जो बसन्त के साथ विदा हो जाती है, ये सब जीवित इसलिए रहते हैं कि कवि उन्हें समेट कर अपनी मंजूषा में बन्द कर देता है।

बालुका पर मनुज के पदचिह्न जो पड़ते,
ये जुगा उनको भविष्यत के लिए धरते।

(सीपी और शंख)

नेफा के मैदान में जब भारतीय सेना पराजित हो गई, तब उस पराजय के दंश से सारा भारत बेहाल हो उठा और प्रत्येक व्यक्ति अपने आप से यह सवाल

ग्राखिर यह विशाल देश इतनी ग्रासानी से हार क्यों गया ? हमने हथियारों का बन्दो-बस्त क्यों नहीं किया था ? हमारे राष्ट्रीय चरित्र में वह कौन-सा दोष है जो हमें सबल नहीं बनने देता ? हमने यह धोखा कैसे खाया ? क्या हमारी सरकार ग्रसावधान थी ? ग्रथवा हम शान्तिवादी नारों के शिकार हुए हैं ? ग्रथवा दोष हमारे जातीय दर्शन का है ? लेकिन ग्रब हम किस तरह चलें कि ऐसा ग्रपमान हमें फिर कभी झेलना नहीं पड़े ?

राष्ट्रकवि दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' में ये सारे सवाल बारी-बारी से ग्राते हैं ग्रौर राष्ट्र के हृदय में घुमड़ने वाली बेचैनियों को कवि बारी-बारी से ग्रभिव्यक्ति देता है ग्रौर कविता के ग्रन्तिम खण्ड में वह उस मार्ग का भी संकेत करता है जिस पर ग्रारूढ़ हुए बिना भारत सम्मान के साथ नहीं जी सकेगा।

'परशुराम की प्रतीक्षा' कोई पाँच-छह सौ पंक्तियों की कविता है ग्रौर वह पाँच खण्डों में विभक्त है। इस कविता की शैली यह है कि नेफा के मैदान में हमारा हारा हुग्रा सिपाही खड़ा है ग्रौर कवि उससे सवाल करता है तथा वह पराजित सैनिक कवि को उत्तर देता है। सिपाही से कवि का पहला ही सवाल इतना तीखा है कि वह हमारी तत्कालीन रक्षा-व्यवस्था पर प्रश्न-चिह्न बन जाता है।

गरदन पर किसका पाप वीर, ढोते हो ?
शोणित से तुम किसका कलंक धोते हो ?

ग्रौर इस प्रश्न के उत्तर में सिपाही जो कुछ कहता है उससे उस विचारधारा पर करारी चोट पड़ती है जिसे लेकर भारत उस समय चल रहा था। सिपाही कहता है, हाय, मैं उनका पाप ढो रहा हूँ जिनके हृदय में ग्रसीम करुणा थी, जिनके भीतर न तो जवानी की ग्राग थी, न कोई जहर था, जो लोग सस्ती कीर्ति पाकर खुशी से फूल गए थे ग्रौर जो ऐसे ग्रादर्शों पर ग्रासक्त थे जो निर्वीर्य ग्रौर निस्सार हैं। तथा

गीता में जो त्रिपिटक-निकाल पढ़ते हैं,
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं।
शीतल करते हैं ग्रनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म ग्रजा का।
सारी वसुंधरा में गुरुपद पाने को,
प्यासी धरती के लिए ग्रमृत लाने को,
जो संत लोग सीधे पाताल चले थे,
(ग्रच्छे हैं ग्रब, पहले भी बहुत भले थे।)
हम उसी धर्म की लाश यहाँ ढोते हैं,
शोणित से संतों का कलंक धोते हैं।

इस सिपाही के ग्रनुसार भारत की पराजय इसलिए हुई कि व्यवहार को भूलकर वह ग्रादर्श ग्रौर कल्पना में खो गया था। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जातियों के सामने जब भी बहुत बड़े ग्रादर्श ध्येय के रूप में रखे जाते हैं जातियाँ विनष्ट हो जाती हैं। राष्ट्[illegible] दिनकर का कहना है कि जो जाति ग्रपने ग्रापद्धर्म का पालन नहीं कर

सकती, उसका परम धर्म आप से आप विनष्ट हो जाता है। उच्चतर मनुष्यता सचमुच ही श्लाघ्य और काम्य है। किन्तु, यह आदर्श पर्वत की चोटी पर अवस्थित है। लेकिन इस चोटी की ओर जो राह जाती है, वह हिंस्र जन्तुओं से भरी हुई है। अतएव, उच्चतर मानवता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी सामान्य मानवता सुदृढ़ और ठोस हो। परम धर्म की प्राप्ति हम आपद्धर्म के जरिये करते हैं। अर्थात् उच्चतर शृंग पर वही मनुष्य पहुँच सकता है जिसमें यह शक्ति हो कि वह रास्ते में मिलने वाले हिंस्र जन्तुओं के झपट्टों से अपने को बचा सके।

हैं खड़े हिंस्र वृक, व्याघ्र, खड़ा पशुबल है,
ऊँची मनुष्यता का पथ नहीं सरल है।
ये हिंस्र साधु पर भी न तरस खाते हैं,
कंठी-माला के सहित चबा जाते हैं।
जो वीर काटकर इन्हें पार जाएगा,
उत्तुंग शृंग तक वही पहुँच पाएगा।

नेफा की लड़ाई का सबसे कारुणिक पक्ष यह है कि बिना किसी तैयारी के हमारे नौजवान उस युद्ध में झोंक दिये गए थे। उस समय यह अफवाह देश में सर्वत्र सुनी जाती थी कि हमारे सिपाहियों के हाथ में जो बन्दूकें थीं वे महज मामूली किस्म की थीं और उनके पास गोलियाँ काफी तादाद में नहीं थीं। घायल सिपाहियों का एक दल जब मैदान से लौटा तो इलाज के लिए उसे दानापुर (पटना) के अस्पताल में रखा गया। उन सिपाहियों का अभिनन्दन करने को जनता मिठाइयाँ और पुष्पाहार लेकर दौड़ी। लेकिन, सिपाहियों ने कहा, "ये फूल मिठाइयाँ क्यों लाए हो! अगर हो सके तो हमें बन्दूकें और गोलियाँ लाकर दो जिससे हम दुश्मन के अहंकार को चकनाचूर कर सकें।"

इसी पृष्ठभूमि को याद रखते हुए कवि ने सिपाहियों से दूसरा सवाल यह पूछा है कि हे वीर, तुम्हारी हत्या का दायित्व किस पर है? वह कौन है, जिसे हम तुम्हारे वध के लिए जिम्मेदार मान सकते हैं?

सिपाही कहता है, हम दुश्मन से नहीं हारे हैं। पराजय हमारी अपने ही घर में हुई है। जिस देश के शासक न्याय बुद्धि से काम नहीं लेते, भाई-भतीजों को आगे बढ़ाने के लिए गलत नीति अख्तियार करते हैं, जिस देश के राजनीतिज्ञ लोभ के मारे सत्य नहीं बोल सकते, जिस देश के सत्ताधारी चारों ओर ठगों का पक्ष लेते हैं तथा चाटुकारों को अपना मित्र समझते हैं, जिस देश में आत्मबल की मिथ्या प्रशंसा के लिए बाहुबल की उपेक्षा की जाती है, जिस देश के नेता केवल शान्ति की बातें बोलते हैं और जिसके कवि धरती को छोड़कर आकाश में उड़ान भरते हैं, वह देश लड़ाई में कभी भी विजयी नहीं हो सकता।

घातक है जो देवता-सदृश दिखता है,
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है।

चोरों के हैं जो हितू, ठगों के बल हैं,
जिनके प्रताप से पलते पाप सकल हैं,
जो छल-प्रपंच सब को प्रश्रय देते हैं,
या चाटुकार जन से सेवा लेते हैं,
यह पाप उन्हीं का हमको मार गया है,
भारत अपने घर में ही हार गया है।

जिसके देश शासन में विलासिता, आलस्य और कदाचार हों, उस देश की सेना युद्ध में विजय नहीं पाती है। लड़ाई जीतने की जिम्मेवारी केवल फौजियों की नहीं होती। लड़ाई जीतने के लिए शासन को निष्कपट और शुद्ध होना पड़ता है तथा सभी लोगों को कठोर जीवन बिताना पड़ता है। जिस समय मोर्चों पर गए हुए जवान अपना रक्त बहा रहे हों, उस समय देश के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को उस रुधिर का मूल्य अपने स्वेद से चुकाना चाहिए। नेफा का सिपाही कहता है कि राजों, व्यापारियों और मजदूरों से कहो कि वे अपने पापों का बोझ हम पर नहीं डालें। जनता से कहो कि वह अपने संकल्प को अटल बनाये और शासकों से कहो कि वे न्यायशील हों। अगर शासन में पवित्रता नहीं आई तथा अयोग्य व्यक्ति योग्य व्यक्तियों को ढकेल कर आगे बढ़ते गये तो इस देश को युद्धों में विजय कभी भी नहीं मिलने वाली है।

हम देंगे तुमको विजय, हमें तुम बल दो
दो शस्त्र और अपना संकल्प अटल दो।
हों खड़े लोग कटिबद्ध वहाँ यदि घर में,
है कौन हमें जीते जो यहाँ समर में?
हो जहाँ कहीं भी अनय, उसे रोको रे!
यदि करें पाप शशि-सूर्य उन्हें टोको रे!
तामस बढ़ता यदि गया ढकेल प्रभा को,
निर्बन्ध पंथ यदि मिला नहीं प्रतिभा को,
रिपु नहीं, यही अन्याय हमें मारेगा,
अपने घर में ही फिर स्वदेश हारेगा।

कविता का तीसरा खण्ड, कवित्व की दृष्टि से कदाचित् सर्वश्रेष्ठ है। इस खण्ड में भारत के उन सभी वीरों का आह्वान किया गया है जिन्होंने भारत के गौरव की रक्षा के लिए कभी तलवार उठाई थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी महाराज, बन्दावीर और लक्ष्मीबाई तथा सुभाष चन्द्र बोस और भगतसिंह का आह्वान कवि ने ऐसी भावाकुलता से किया है कि उसे पढ़कर एक बार भुजाएँ फड़क उठती हैं। किन्तु, इस खण्ड में इतनी ही बातें नहीं हैं। कवि कहता है, भारत कोई साधारण देश नहीं है। कसूर उसका यह है कि उसने शरीर-बल की उपेक्षा करके अपना सारा ध्यान आत्मा पर केन्द्रित कर दिया है। इसीलिए [illegible]के असुर भारत पर उसी प्रकार हँसते हैं जैसे पुरा काल में दानव देवताओं पर हँसा[illegible]ते थे। आव[illegible]कता इस बात की है कि हम आत्मा के साथ-साथ अपने शरीर का भी

विकास करें। जिस दिन भारत के बाहुबल का सम्यक् विकास हो जाएगा, उस दिन कोई भी देश भारत का अपमान नहीं कर सकेगा। भारत का पाप उसकी नकली अहिंसा और नकली वैराग्य है। भारत की अभी तुरन्त की आवश्यकता यह है कि वह बाहुबल से भांति सज्जित हो जाय।

जब हृदय-हृदय पावक से भर जायेगा,
भारत का पूरा पाप उतर जायेगा,
देखोगे, कितना प्रलय चंड होता है,
असिवन्त हिन्द कितना प्रचंड होता है।
बाहों से हम अंबुधि अगाध थाहेंगे,
धंस जायेगी यह धरा अगर चाहेंगे।
तूफान हमारे इंगित पर ठहरेंगे।
हम जहाँ कहेंगे, मेघ वहीं घहरेंगे।

भारत इतिहास के एक खास दौर से गुजर रहा है। हम अभी कुछ-कुछ नाबालिग-जैसे लोग हैं। इसीलिए हमने यह विश्वास कर लिया कि शांतिवादी देश से कोई भी देश लड़ाई ठानने की बात नहीं सोचेगा। किन्तु, अनुभव हमें यह हुआ है कि जो देश कमजोर होता है, सभी देश उसी से लड़ना चाहते हैं। किन्तु, राष्ट्रकवि ने जो स्वप्न देखा है, वह शायद पूरा होने वाला है सचमुच ही, जिस रास्ते पर हम अब चलने लगे हैं, उस पर चलते-चलते एक दिन वह स्थिति आ जाएगी जब

बाँहों से हम अंबुधि अगाध थाहेंगे,
धंस जायेगी यह धरा, अगर चाहेंगे।
तूफान हमारे इंगित पर ठहरेंगे,
हम जहाँ कहेंगे, मेघ वहीं घहरेंगे।

इस खण्ड में भारत की भौगोलिक एकता का जो चित्र उतरा है, वह भी अत्यन्त भव्य है। कवि ने समान भाव से देश के उत्तरी और दक्षिणी भागों का आह्वान किया है तथा हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक अपनी पुकार उसने एक-सी व्याकुलता के साथ भेजी है।

गरजो हिमाद्रि के शिखर, तुंग पाटों पर,
गुलमर्ग, विंध्य, पश्चिमी, पूर्व घाटों पर,
भारत-समुद्र की लहर, ज्वार-भाटों पर,
गरजो, गरजो मीनार और लाटों पर।
खंडहरों, भग्न कोटों में, प्राचीरों में,
जाह्नवी, नर्मदा, यमुना के तीरों में,
कृष्ण-कछार में, कावेरी-कूलों में,
चित्तौड़-सिंहगढ़ के समीप धूलों में,
सोये हैं जो रणबली उन्हें टेरो रे!
नूतन पर अपनी शिखा प्रबल फेरो रे!

युद्ध में सफलता उसी जाति को मिलती है जिसके कवि, चिन्तक, योगी, [illegible] राजे, योद्धा और व्यापारी, किसान तथा मजदूर, सभी एक लक्ष्य की ओर हो जाते हैं। यदि सारा देश एक होकर शत्रु के विरुद्ध नहीं डटा तो विजय [illegible] हो जाएगी। इसलिए कवि कहता है।

चिंतको, चिंतना की तलवार गढ़ो रे !
ऋषियो, कृशानु-उद्दीपक मंत्र पढ़ो रे !
योगियो, जगो, जीवन की ओर बढ़ो रे !
बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे !
है जहाँ कहीं भी तेज, हमें पाना है।
रण में समग्र, भारत को ही ले जाना है।

और राष्ट्र-रक्षा के इस महान् अभियान में कवि किसी को भी अलग बैठने देने तैयार नहीं है। वह चाहता है कि अशोक आज फिर से खड्ग ग्रहण करे और बुद्ध हिंसा का समर्थन करें क्योंकि प्रश्न आज आध्यात्मिक साधना का नहीं, पूरे भारत-राष्ट्र के जीवन और मृत्यु का है।

पर्वत-पति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा।
असि पर अशोक को मुंड तोलना होगा,
गौतम को जयजयकार बोलना होगा।

कविता का चतुर्थ खण्ड वह है जिसमें सिपाही कहता है कि उसने नेफा के मैदान में जो कुर्बानी दी है, व्यर्थ नहीं जाएगी। हम एक ऐसी विचारधारा में फंस गये थे जो नकली और निस्सार थी। चीन ने गोले फेंक कर हमें जगा दिया है। हम प्रेम की राह से शान्ति-शान्ति करते आ रहे थे, लेकिन चीनी आक्रमण ने हमारे भीतर एक शंका उत्पन्न कर दी। अब, हमारी पराजय में से विजय का मार्ग निकलने वाला है नेफा के मैदान में तोपों के गर्जन के भीतर से असल में भारत के भविष्यत् ने गर्जना की है। भारत का मार्ग बदलने वाला है। वह अब बाहुबल की महिमा पहचान गया है।

कुछ सोच रहा है समय राम में थम कर,
है ठहर गया सहसा इतिहास सहम कर।
सदियों में शिव का अचल ध्यान डोला है,
तोपों के भीतर से भविष्य बोला है।
चोटें पड़ती यदि रहीं, शिला टूटेगी,
भारत में कोई नई धार फूटेगी।

यह नई धारा कौन-सी है, इसका निरूपण कवि ने परशुराम के अवतरण के प्रसंग में किया है। चीनी आक्रमण को कवि इतिहास की बहुत बड़ी घटना मानता है और उसका विश्वास है कि

अंबर में जो अप्रतिम क्रोध छाया है,
पावक जो हिम को फोड़ निकल आया है,

वह किसी भांति भी वृथा नहीं जायेगा,
...मा, ... महावीर आरेगा ।

...ज्वलित-... पुरुषत्व का प्रतीक होगा ...
(रक्षण) ... (संहार) का सम्मिलित अवतार होगा । वह पाप के ...
भौता नहीं करे... र राष्ट्रधर्म की रक्षा के निमित तलवार उठाने में उसे संको... नहीं
होगा । वह अपमान-पीड़ित समाज के हृदय से प्रकट होगा और प्रत्येक व्यक्ति के समर्थन
उसके तेज में वृद्धि होगी । जनता के मस्तिष्क में विद्युत के समान चमकनेवाला भाव
सेउसी महावीर का भाव है । जनता के गर्जन में निनादित होने वाला रोर उसी महापुरुष
के निर्घोष का रोर है । वह जब आवेगा, उसके एक हाथ में कुठार और दूसरे में कुश
...गा अर्थात् वह ब्राह्म और क्षात्र, दोनों ही गुणों का समन्वित प्रतीक होगा ।

गाओ, कवियो, जयगान, कल्पना तानो,
आ रहा देवता जो, उसको पहचानो ।
है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य-पुरुष है ।

कई लोगों ने जहाँ-तहाँ कानाफूसी की है कि दिनकरजी ने जिस परशुराम का आवाहन किया है, वह शायद फौजी तानाशाह (मिलिटरी डिक्टेटर) है । किन्तु, कविता में इस आक्षेप के प्रमाण नहीं मिलते । त्रेता के परशुराम ने भी ... तो बहुत-से जीते थे, लेकिन राजमुकुट उन्होंने कभी नहीं पहना था । राष्ट्रकवि की कल्पना का परशुराम भी शासन का भार संभालने को नहीं आयेगा । इस युग के राजाओं को आश्वस्त करते हुए नेफा का सिपाही कहता है कि,

मत डरो, संत वह मुकुट नहीं मांगेगा,
धन के निमित्त वह धर्म नहीं त्यागेगा ।
तुम सोओगे, तब भी वह ऋषि जागेगा,
ठन गया युद्ध तो बम-गोले दागेगा ।

परशुराम की कल्पना वीर ऋषि की कल्पना है । वह एक विचारधारा का प्रतीक है । और यह विचारधारा सर्वथा नवीन नहीं है । वह भारत के व्यक्ति व्यक्ति के हृदय में घुमड़ रही है ।

यह वज्र वज्र के लिए, सुमों का सुम है,
यह और नहीं कोई, केवल हम तुम है ।
यह नहीं जाति का, न तो गोत्र-बंधन का,
आ रहा मित्र भारत भर के जन-जन का ।

जातियों के अहंकार पर जब चोट पड़ती है, तब उनके भीतर अहंकार की अपेक्षा किसी अधिक बड़ी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । भारत के अंहकार पर जो चोट पड़ी है, उससे भारत अकुला कर जागेगा और अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह सर्वस्व होम देगा । अपमान के प्रक्षालन और स्वाभिमान की रक्षा के लि... भारत के हृदय से जो शक्ति प्रकट होने वाली है, उसी का नाम परशुराम है ।

जब किसी जाति का अहं चोट खाता है, [illegible] चिन्त
पावक प्रचंड होकर [illegible] तथा [illegible] है, सभी [illegible] की
यह वही चोट खाये स्वदेश का बल है, [illegible] नहीं डटा [illegible]
आहत भुजंग है, सुलगा हुआ अनल है।
विक्रमी रूप नूतन अर्जुन-जेता का
आ रहा स्वयं यह परशुराम त्रेता का।
यह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है,
यह और नहीं कोई, विशुद्ध भारत है।
पापों पर बन कर प्रलय-बाण छूटेगा,
यह क्लीव-धर्म पर बाज-सदृश टूटेगा।
जो रुष्ट खड्ग से हैं, उनसे रूठेगा,
कृत्रिम विभाकरों का प्रकाश लूटेगा।

इस परशुराम से भय केवल उन्हें होगा जो अहिंसा की दुहाई देकर अपनी कायरता को छिपा रहे हैं, जो सूर्य के स्थान पर नकली सूर्य बन कर चमक रहे हैं और जनता को जो इन्द्रधनुष की सुन्दरता इशारों से दिखाते हैं, उस इन्द्रधनुष तक पहुँचने का रास्ता नहीं बना सकते। किन्तु, परशुराम ?

रह जायेगा वह नहीं ज्ञान सिखला कर,
दूरस्थ गगन में इन्द्रधनुष दिखला कर।
वह लक्ष्य-बिन्दु तक तुमको ले जायेगा,
उंगलियाँ थाम मंजिल तक पहुँचायेगा।

परशुराम, असल में, एक स्वप्न है, एक विचार है, भारतीय इतिहास का एक मोड़ है। वह गुरु भी हो सकता है, तानाशाह भी हो सकता है और भारत का प्रत्येक व्यक्ति भी हो सकता है।

कविता का पाँचवाँ खण्ड वह है, जिसमें परशुराम के जीवन-दर्शन और उनकी शिक्षाओं का निरूपण किया गया है। संक्षेप में इस दर्शन का स्वरूप यह है कि पाँच तत्वों में से सब से प्रमुख तत्व वह्नि है। सत्य वही ग्राह्य है जो उद्दीपन सिखाता हो, सुख के वर्जन का विरोध करता हो। जो सत्य वैरागी का सत्य है, जिस सत्य में राख लिपटी हुई है, उस सत्य को मनुष्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

जो सत्य राख में सने, रूक्ष, रुठे हैं,
छोड़ो उनको, वे सही नहीं, झूठे हैं।

राधाकृष्णन ने कहीं कहा है कि यूरोप के लोग तो जीवन का उपभोग कर रहे [illegible]न्तु पूरब के लोग अभी अंधकार में जीवन का अर्थ ही खोज रहे हैं। भारत ने भी परलोक का ध्यान करते-करते इस लोक को गंवा दिया। परशुराम भारत का आदर्श बदलना चाहते हैं। उनकी शिक्षा यह है कि आदर्श जीवन योगियों का नहीं, विजयी का होता है। अतएव, भारतवासियों को वैराग्य छोड़कर बाहुबल का भरोसा करना चाहिए।

भालो,

कालो ।

एँ तोड़ो,

न्द्रमाओं ... पकड़ निचोड़ो ।

चढ़ तुंग शैलशिखरों पर सोम पियो रे !

योगियों नहीं, विजयी के सदृश जियो रे !

उपशम, वैराग्य, शान्ति, विनय और अक्रोध की उपासना करते-करते संसार में भारत का वही हाल हो गया, जो हाल ग्रामों में पुरोहितों का होता है। गाँव का पुरोहित सबसे निर्धन और सब से कमजोर होता है। गाँव के लोग पुरोहित को प्रणाम तो अवश्य करते हैं, किन्तु समादृत होने पर भी पुरोहित दुर्बल ही रह जाता है। यही हाल संसार के बीच भारत का भी है।

उपशम को ही जो जाति धर्म कहती है,
शम, दम, विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है,
धृति को प्रहार, क्षान्ति को वर्म कहती है,
अक्रोध, विनय को विजय-मर्म कहती है,
अपमान कौन जिसको वह नहीं सहेगी ?
सब को असीस सब का बन दास रहेगी।

परशुराम का कहना है कि आत्मा के आवास के लिए भी शरीर को ... होना चाहिए, धर्म के पालन के लिए भी मनुष्य को शरीर से शक्तिशाली होना चाहिए। जो दुर्बल और क्षीण है, उनके लोक और परलोक, दोनों नष्ट हो जाते हैं।

पर, जब कुठार की धार क्षीण होती है,
स्वयमेव दर्भ की श्री मलीन होती है।

कुठार शौर्य और दर्भ धर्म के प्रतीक हैं। भारत का शौर्य जब से क्षीण होने लगा, तभी से उसका धर्म भी मलिन होता आ रहा है।

शांति के विषय में परशुराम का विचार है कि वह केवल शांति-शांति चिल्लाने से नहीं आयेगी। सोचना यह होगा कि जो लोग विश्व-जनमत की उपेक्षा करके लड़ाइयाँ छेड़ने को तैयार हैं, उनके साथ हमें क्या बर्ताव करना चाहिए। परशुराम भारतवासियों को किसी भी भुलावे में रखना नहीं चाहते। उनकी सीधी सलाह है।

एक ही पन्थ, तुम भी आघात हनो रे !
मेषत्व छोड़ मेषो, तुम व्याघ्र बनो रे !
एक ही पन्थ अब भी जग में जीने का,
अभ्यास करो छागियो, रक्त पीने का।

परशुराम की दृष्टि में शान्तिवाद बिलकुल निरापद आन्दोलन नहीं है। ये आन्दोलन किसी न किसी शस्त्र-सुसज्जित देश से उठते हैं और उनका लक्ष्य यह होता है कि ... संसार के देश हमारी हिंसा का समर्थन तथा दूसरों की हिंसा का विरोध ... वादी आन्दोलन का कभी-कभी यह लक्ष्य भी होता है कि पड़ोस के दे...

...जोर
प्रासवना

...ए परशुराम क... का अहं चोट खाता है, ... चिन्त

जब श... से ... तथा भा ... सभी ... की
किसने आशी... म नहीं ... का ..ड़ ... नहीं डटा ते
पर हाय, धर्म यह भी धोखा है, छल है,
उजले कबूतरों में भी छिपा अनल है।
पंजों में इनके धार धरी होती है,
कइयों में तो बारूद भरी होती है।

परशुराम की शिक्षा व्यावहारिक धर्म की शिक्षा है। उस शिक्षा का सार यह है कि यज्ञ करते समय भी यज्ञशाला में बन्दूक तैयार रखनी चाहिए अन्यथा राक्षस यज्ञ को नष्ट करके यजमान और पुरोहित, दोनों को निगल जा सकते हैं। खास कर देश आकार में बड़े हैं, उन्हें कमजोर रहने का अधिकार नहीं है। अगर वे दु... कमजोर रहेंगे, तो उनकी दुर्बलता ही आक्रमण को निमंत्रण देगी और विश्वशांति ... बाधा पहुँचायेगी।

वे देश शान्ति के सबसे शत्रु प्रबल हैं,
जो बहुत बड़े होने पर भी दुर्बल हैं,
हैं जिनके उदर विशाल, बाँह छोटी है,
भोथरे दाँत, पर जीभ बहुत मोटी है।
औरों के पाले जो अलज्पलते हैं,
अथवा शेरों पर लदे हुए चलते हैं।

हिंसा-अहिंसा के द्वन्द्व में दिनकर जी ने बराबर व्यावहारिक धर्म का समर्थन किया है और यद्यपि प्रशंसा उन्होंने महात्मा गांधी की भी लिखी, किन्तु, अपने मध्यम मार्ग पर वे सदैव एक समान अटल रहे हैं। अपना चुनाव उन्होंने अपने कवि जीवन के आरम्भ में ही कर लिया था। हिमालय की रचना उन्होंने सन् १९३३ ई० में की थी जिसमें आवश्यकता उन्होंने युधिष्ठिर नहीं, अर्जुन और भीम की बताई थी।

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गाण्डीव गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

किन्तु चीनी आक्रमण के समय अर्जुन और भीम यथेष्ट नहीं रहे। उस समय ...र की आत्मा अपना लक्ष्य परशुराम को बनाना चाहती थी, अतएव, राष्ट्रकवि ने ... चित्र देश के सामने उपस्थित कर दिया। 'परशुराम की प्रतीक्षा' कवि ... नहीं, भारतीय जनता के हृदय की आकुल पुकार है। और इस कविता ... जितना भी किया जाय, उसका प्रभाव देश की विचारधारा पर पड़ता

बदलने...
होता है...
चाहिए।